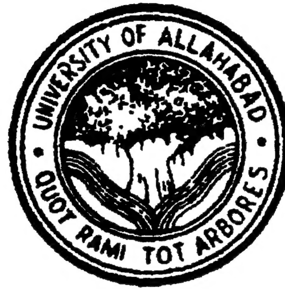
अद्वैत वेदान्त में मनन की भूमिका

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र विभाग से
डी० फिल्० उपाधि
की अभिप्राप्ति में अभिप्रेरित

शोध-प्रबन्ध



पर्यवेक्षक
प्रो० जे०एस० श्रीवास्तव
पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्ता
ऋचा श्रीवास्तव

दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002



UNIVERSITY OF ALLAHABA
ALLAHABAD-211002

Dated : 04-12-02

CERTIFICATE

This is to certify that the research work embodied in this dissertation entitled “अद्वैत वेदान्त में ‘मनन’ की भूमिका” is the original work of the candidate Smt. RICHA SRIVASTAVA, and is suitable for the award of D.Phil. Degree in Philosphy Deptt. of the University of Allahabad. The candidate has fulfilled the requirements of attendence and other formalties.

We, wish her all success.

Dr. (Smt.) M.R. Prakash
[redacted] HOD.
Philosphy Deptt.
Allahabad University

Prof. J.S. Srivastava
Ex. Prof & HOD.
Philosphy Deptt.
Allahabad University

पुरोवाक्

कुछ भारतीय और पाश्चात्य विचारकों ने भारतीय दर्शन की आलोचना करते हुए कहा है कि भारतीय दर्शन पूर्णतया श्रुति पर आधारित है, तर्क श्रुति का सहायक मात्र है। भारत में दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार कभी भी स्वतंत्र चिन्तन नहीं रहा। दर्शन का विकास मात्र श्रुति के भाष्यों के रूप में होता रहा। स्वतंत्र तर्कणा के आधार पर भौतिक सिद्धान्तों को कभी भी प्रतिष्ठित नही किया गया। यहां दर्शन का आधार सदैव विश्वास रहा, बुद्धि नहीं। यहां सच्चे दार्शनिक उत्पन्न ही नहीं हुए, अपितु भाष्यकार ही उत्पन्न हुए। यहां की दर्शन परम्परा अबौद्धिक होने से निराशावाद को ही प्रस्तुत करती है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उपरोक्त आक्षेपों से उत्पन्न जिज्ञासा को शान्त करने का एक प्रयास है। **प्रश्न है कि क्या तर्क या मनन का अविष्कार पाश्चात्य दर्शन में ही हुआ है (तर्कबुद्धिवाद)? क्या दर्शन की नींव में स्वतंत्र चिन्तन का कोई योगदान नहीं है क्या श्रुतियों की व्याख्या में मनन (तर्क) का कोई स्थान नहीं है ?**

सम्भवत: अद्वैत दर्शन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता आत्मा एवं ब्रह्म की अन्तत: एकता है। शंकराचार्य ने इस मूलभूत तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए अपना समस्त मनन (तर्क) और दूसरे सभी संभव साधनों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया है। इसमें संदेह नहीं कि शंकर ने समस्त संसार एवं निरपेक्ष अस्तित्व अर्थात् ब्रह्म में भी अभेद प्रतिपादित किया है, किन्तु यह अभेद आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य जैसा नहीं है। भामतीकार ने कहा है शंकर के अभेद का अर्थ केवल भेद को अस्वीकार करना अथवा संसार की स्वतंत्र सत्ता को नहीं मानना है। वे इन दोनों में तादात्म्य कदापि नहीं मानते है। जब कोई व्यक्ति शंकर के मतानुसार आत्मा और ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति प्राप्त कर लेता

दार्शनिक सम्प्रदायों की अपेक्षाकृत अद्वैत दर्शन की महत्ता संभवतः इसी बात में है कि यह आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य की अपरोक्षानुभूति इसी जीवन में सम्भव मानता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इसके शर्तों का पूरा करें एवं दृढ़ नैतिक संयमों का पालन करें। अपनी आत्मा का इतना उदात्त सम्प्रत्यय किसी अन्य दर्शन में उपलब्ध नहीं होता है। सम्प्रति हमें इसके लिए अपने सत् स्वरूप को देखना होगा इसको देखने के लिए श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन की आवश्यकता है । **मनन श्रवण को पुष्ट करता है एवं निदिध्यासन को अग्रसित करता है।** शंकराचार्य श्रुति का आदर करते हुए उसे अत्यधिक पुष्ट बनाने के लिए तर्क (मनन) का प्रयोग करते हैं। तर्क की पुष्टता विचार को दृढ़ करता है। इसी से वैचारिक स्थायित्व आता है। सामान्यतः दर्शन मतवैषम्यता से भरा हुआ है। इसे व्यावहारिक एवं कार्यानुरूप बनाने के लिए मतसाम्यता आवश्यक है। यही कारण है कि शंकराचार्य ने मनन द्वारा विरोधी मतों का खण्डन करके स्वमत की पुष्टि किया है। अद्वैतवेदान्तीय तत्वमीमांसा का उद्देश्य मूलतः धार्मिक है। यह व्यावहारिक सत्ता से इसी जीवन में शाश्वत् विमुक्ति है। व्याहारिक सत्ता आत्मा का बन्धन है। आत्मा का बन्धन ही अशुभों की उत्पत्ति का हेतु है। यथार्थतः तथाकथित शुभ अशुभ का एक प्रकार है क्योंकि मानवीय आत्मा को संमोहित करके उसे पृथ्वी तथा इसके आकर्षणों से आबद्ध कर देता है। जो लोग इन आकर्षणों के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जैसे प्रमोहक रूपों के शिकार बन जाते हैं, वे ही निराशावादी बन जाते हैं। शाश्वत् जीवन एवं नित्यानन्द के अतिरिक्त मानवीय आत्मा को कुछ भी (कोई भी सांसारिक वैभव) संतुष्ट नहीं कर सकता। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त मानव प्रत्येक बन्धन से मुक्त होना चाहता है। यथार्थतः मुक्त होने के लिए हमारे सम्पूर्ण त्याग को आत्म ज्ञान से युक्त होना चाहिए आत्मा सत्स्वरूप नित्य, मुक्त शुद्ध असीम, अनन्त, अपरिमेय है, और असीमानन्द, सर्वशक्तिसम्पन्न एवं मुक्ति आदि की साक्षात् मूर्ति है। अन्ततः इसी ज्ञान के द्वारा मुक्ति होती है। इस सम्यक् ज्ञानोपलब्धि में मनन की भूमिका महत्वपूर्ण है। **शोधकर्ता द्वारा ज्ञानोपलब्धि में अद्वैतवेदान्त प्रणीत मनन**

की उपादेयता को दर्शित करने का प्रयास किया है। मनन से समस्त संशयों का नाश हो जाता है तथा साधक में सर्वत्र एक तत्व का अनुभव होता है। ऋग्वेद (दशम मण्डल) में वागाम्भृणी सूक्त में इस एकतत्व के अनुभव का प्रारंभ इस प्रकार हुआ है-

'अहं रूद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरूत: विश्वदेवै:।' (ऋग्वेद 10/125/1)

इसी प्रकार सर्वत्र एक आत्मतत्व का अनुभव करनेवाले ऋषि गौतम वामदेव का एक सूक्त है-

'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्र:।' (ऋग्वेद-4/26/1)

यह ऋग्वेद सूक्त श्री महर्षि वादरायण व्यासविरचित ब्रह्मसूत्र द्वारा पल्लवित, श्री गौड़पादाचार्यविरचित माण्डूक्यकारिका द्वारा पुष्पित एवं श्री शंकराचार्य प्रणीत भाष्य द्वारा सुफलित दर्शनमूर्धन्य अद्वैत दर्शन का मूल स्रोत है। अद्वैत प्रतिपादानार्थ श्रवण एवं मनन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध **'अद्वैतवेदान्त में मनन की भूमिका'**- को सम्यक्रूपेण निरूपित करने के लिए सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध को नौ अध्यायों में विभुक्त किया गया है। **प्रथम अध्याय** परिचयात्मक है जिसमें अद्वैत वेदान्त की पद्धतियों के अध्ययन की आवश्यकता को स्पष्ट किया गया है। **द्वितीय अध्याय** में भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में मनन की प्रासंगिकता को दर्शाया गया है। **तृतीय अध्याय** में अद्वैत वेदान्त में मनन के स्वरूप एवं अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत मनन का स्वरूप, अभिप्राय, मनन एवं प्रमाण, श्रुति तथा लौकिक अनुभव, युक्ति एवं श्रुति के स्वरूप को दर्शाया गया है। **चतुर्थ अध्याय** में अद्वैतवेदान्त के ज्ञान मार्ग (श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन) का निरूपण किया गया है। इसके अन्तर्गत महादेवानन्द सरस्वती की कृति अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ में उल्लेखित पूर्वपक्ष जिसके अनुसार श्रवण विधिसम्मत नहीं है का निराकरण किया गया है। इसी में श्रुति एवं मनन के समन्वयात्मक स्वरूप को दर्शाया गया है। यह भी दर्शाया गया है कि क्या शंकर का परमतत्व **श्रुतियों का सही एवं आलोचनात्मक निष्कर्ष है? पंचम अध्याय** मे

अद्वैत वेदान्त की मनन प्रणाली को निरूपित किया गया है । **षष्ठ अध्याय** में विरोधी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के मन्तव्यों का मनन द्वारा खण्डन दिखलाया गया है। इसमें सांख्य, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, जैन इत्यादि विरोधी दार्शनिक सम्प्रदायों के अद्वैत विरोधी सिद्धान्तों की मनन-विधि द्वारा समीक्षा की गयी है। **सप्तम अध्याय** में अद्वैत- वेदान्त की प्रमाण--मीमांसा और मनन की भूमिका के मण्डनात्मक प्रयोग को दिखाया गया है जिसके आधार पर परमतत्व के स्वरूप का निर्धारण अद्वैत वेदान्त में हुआ है। **अष्टम् अध्याय** में अद्वैत वेदान्त में मनन की स्वमत प्रतिपादन में भूमिका को निरूपित किया गया है जिसमें मायावाद की तर्किक अनिवार्यता दिखलायी गयी है। **नवम अध्याय** उपसंहार का है जिसमें शोध का निष्कर्ष स्पष्ट किया गया है। इसक अन्तर्गत भावी शोध हेतु सुझाव भी दिए गए हैं। अन्त में संदर्भ ग्रंथ सूची उल्लिखित की गयी है।

आद्य जगद्गुरू शंकराचार्य इस शोध-प्रबन्ध के सर्वस्व ही हैं। उन्हीं के ग्रंथ रत्नों के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनोपरान्त मुझमें इस गुरूतम किन्तु महत्वपूर्ण कार्य को करने की क्षमता का विकास हुआ है। आचार्य शंकर की कृतिजीवन्तता की महत्ती अनुकम्पा के लिए उनका आभार व्यक्त करने में शोधार्थी अपनी वाणी को असमर्थ पा रही है तथापि उनके चरण कमलों में श्रद्धावनत होकर मैं स्वयं को कृतकृत्य अनुभव कर रही हूं।

मनन एक शाश्वत् एवं अविच्छिन्न मानवीय प्रक्रिया है । अतएव इस विषय पर शोध करके एक निश्चित निष्कर्ष को प्रतिपादित करना वैसे ही है जैसे – 'तिनकों को बनी लघु नौका से सागर को पार करना तथा बौने द्वारा आकाश में फल तोड़ने अथवा पिपिल्लिका के सागर थाहा के समान था, किन्तु मेरे प्रारब्ध का पुण्य एवं स्वचिन्तन का परिणाम है कि इस शोध--प्रबन्ध को विद्वज्जनों के सुधि पटल पर प्रस्तुत कर रही हूँ । विषय के गांभीर्य को देखते हुए ऐसा प्रतीत हो रहा है कि पिपीलिका ने सागर में प्रवेश कर लिया है, लेकिन अभी उसको थाह कर समुद्र को पार करना अवशेष रह गया है ।

श्रुतिमयी, ममतामूर्ति, परमादरणीया माताजी **श्रीमती रूक्मिणी श्रीवास्तव**

डॉ0 जे0एस0एल0श्रीवास्तव ने जिस आत्मीयता से अपना अमिट वात्सल्य प्रदान किया है, वह स्नेहिल एवं पूजनीय है । इन लोगो के बिना न तो मेरे शैक्षिक जीवन की पूर्णता ही सम्भव थी न ही शाध की कल्पना। इन्हें शतशः नमन ।

इ0वि0वि0 दर्शनशास्त्र विभाग की विश्व स्तरीय तार्किक परम्परा रही है। इसी परम्परा में स्वनामधन्य पूज्यवाद स्व0 प्रो0 संगमलाल पाण्डेय (दिवंगत 30 जून, 2002) पूर्व प्रो0 एवं विभागाध्यक्ष दर्शनशास्त्र इ0वि0वि0 का निरन्तर स्मरण कर रही हूँ जिनका स्नेह एवं आर्शावाद मुझे प्राप्त होता रहा था । मैं दिव्याभा के चरणपुंजो में श्रृद्धा सुमन अर्पित करना अपना स्वकर्तव्य समझती हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध के निदेशक परम श्रद्धेय गुरूवर प्रो0 जगदीश सहाय श्रीवास्तव (पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष दर्शन शास्त्र विभाग इ0वि0वि0) जो अद्वैत वेदान्त के शीर्ष विद्वानों में स्थान रखते हैं, के असीम अनुग्रह एवं सतत् प्रेरणा का परिणाम है कि प्रस्तुत शोध--प्रबन्ध अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर सका है। उन्हीं के स्तुत्य एवं कुशल निर्देशन में यह जटिल एवं गुरूतर कार्य सम्पन्न सका है, अस्तु मैं इनके प्रति सादर आभार प्रकट करती हूं । परम श्रद्धेय पितृतुल्य गुरूवर प्रो0 रामलाल सिंह (पूर्व प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, इ0वि0वि0) ने अपने कुशल मार्गदर्शन में इस ग्रंथ को तैयार कराने तथा समय-समय पर जटिल गुत्थियों को सुलझाने में जिस उदारता एवं सद्हृदयता का परिचय दिया है वस्तुतः वह अविस्मरणीय है। आदरणीया डा0 (श्रीमती) मृदुला रवि प्रकाश (विभागाध्यक्ष), जो ममत्व की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं, के स्नेहिल व्यक्तित्व को अविस्मृत नहीं किया जा सकता है । शोधकर्त्री इनके प्रति नतमस्तक है। डा0 नरेन्द्र सिंह, डा0 गौरी चट्टोपाध्याय, डा0 जटाशंकर, डा0 हरिशंकर उपाध्याय, श्रीमती डा0 आशालाल प्रभृति विभागीय आचार्यो ने समय-समय पर अपना अमूल्य समय देकर मेरा मार्गदर्शन किया है। मैं इन सभी महानुभावों का सहृद्य आभारी हूँ। ईश्वर शरण डिग्री कालेज के दर्शनशास्त्र के विभागाध्यक्ष डॉ0 स्वयं प्रकाश पाण्डेय का हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ जिनके अपूरणीय सहयोग से यह गुरूतर कार्य सम्पन्न हो सका है ।

मैं, डॉ0 विद्यासागर उपाध्याय जी, डॉ0 रजनीश कुमार पाण्डेय जी, श्री शेष कुमार पाण्डेय जी, श्री शैलेन्दु नाथ मिश्र और श्री **संजीव कुमार दीक्षित** के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनके अमूल्य सहयोग के बिना प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की परिपूर्णता संभव नही थी । अपने व्यस्ततम समयों में मेरे लिये समय निकालकर इन महानुभावों ने जो अमूल्य योगदान दिया है उसे विस्मृत नही किया जा सकता ।

मैं अपने पूज्य पति **श्री राकेश कुमार जी** के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिनके सहयोग के बिना यह गुरुतर कार्य सम्पन्न ही नही हो सकता था। जिनका चतुर्दिक सहयोग सदैव प्राप्त हुआ है।

अन्त में इस शोध-प्रबन्ध के टंकक **श्री प्रेम प्रकाश** और **श्री पंकज कुमार** को धन्यवाद देती हूँ जिन्होनें अत्यन्त परिश्रम एवं मनोयोग से इस शोध-प्रबन्ध की लिपि एवं आवरण-सज्जा को सुसज्जित किया है।

यद्यपि प्रूफ संबंधित त्रुटियों को सुधारने का पूर्ण प्रयास हुआ है तथापि यदि कम्प्यूटर मूल-सुधार में त्रुटि रह गयी हो तो विज्ञ पाठक उसे मानवीय त्रुटि समझकर क्षमा करें, अन्त में शोध-प्रबन्ध के मूल्यांकन का दायित्व विज्ञजनों को सौंपती हूँ - इस अनुरोध के साथ कि प्रूफ संबंधित त्रुटियों को सुधारते हुए इसका अवलोकन करें ।

सादर साभार ।

कार्तिक पूर्णिमा, सम्वत् 2059, शकः 1924

19 नवम्बर, 2002

ऋचा

ऋचा श्रीवास्तव

विषय-सूची

1

वर्तमान अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व

प्रत्येक राष्ट्र की उन्नति का आधार उसकी चिन्तन-व्यवस्था है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के निर्माण में मनन की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि जैसा विचार होता है उसी के अनुरूप राष्ट्र का निर्माण होता है । किसी भी राष्ट्र की परम्परागत चिन्तनशीलता, मननशीलता या विचारशीलता का प्रतिबिम्व उसकी संरचना में दृष्टिगोचर होता है। सौभाग्य से भारतीय ऋषियों. मुनियों, सन्तों तथा समाज-सुधारकों की विशिष्ट एवं प्रकाशमान परम्परा ने समय-समय पर अपने देश के चरित्र-निर्माण के लिये बहुत कुछ किया है। ऐसे मनीषियों में जगत्‌गुरू शंकराचार्य का नाम अत्यन्त गौरवपूर्ण रूप में स्मरण किया जाता है । उन्होंने भारतीय जनमानस की मूलभूत, प्राणशक्ति 'आध्यात्मिकता' को ग्रहण कर अपने अद्वैत-सिद्धान्त की प्रस्थापना की थी । उन्होंने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (पृथ्वी ही परिवार) के भारतीय आदर्श को ब्रह्मात्मवाद के रूप में और अधिक परिष्कृत एवं परिमार्जित करके विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया था । अतः डॉ0 राधाकृष्णन के विचार उनके सम्बन्ध में अत्यत्न उपयुक्त एवं समीचीन है - "एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप में सर्वश्रेष्ठ, शान्त निर्णय तक पहुंचने में तथा व्यापक सहिष्णुता में एक मनुष्य के रूप मे महान् शंकर ने हमें सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी है।[1]"

इस प्रकार शंकराचार्य हमारे सम्मुख केवल मात्र एक दार्शनिक अथवा धर्माचार्य के रूप में ही नहो आते हैं अपितु वे इन दोनों से कहीं अधिक एक

1. डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग -2, राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6 पृ0-660।

तर्कशास्त्री भी हैं । वे दीक्षा गुरू हैं। दीक्षा गुरू प्रेरक, सूचक, वाचक, दर्शक, शिक्षक और बोधक रूप में छः प्रकार के होते हैं । शंकर बोधक गुरू हैं। इसलिए वे जगद्गुरू हैं। उन्होनें अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व द्वारा एक विशिष्ट प्रकार के तर्कशास्त्र को प्रस्तुत करने का गुरुतर कार्य किया हैं । उनका समस्त जीवन इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण है कि महान दार्शनिक सदैव तर्कशास्त्री रहे हैं। डॉ0 राधाकृष्णन के यह उद्गार हमारे कथन की पुष्टि करते हैं, "वे (शंकराचार्य) कोई स्वप्नदर्शी आदर्शवादी नही थे, वरन् एक कर्मवीर कल्पना-विहारी व्यक्ति थे, दार्शनिक होने के साथ-साथ वह एक कर्मवीर पुरूष थे, जिसे हम विस्तृत अर्थो में एक सामाजिक आदर्शवादी कह सकते हैं ।"[1]

आज का युग ज्ञान-विस्फोटक का है । विश्व में चारो ओर ज्ञान-विज्ञान का प्रसार तीव्रगति से हो रहा है । अतः पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्वानों की दार्शनिक विचारधारा पर आधारित दर्शन का विकास करना आज के युग की महती आवश्यकता है । जगद्गुरू शंकराचार्य भारत के ऐसे प्रथम दार्शनिक थे जिन्होने मुक्ति के ज्ञानमूलक होने के सिद्धान्त की स्थापना कर एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया था। अतः उन्होनें अपने जीवन के उत्तरकाल को वेदान्त की शिक्षा के लिये समर्पित कर दिया था । इस प्रकार शंकराचार्य तथा अन्य विचारकों एवं विद्वानों के सम्बन्ध में शैक्षिक अध्ययन उन व्यक्तियों के लिये मूल्यवान, महत्वपूर्ण तथा उपादेय होगें जिन्हें वर्तमान अथवा भविष्य में अथवा विश्व की शिक्षा-व्यवस्था के निर्माण का दायित्व वहन करना है । प्रस्तुत अध्ययन की आवश्यकता एवं महता का निरूपण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है-

1. राष्ट्रीय दृष्टि से -

महापुरूषों, विचारकों तथा मनीषियों का चिन्तन एंव मनन राष्ट्र की अक्षयनिधि होती है । उनका समस्त जीवन एवं कार्य राष्ट्रीय ऐक्य तथा जन कल्याण के लिये होता है । इसलिये जगत्गुरू शंकराचार्य के दार्शनिक एवं तार्किक

1. वही

विचारों में भारतीय आदर्शो, मान्याताओं, प्रेरणाओ एवं सांस्कृतिक मूल्यों का समाहार पाया जाता है । वे अपने युग के न केवल दार्शनिक विचारक थे वरन् उच्चकोटि के शिक्षक भी थे ।[1] धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय एवं शैक्षिक क्षेत्रों को अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व से प्रभावित करनेवाले आचार्य शंकर का तार्किक अध्ययन न केवल दर्शन के शोध-क्षेत्र में मौलिक, कार्य होगा, अपितु राष्ट्रीय विचारधारा के निर्माण में भी योगदान करेगा । यह वैचारिक जगत् में एक नयी उपलब्घि होगी। आज राष्ट्र के विभिन्न वर्गो, सम्प्रदायो तथा धार्मिक समुदायों में व्याप्त असद्भावना तथा असंन्तोष एवं विग्रह की शान्ति के लिये डॉ0 डी0एस0 कोठारी के शब्दो को यहां उद्धृत करना उपयुक्त होगा, "अनेक धर्मोवाले एक लोकतान्त्रिक राज्य के लिये यह आवश्यक है, कि वे सभी धर्मो के सहिष्णुतापूर्ण अध्ययन को प्रोत्साहित करे ताकि उसके नागरिक एक-दूसरे को और अधिक अच्छी तरह समझ सके तथा शान्तिपूर्वक साथ-साथ रह सके ।[2] अतः भारत जैसे विशाल देश में जहां विभिन्न जातियां, विविध धार्मिक विश्वास रखनेवाले तथा अनेक प्रकार मतावलम्बी रहते हैं, शांकर-दर्शन का अध्ययन सभी देशवासियों के मध्य सौहार्द्र एवं विश्वास का सृजन कर सकेगा ।

शंकराचार्य ने जिस वैदिक संस्कृति और संस्कृतिभाषा का अपने जीवनकाल में प्रचार-प्रसार किया था, वही एक ऐसा आधार है जिसके द्वारा कश्मीर से कन्याकुमारी (उत्तर से दक्षिण) अटक से कटक (पूर्व से पश्चिम) तक विस्तीर्ण भारतीय समाज को एकता के सूत्र में बांधा जा सकता है । भारत देश में विभिन्न भाषा-भाषी, विविध आस्थाओं एवं मान्यताओं में विश्वास रखनेवाले तथा पृथक-पृथक प्रदेशों की वेशभूषा पहननेवाले भारतीयों की एकता का सूत्र उनके ग्रन्थों में पाया जाता है -- "जिसने थोड़ी सी भगवद्गीता पढ़ी है, जिसने गंगाजल का कणमात्र पिया है और जिसने एक बार भगवान श्रीकृष्ण की अर्चना की है उसकी यम के यहां क्या चर्चा हो सकती है ? अर्थात् नही ।"[3] उनके

---

1. बलदेव उपाध्याय-श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकडमी, इलहाबाद, द्वितीय संस्करण पृ0 सं0-150-72
2. डॉ0 डी0एस0 कोठारी-शिक्षा आयोग की रिपार्ट (1964-66) शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार प्रथम अध्याय, पृष्ठ सं0 24
3. आद्य जगद्गुरू शंकराचार्य - चर्पटपञ्जरिका
   भगवद्गीता किञ्चिदधीता गंगाजललवकणिका पीता ।
   सकृदपि यस्य मुरारि समर्चा तस्य यमः किं कुरूत चर्चाम् ।।

इस श्लोक में भगवद्गीता एवं भगवान श्रीकृष्ण की अर्चना पर दक्षिण-उत्तर और पश्चिम-पूर्व के सभी निवासी अपने नाना प्रकार के मतभेदों को भुलाकर एक हो जाते हैं । इतना ही नहीं, हम सब जानते है कि नेपाल भौगोलिक तथा राजनैतिक दृष्टि से एक पृथक् प्रभुतासम्पन्न राष्ट्र है, किन्तु वहां के राष्ट्रीय आराध्यदेव भगवान पशुपतिनाथ भारतीयों के लिये अर्चनीय हैं तथा भारत के भगवान् बद्रीनारायण, रामेश्वर और जगन्नाथ भगवान् नेपालवासियों के लिए पूजनीय हैं । यह दोनों देशों के सांस्कृतिक ऐक्य का प्रतीक है । इस प्रकार देशवासियों में उसी आध्यात्मवाद पर विकसित शंकर-दर्शन के अध्ययन द्वारा सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक ऐक्य के आधार देशप्रेम एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का विकास हो सकता है। भारत देश की चारों दिशाओं में जगद्गुरू शंकराचार्य ने वेदान्त की शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने के लिये चारपीठ-उत्तर में ज्योतिपीठ, दक्षिण में श्रृंगेरीपीठ, पश्चिम में शारदापीठ और पूर्व में गोबर्धनपीठ स्थापित किये गये थे । यह उनका कार्य जनशिक्षा तथा राष्ट्रीय एकता दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । उनके द्वारा स्थापित चारो पीठो से भारत माता के भव्य मानचित्र की सृजना हो उठती है । भारत-चीन सीमा विवाद के समय चीन द्वारा हिमालय पर अपना दावा किये जाने पर और उसके द्वारा मैकमोहन रेखा को अस्वीकार किये जाने पर पौराणिक सन्दर्भ तथा संस्कृत के महाकवि कालिदास जैसे कवियो के काव्यों से हिमालय का सीमा प्रहरी के रूप में चित्रण करनेवाले श्लोकों को ढूढ़ा गया था। इस प्रकार आचार्य शंकर की चारो पीठों की स्थापना से भारत राष्ट्र की एकता की पुष्टि होती है। अतः उनके कृतित्व, व्यक्तितत्व, दर्शन एवं शैक्षिक विचारो के अध्ययन से राष्ट्रवासियों तथा अध्ययनकर्ताओं के इसी दिशा में कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होगी ।[1]

1. डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन-प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ0 सं0 321 ।

2. अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से -

आज का विश्व नाना प्रकार की विविधताओं में बंटा हुआ है । विश्व-मानव-समाज में व्याप्त आर्थिक, सामाजिक और राष्ट्रगत वैषम्य के कारण भविष्य के अन्धकारमय होने की सूचना डॉ0 राधाकृष्णन के इस शब्दों में मिलती है, "अपने प्रसिद्ध व्यंगचित्र (कार्टून) में 'अनागत की ओर देखती हुई बींसवी शताब्दी' (द ट्वेन्टिएथ सेंचुअरी लुक्स एट द फ्यूचर) में मैक्स बीरबोस ने दिखाया है कि एक लम्बी , अच्छी वेशभूषा में सज्जित, किंचितनमिति मुद्रा में एक मानवाकृति विस्तृत भू दृश्य (लैडस्केप) के पार एक प्रश्न-चिह्न की ओर देख रही है जो दूरवर्ती क्षितिज पर धूमकेतु की तरह लटका है ।" यह सर्वमान्य तथ्य है कि आज समस्त मानवीय राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति के आधार पर तीन वर्ग बन गए हैं - 1. विकसित देश 2. अविकसित देश और 3. विकासशील देश। इस मानवकृत वर्गीकरण के कारण विश्व में राष्ट्रों के मध्य तनाव, द्वेष तथा शीत युद्ध उत्पन्न हो गया है । परस्पर दोषारोपण एवं असद्भावना के कारण विश्व-शान्ति के लिए किसी भी समय खतरा हो सकता है । विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आनेवाले देश अमेरिका और रूस आदि धन-धान्य-सम्पन्न होकर सभी प्रकार की सुख-सुविधा का स्वयं उपभोग कर रहे हैं; किन्तु अन्य अविकसित तथा अल्प विकसित देशों को सदभावपूर्वक सहयोग देने में अपनी उदारता का परिचय नही देते है । आज मानव-जाति का सबसे बड़ा अभिशाप है - शक्ति सन्तुलन का नष्ट होना । आर्थिक रूप में समृद्ध देशों के पास उपभोग करने के लिए आवश्यकता से अधिक सम्पन्नता है; किन्तु अविकसित और अल्प विकसित राष्ट्रों के पास सर्वथा अभाव एवं कष्ट है ।

विश्व मानव की आधारभूत आवश्यकता का स्वरूप आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक है । आर्थिक आवश्यकताओं का मानव जीवन में कितना

प्राधान्य है यह तो इसी से पता चलता है कि आज आर्थिक आधार पर न केवल मनुष्य का व्यक्तिगत रूप में वर्गीकरण हुआ है बल्कि विश्व के रूप में भी वह विभक्त है । सामाजिक आवश्यकता के अन्तर्गत मानव जगत् की प्रमुख आवश्यकता है - एक विश्व-मानव-समाज का निर्माण करना । मानव-समाज में अनेक प्रकार के छोटे-छोटे समूहों की परिसमाप्ति होकर एक व्यापक मनुष्य समाज की स्थापना होना सदैव से महान् व्यक्तियों का मानव जाति के प्रति प्रयास रहा है । सामाजिकता की दृष्टि से आधुनिक विश्व कितना बौना है । इसका चित्रण डॉ0 राधाकृष्णन के शब्दों में पठनीय है, "आज राष्ट्रों का यह संसार उस चटशाला की तरह जान पड़ता है जो उद्दण्ड, जिद्दी और शरारती बच्चों से कोलाहलपूर्ण हो, जहां के बच्चे एक दूसरे के साथ धक्का-मुक्की कर रहा हों तथा अपनी भौतिक सम्प्रदायो रूपी भारी भरकम भद्दे खिलौनो का प्रदर्शन कर रहे हों।[1]" चिरन्तन काल से ही बौद्धिक आवश्यकता की दृष्टि से विश्व-मानव ने उसके लिये सदैव अपने प्रयत्न को प्रदर्शित किया है । बौद्धिक चिन्तन-मनन एवं विचार मानव की मूलभूत पूँजी रही है । मनुष्य प्रारम्भ से ही विचारशील है, उसकी यही विचारशीलता आज के नाना प्रकार के अविष्कारों, ज्ञान के विस्फोट तथा नये क्षेत्रों में अभूतपूर्व अनुसन्धानों की जननी है।

मनुष्यों का आध्यात्मिमक पक्ष उसकी आध्यात्कि आवश्यकता का निर्धारण करता है । "मनुष्य कोई पौधा या पशु नहीं है, अपितु एक चिन्तनशील और आध्यात्मिक प्राणी है जो अपनी प्रकृति को उच्चतर प्रयोजनो की सिद्धि के लिये नियोजित करता है ।"[2] इस कथन से मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकता का बोध होता है । वह केवल शरीर, मन और वुद्धि का समुच्चय मात्र नही है वरन्

---

1 डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन-प्राच्यधर्म और पश्चात्य विचार राजपाल एन्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ0 सं0 419 ।

2. वही, पृष्ठ सं0 52 ।

चैतन्यविशिष्ट है । अपने अन्दर निहित इसी चेतना के अनुसंधान करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण मनुष्य सदा सचेष्ट रहता है । उसका समस्त प्रयास इसलिये चल रहा है कि वह अपनी चेतना को जाने । यही आध्यात्मिकता का मूलभूत आधार है । अतः डॉ0 राधाकृष्णन ने आध्यात्मिकता को मानवजाति के उच्चतम भाव के रूप मे चित्रित किया है, "आध्यात्मिकता जीवन के अंगों-उपागों सहित उच्च बनाने की आवश्यकता पर जोर देती है ।[1]" इस प्रकार मानव जाति तथा विश्व मानव समाज का उन्नत, उदार एवं सहिष्णुता बनाने का जितना भी प्रयास है सभी आध्यात्मिक आवश्यकता का फल है ।

वर्तमान मानव-समाज में शाश्वत् मूल्यों सत्यं, शिवं सुन्दरं की रक्षा करने का प्रश्न मुख्यतः ग्रहण लगता जा रहा है । आज का मनुष्य भंयकर असंतोष एवं शोक से जर्जर है । उसमें सहिष्णुता तथा उदारता की झलक का लोप होता जा रहा है । परस्पर घृणा, द्वेष तथा अनावश्यक आसक्ति आज के मनुष्य का प्रमुख दुर्गुण बन गयी है । शुद्ध स्वार्थ की भावना से संत्रस्त तथा परस्पर अविश्वास एवं असद्भावना से उत्पन्न भय के कारण आज विश्व मानव शक्ति ने संहारक रूप धारण कर स्वयं को विनाशक बना लिया है । आधुनिक मानव समाज में पोषकता के स्थान पर शोषकता, पालकता के स्थान पर भक्षकता तथा कल्याण के स्थान पर अकल्याण की वृद्धि हो रही है। अतः विभिन्न राष्ट्रो के मध्य प्रतिस्पर्धा, द्वेष तथा घृणा की भावनायें उग्र रूप धारण करती जा रही है। शक्ति संतुलन के भंग होने पर किसी भी समय मानव समाज के विश्व युद्ध के चपेट में आने की समस्त संभावनाएँ भविष्य के गर्भ में पुष्पित-पल्लवित हो रही है । अतः राधाकृष्णन के ये उद्‌गार आधुनिक संदर्भ में कितने सार्थक है, "पृथ्वी को जो वरदान प्राप्त हुये थे, वे आज ईर्ष्या, अंहकार, लोभ, मूढ़ता और स्वार्थ के कारण

---

1. डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, वही पृ0 सं0 77 ।

अभिशाप में परिणत हो गया है । आज मनुष्य का जो रूप है, उसको देखते हुये लगता है कि वह जीने के योग्य नही है । उसे या तो परिवर्तन के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये या विनाश का संकट मोल लेना चाहिये ।[1]"

उपर्युक्त अनपेक्षित परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के निराकरण में शंकराचार्य के दर्शन की महती उपयोगिता, महत्ता तथा आवश्यकता हैं । शंकराचार्य का मूल-भूत सिद्धान्त अभेदवाद है । उसमें किसी प्रकार की विभिन्नता, भेद अथवा पृथकता के लिये स्थान नही है। अतः मानवीय समाज में परस्पर स्नेह, सहानुभूति, सौजन्य एवं सामन्जस्य स्थापन के लिये घृणा आदि के आधारभूत तत्वों का निराकरण शांकर-दर्शन में किया गया है, "सभी प्रकार की घृणा अपने से भिन्न किसी दूषित पदार्थ को देखनेवाले पुरूष को ही होती है, जो निरन्तर अपने अत्यन्त विशुद्ध आत्म स्वरूप को देखनेवाला है, उसकी दृष्टि में घृणा का निमित भूत कोई अन्य पदार्थ है ही नही, यह बात स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। इसीलिये वह किसी से घृणा नही करता है ।"[2]

इस प्रकार शांकर दर्शन ऐसे मानव के निर्माण का उद्देश्य लेकर प्रवृत्त होता है जिसमें मनुष्य को उदारता, सहिष्णुता तथा सौजन्यता की पराकाष्ठा का विकास करना होता है । शंकाराचार्य के अनुसार मनुष्य वस्तुतः आध्यात्मिक प्राणी है । मूलतः वह परमसत्ता का ही रूप है । यही उनका वास्तविक स्वरूप है । इसी की प्राप्ति मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है ।[3] अतः डॉ0 राधाकृष्णन् ने उचित ही कहा है, "जो लोग आध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध है, उनको इस बात से बहुत घृणा होती है कि हम जातिवाद और राष्ट्रवाद के नाम पर अपनी निम्न लालसाओं का प्रयोग दूसरों को डराने, धमकाने, लूटने और ठगने के लिये करें

1. डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, वही पृ0 सं0 62 ।
2. "ईशावास्योपनिषद् (मं 6 शा0भा0,) गीता प्रस गोरखपुर, पृ0 27 ।
3. (ब्रह्म-सूत्र शां0 भा0 1-1-1-1 गोविन्द मठ, टेढ़ीनीम वाराणसी, वही पृ0 सं0 29) ।

और यह सब कुछ इस भावना के साथ कि हम जो कुछ कर रहे हैं बहुत ठीक कर रहे हैं, हम बिल्कुल दूध के धोए हैं और ईश्वर का ही कर्म कर रहे हैं।"[1]

समस्त विश्व में मानव-जाति को ऐक्य के सूत्र में आबद्ध करना आधुनिक युग की महती आवश्यकता है । अतः ऐसा दर्शन, विचार-पद्धति, जीवनचर्या अथवा, शिक्षा-विधि एवं मनन आज विश्व के लिये उपादेय एवं महत्वपूर्ण है जिसके द्वारा समस्त मानव अपने नाना प्रकार के भेदों को समाप्त करके ऐक्यानुभूति कर सके । इस सन्दर्भ में भी डॉ0 राधाकृष्णन् के शब्द उल्लेखनीय है, "हम शान्ति की कीमत विश्व मे चुकाने के लिये तैयार नही हैं । शान्ति की कीमत है - साम्राज्यों और उपनिषदों का त्याग, आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति का परित्याग, जाति एकता और विश्व समाज के लिये स्वतन्त्रता तथा निष्ठा के आधार पर विश्व की पुनर्व्यवस्था।"[2] इस कार्य को भगवान् शंकराचार्य के दर्शन से प्रोत्साहन मिलेगा । अतः बलदेव उपाध्याय का यह कथन उपयुक्त ही है, "शांकर वेदान्त की शिक्षा का चरम अवसान है- 'वसुधैव कुटुम्बकम्' । समस्त संसार को अपना कुटुम्ब समझना तथा इस आदर्श के अनुसार चलना । आज क्षुद्र स्वार्थ की भावना से त्रस्त तथा परास्त मानव-समाज के कल्याण के लिये वेदान्त की मनन-पद्धति कितनी अृमतमयी है, यहां उसके विशेष उल्लेख की आवश्यकता नहीं। आज के पश्चिमी संसार विशेषतः अमेरिका में वेदान्त के प्रचुर प्रचार का रहस्य इसी अलौकिक उपदेश के भीतर छुपा है ।"[3]

3. शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से :

शिक्षा और दर्शन में अटूट सम्बन्ध है। वे एक-दूसरे पर आश्रित हैं। दोनो का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इसीलिये प्रत्येक दार्शनिक की विचारधारा

---

1. डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन वही 1970, पृष्ठ 47-48 ।
2. डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन वही - 1970, पृ0 सं0 420 ।
3. आचार्य पं0 बलदेव उपाध्याय - भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी, पृ0-384

उसके शिक्षा-दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री जैम्स रास के शब्दों में "दर्शन और शिक्षा एक सिक्क के दो पहलूओं के समान है । इनमें दर्शन विचारात्मक पहलू है और शिक्षा क्रियात्मक पहलू है ।"[1] यह प्रतिध्वनित होता है कि प्रत्येक दार्शनिक का शिक्षा से गहरा सम्बन्ध होता है । अतः शिक्षा के इतिहास के अध्ययन का यह निष्कर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है कि विश्व के विचारक अपने जीवन के उदयकाल में दार्शनिक थे और उत्तर काल में शिक्षाशास्त्री हो गए । जगद्गुरू शंकराचार्य के जीवन का पूर्वार्द्ध (सोलह वर्ष) एक विचारक अध्येता के रूप में उनकी जीवन-चरित्र में देखने को मिलता है, किन्तु उनके जीवन का उत्तरार्द्ध (16 वर्ष-32 वर्ष) उन्हें एक महान शिक्षाशास्त्री के रूप में कार्य करने की अद्भुत प्रेरणा देता है जिसके फलस्वरूप उन्होंने जीवन के उत्तर काल में अपने जगत-प्रसिद्ध अद्वैत सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप प्रदान कर एक विशिष्ट शिक्षा-दर्शन की सृष्टि की । आज तक शंकराचार्य पर जितने अध्ययन हुऐ हैं, शोध के सर्वोत्तम ज्ञान के आधार पर उनमें उनका केवल दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट किया गया है । उनके जीवन के उत्तरकाल से सम्बद्ध दूसरे शैक्षिक पक्ष की सदैव उपेक्षा की जाती रही है । एक प्रकार से विद्वानों, विचारकों तथा शोधकर्त्ताओं ने अपने अध्ययन क्षेत्र को शंकराचार्य के जीवन-काल के पूवार्द्ध तक ही सीमित रखा है जबकि उनके दार्शनिक विचारों में शैक्षिक चिन्तन भी समाहित है । इस प्रकार उनके शैक्षिक विचारों में भारतीय आदर्शो, मान्यताओं, प्रेरणाओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों का समाहार है। मनन उनका शैक्षणिक विचार हे जिसमें वस्तुनिष्ठता की सिद्धि होती है और विचार पुष्ट होता है। अतः अपने युग के महान् दार्शनिक विचार होने के साथ-साथ उच्च कोटि के शिक्षक[2] होने के फलस्वरूप ही भारतीय-

1 Rose James, Ground Work of Educational Theory P 16 G George Harrap & Co London
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय-श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तान एकडमी इलाहाबाद पृ0-66

विद्वद समाज ने उनको 'जगद्गुरू की उपाधि से विभूषित किया था । ये 'जगद्गुरू' की उपाधि आज तक उनकी शिष्य-परम्परा में प्रचलित होने के कारण उनके द्वारा स्थापित पीठ पर आसीन संन्यासी को आज भी जगद्गुरू शंकराचार्य के रूप में जनसाधारण में सम्मानित किया जाता है । विश्व के इतिहास में सम्भवतः अन्यत्र कही भी सुदीर्घकालीन गुरू-शिष्य-परम्परा परिलक्षित नही होती है जितनी विशाल गुरू-शिष्य-परम्परा का विकास आचार्य शंकर के अनुयायियों में मिलता है। महान् आचार्य अपने युग के उच्चकोटि के शिक्षक तथा युग-युगान्तर तक अपनी शैक्षिक मान्याताओं को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने वाले प्रखर शिक्षाविद् जगद्गुरू शंकराचार्य के शैक्षिक स्वरूप का आज तक उपेक्षा होना वस्तुतः खेदजनक स्थिति का परिचायक है । अत धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा राष्ट्रीय क्षेत्रों को अपने व्यक्तितत्व, कृतित्व. एवं चिन्तन से प्रभावित करने वाले आचार्य शंकर का शैक्षिक अध्ययन न केवल शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण मौलिक कार्य होगा अपितु यह अध्ययन राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था में विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण, शिक्षाविधियों के विकास, गुरू-शिष्य सम्बन्धों के निर्माण तथा पाठ्यक्रम-संरचना आदि में महत्वपूर्ण योगदान करेगा। उदाहरण के लिये महात्मा गाँधी और कुछ अन्य विचारकों एवं महान् नेताओं ने अपने आदर्शवाद, सामाजिक-न्याय और सामाजिक-पुर्ननिर्माण के अपने प्रबल प्रयत्नों की प्रेरणा अधिकांशतः इन्ही साधनों से ली । अतीत की इसी प्रकार की फिर से व्याख्या तथा पुनर्मूल्यांकन की इस समय सबसे अधिक आवश्यकता है ।[1] अतः शांकर-दर्शन की शैक्षिक एवं वैचारिक व्याख्या तथा मूल्यांकन से भारतीय शिक्षा-दर्शन के विकास में नये सोपानों की अवतारणा होगी जिससे भविष्य में अध्येताओं, शोधकर्ताओं तथा तर्क एवं दर्शन के क्षेत्र में कार्यरत विचारकों को इसी

1. डॉ. डी. एस. कोठारी-शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (1964-66) शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार प्रथम अध्याय, पृ0 सं 23 ।

प्रकार के अन्य अध्ययन अथवा भारतीय दर्शन का तार्किक मूल्यांकन करने की प्रेरणा प्राप्त होगी ।

4. धार्मिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की दृष्टि से -

शांकर-दर्शन में जिन धार्मिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की प्रस्तावना की गई है वे न केवल भारत के वरन् समस्त विश्व के लिये उपादेय हैं। आधुनिक युग में मानव भौतिक प्रगति तथा समृद्धि के लिये इतना आतुर एवं व्यग्र है कि उसने इस बेगवत दौड़ में अपने मन की शान्ति, परस्पर सद्भाव तथा मस्तिष्क की स्थिरता को सर्वथा खो दिया है । फलतः आज की भौतिक समृद्धि अभिशाप-सी बनती हुई दृष्टिगोचर हो रही है । अतः डॉ0 राधाकृष्णन के शब्दों में आधुनिक युग के अभिशाप की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है, "मानव जीवन में जो वर्तमान संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई है, उसका कारण यह है कि मानव चेतना में आपातकल उपस्थित हो गया है, संगठित एवं पूर्ण जीवन में न्यूनता आ गई है । लोगों की ऐसी प्रवृत्ति हो गई है कि वे आध्यात्मिकता की उपेक्षा कर रहे हैं और कुत्सित बौद्धिकता को बढ़ावा दे रहे है, यथार्थ मनन का इनमें अभाव है।

मानव जीवन में प्रेम, एकता, त्याग और युक्तिसंगत व्यवहार का स्वार्थ, द्वेष, अहंकार और विषयान्धता की अपेक्षा अधिक मूल्य है । इन सद्गुणो के विकास में शंकराचार्य के इस सिद्धान्त से कि 'सभी जीव एक है, सब प्राणियों में एक ही आत्मा विद्यमान है,' जितनी प्रेरणा मिल सकती है उतनी और किसी सिद्धान्त में नहीं । अतः स्वामी विवेकानन्द का यह कथन समीचीन ही है, "सभी वस्तुओं के पीछे उसी देवत्व का अस्तित्व है और इसी से नैतिकता का आधार प्रस्तुत है।

दूसरों को कष्ट नही देना चाहिये । प्रत्येक व्यक्ति को अभिन्न समझकर उसके साथ प्रेम करना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण विश्व मौलिक स्तर पर एक हैं । दूसरों को कष्ट देना अपने आपको कष्ट देना है । दूसरों के साथ प्रेम करना अपने-आपसे प्रेम करना है ।[1]" इस प्रकार अंहकार, स्वार्थ, हिंसा, असत्य एवं अपकार इत्यादि पापकर्मो से बचना और सत्य, अहिंसा, दया, उपकार तथा अंहकारशून्यता का आचरण करना शंकराचार्य के दर्शन में समाविष्ट नैतिक-मूल्यों के प्रतीक हैं ।[2] आधुनिक युग में उपर्युक्त सभी धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्य मानव जाति के अलंकार हैं । इनसे विहीन मानव-जाति दुर्दशा के गर्त में गिर रही है । इसलिये विश्व में उक्तमूल्यों की प्रस्थापना हेतु तथा भौतिक समृद्धिजन्य दोषों के निराकरणार्थ प्रस्तावित अध्ययन की महत्ता एवं आवश्यकता के प्रति किसी को सन्देह नही रहना चाहिये ।

---

1. विवेकानन्द संचयन, श्री राम कृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ0 स 106 ।
2. प्रश्नोत्तरी, गीता-प्रेस गोरखपुर पृष्ठ सं0 6, 8, 11, 14, 17, 19 '

अध्ययन सम्बन्धित पूर्व अध्ययनों का मूल्यांकन

जगदगुरू शंकराचार्य भारतीय दर्शन के अधिष्ठाता है और अद्वैत वेदान्त उनकी अमर कीर्ति की पताका है । अतः उनके सम्वंध में अध्ययन करने की जनरूचि व प्रवृति सदा से रही है । प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वानों ने शंकराचार्य तथा उनके सिद्धान्तो का अध्ययन-आलोकन-विलोकन किया है। आचार्य शंकर विद्वानो में इतने लोकप्रिय रहे हैं कि उनके अध्ययन के प्रयास रूप में जो ग्रन्थ एवं लेखादि लिखे गये हैं उनसे एक विशाल साहित्य राशि का निर्माण हो गया है। प्रस्तुत शोध-प्रवंध में प्रमुख-प्रमुख अध्ययनों का ही मूल्यांकन किया जायेगा। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से आचार्य शंकर से सम्बंधित कार्यो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से करना समीचीन होगाः-

(1) संस्कृत भाषा में कार्य

(2) अंग्रेजी भाषा में कार्य

(3) हिन्दी भाषा में कार्य

संस्कृत भाषा में कार्य :

स्वामी शंकराचार्य के प्रधान शिष्य पद्मपाद ने अपने ग्रन्थ 'आत्मानात्म' में आत्मा के सम्बंध में गहन विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होने इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र शंकर-प्रतिपादित माया का विवरण भी दिया है। अद्धैत के प्रसिद्ध विद्धान विद्यारण्य स्वामी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पंचदशी' में आचार्य शंकर की दार्शनिक विचारधारा का विवेचन मिलता है।इस ग्रन्थ में अन्य दर्शनों का भी विवेचन किया गया है।

काशी के सुप्रसिद्ध संन्यासी तथा शांकर वेदान्त दर्शन के विख्यात विद्धान् 'मधुसूदन सरस्वती' ने अपने ग्रन्थ 'अद्धैत सिद्धि' में अद्धैत सिद्धान्त का भली-भांति प्रतिपादन किया है। इस ग्रन्थ में जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन भी पाँच प्रकार से किया गया है। 'सदा शिव ब्रम्हेन्द्र' के 'अद्वैत विद्या विलास' ग्रन्थ

में शांकर अद्वैत का वर्णन मिलता है। स्वामी सदानन्द योगीन्द्र की प्रसिद्ध रचना 'वेदान्त सार' है जिसमें विद्धान लेखक ने सारगर्भित एवं सक्षिप्त रूप में आचार्य शंकर के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ शांकर सिद्धान्तों की जानकारी के लिए इतना प्रसिद्ध है कि इस पर अनेक टीकाएं लिखी जा चुकी हैं। 'अद्वैत-चिन्ता कौस्तुभ' ग्रन्थ में 'महादेव सरस्वती' ने भी अद्वैत सिद्धान्त के सम्वंध में उठनेवाली शंकाओं का सुन्दर रूप में समाधान किया है। शंकराचार्य जी के सिद्धान्त को समझने में यह ग्रन्थ बड़ा सहायक है। महामहोपाध्याय 'अनन्त कृष्ण शास्त्री' ने अपनी 'शतभूषणी' रचना में आचार्य शंकर द्धारा प्रतिपादित अविद्या एवं माया का विस्तृत विवेचन किया है।

कोलकत्ता में स्थापित 'संस्कृत साहित्य परिषद्' का 'कालीपद जी तर्काचार्य' के सम्पादकत्व में 'संस्कृत साहित्य परिषद' नामक एक संस्कृत भाषा का मासिक पत्र प्रकाशित होता है। इसी मासिक पत्र के संख्या 1879 चैत्र के अंक में चारु कृष्णाचार्य ने 'वेदान्त विमर्शः' लेख में अचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त पर प्रकाश डाला है।इसी प्रकार काशी से प्रकाशित 'संस्कृत रत्नाकर' और नागपुर से प्रकाशित 'संस्कृत भवितव्यम्' आदि पत्रों में भी शंकराचार्य के सम्बंध में लेखो का प्रकाशन होता रहता है। 'The Samkar Academy of Sanskrit Culture and Classical Art' नई दिल्ली ने शंकर जयंती के उपलक्ष में (1966) एक स्मारिका प्रकाशित की जिसमें संस्कृत, अंग्रेजी, तथा हिन्दी में शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तो के सम्बंध में देश के उच्च कोटि के विद्धान तथा ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज एवं कामकोटिपीठ के शंकराचार्य के लेखो का प्रकाशन हुआ। सम्पूर्ण पत्रिका शांकर सिद्धान्तो के विवेचनात्मक लेखों का सुन्दर संग्रह है।

अंग्रजी भाषा में कार्य :

गंगानाथ झा ने 'शांकर वेदान्त' नामक अपने अध्ययन में आचार्य शंकर के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डाला है। एस0के0 वेल्वेकर के सन 1929 में प्रकाशित 'वेदान्त फिलासफी' के लेक्चर में शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। 'थ्री लेक्चर्स आन द वेदान्त फिलासफी' नामक ग्रन्थ में पश्चिमी विद्धान मैक्समूलर ने वेदान्त दर्शन के विवेचन के साथ शंकर प्रतिपादित माया का तुलनात्मक रीति से वर्णन किया है। 'ए हिस्ट्री आफ इन्डियन फिलासफी: के लेखक डा0 सुरेन्द्र नाथ गुप्त ने अपने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के दशम अध्याय में स्वामी शंकराचार्य जी के दार्शनिक विचारों की विवेचना की है। उसमें अज्ञान की विवेचना स्वतंत्र रूप से हुयी है। डा0 राधाकृष्णन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इन्डियन फिंलासफी' के द्धितीय भाग में आचार्य शंकर के अद्वैत सिद्धान्त पर आलोचनात्मक विचार किया है। 'एन इन्ट्रोडक्शन टू इन्डियन फिलासफी' के लेखक सतीश चन्द्र चटर्जी एवं धीरेन्द्र मोहन दत हैं। प्रख्यात विद्धान् लेखकों ने अपने इस ग्रन्थ के दशम अध्याय में शंकर के वेदान्त की विवेचना की है। डा0 चन्द्रधर शर्मा के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इन्डियन फिलासफी' में प्रसंगवश शंकर सिद्धान्त का भी वर्णन किया गया है। प्रो0 हिरियन्ना ने अपने ग्रन्थ 'बी एडोशियल आफ इन्डियन फिलासफी' के सप्तम् और अष्टम् अध्यायो में शांकर वेदान्त का तुलनात्मक ढंग से किन्तु मौलिक रूप में विवेचन किया है। नलिनी मोहन शास्त्री का 'ए स्टडी आफ शंकर' ग्रन्थ 1942 में प्रकाशित हुआ जिसमें स्वामी शंकराचार्य के सिद्धान्तो की आलोचनात्मक दृष्टिकोण से समीक्षा की गई है । 'आसपेक्टस आफ अद्वैत' एक सम्पादित ग्रन्थ है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग 'ब्रह्म एण्ड माया' है। इसके लेखक के0 सुन्दरम अय्यर है। द्धितीय भाग 'अद्वैत एण्ड मार्डन थौट' में दीवान बहादुर के0 एस0 राधास्वामी शास्त्री ने

अद्वैतवाद की मार्मिक विवेचना की है। अय्यर महोदय ने माया का जो वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है वह अद्वितीय है।

जर्मन विद्धान डायसन पाल ने 'दी फिलासफी आफ वेदान्त' नामक ग्रन्थ में वेदान्त के सन्दर्भ में शंकराचार्य का सूक्ष्म एवं गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'महामहोपाध्याय एस0 कुप्पू स्वामी शास्त्री' ने 1940 में कलकता विश्वविद्यालय में अद्वैत विचारधारा पर प्रवचन दिये थे। उनके इन प्रवचनों का संग्रह 'कम्प्रोमाइज्गि, इन द हिस्ट्री आफ अद्वैतिक थौट' नामक ग्रन्थ में किया गया है। शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ में माया और अध्यास का विवेचन वैज्ञानिक रीति से किया है। एस0 के0 दास द्धारा रचित' ए स्टडी आफ दी वेदान्त' नामक ग्रन्थ में शांकर वेदान्त पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। 'डंकन ग्रीस लीस' की प्रसिद्ध रचना 'दी गासपल आफ अद्वैत' के द्धितीय अध्याय में शांकर सिद्धान्त के अनुसार जगत् के दार्शनिक पक्ष की विवेचना की गई है। ग्रन्थ की भूमिका में समस्त शांकर वेदान्त की मीमांसा अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई है। प्रसिद्ध भारतीय दर्शनशास्त्री कृष्ण स्वामी अय्यर नें अपने ग्रन्थ 'थौट्स फ्राम द वेदान्त' में वेदान्त की विभिन्न की विभिन्न विचारधाराओं का सूक्ष्म विवेचन किया है। इसमें अद्वैत वेदान्त की विचारधारा की विवेचना अत्यन्त मार्मिक और हृदयस्पर्शी बन गयी है' 'स्टडीज इन वेदान्त' के विद्वान लेखक वासुदेव कीर्तिकर ने इस ग्रन्थ में शांकर वेदान्त के विभिन्न सिद्धान्तों की तुलना पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ की है। इसका अध्ययन करने से अद्वैत वेदान्त का महत्व स्पष्ट हो जाता है।' 'साकरेड बुक्स आफ द ईस्ट' ग्रन्थमाला क अन्तर्गत 34 वें भाग में डा0 थीबो ने ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद किया है। डा0 थीवो ने इस अनुवाद की भूमिका में आचार्य शंकर के सिद्धान्तों पर अत्यन्त विद्धतापूर्ण प्रकाश डाला है।

''इन्डियन फिलासिफिकल क्वार्टरली'' (अक्टूबर 1935) में टी0 आर0 वी0 मूर्ति का दर्शनोदय' लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में विद्वान लेखक ने अद्वैत दर्शन और सांख्य दर्शन का जो तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है उससे स्वामी शंकराचार्य के दार्शनिक विचारों को समझने में बहुत सहायता मिलती है। 'इन्डियन कल्चर' (पाँचवा जिल्द) में 'अशोक नाथशास्त्री' का 'शून्य एण्ड ब्रह्म' नामक लेख शांकर अद्वैतवाद और बौद्ध शून्यवाद के तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करता है। इसी पत्रिका के आठवीं जिल्द में भी स्वामी शंकराचार्य से सम्बंधित लेख मिलते है। एच0 जी0 नरहरि का 'मीनिंग आफ ब्रह्म एण्ड आत्मन्' तथा पी0 एम0 मोदी का 'रिलेशन आफ ब्रह्म एण्ड जगत्' नामक लेख विशेष उल्लेखनीय है। 'इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' पत्रिका की पांचवी जिल्द में के0 आर0 पिशरौटी महोदय का 'थ्री ग्रेट फिलासफर्स आफ केरल' नाम का लेख मिलता है जिसमें स्वामी शंकराचार्य के सम्बंध में पर्याप्त जानकारी दी गई है। इसी पत्रिका के छठी जिल्द में सतीन्द्र कुमार मुकर्जी का 'शंकर आन द रिलेशन बिटविन द वेदान्त एण्ड रीजन' नामक लेख प्राप्त होता है। 'एस्ट्रोलोजिकल मैग्जीन' में भारतीय दर्शन के सम्बंध में लेखो का प्रकाशन होता रहता है। इसी पत्रिका के जुलाई 1965 के अंक में डा0 पी0 नागराज राव एम0 ए0 ,डी-लिट के 'विजडम आफ शंकर' नामक लेख में आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों का अच्छा विवेचन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार पत्रिका के दिसम्बर 1966 के अंक में डा0 पी0 नागराज राव ने ' 'एशेन्नियलूस आफ अद्धैत वेदान्त' फरवरी 1667 जून में 1967 में 'शंकर्स कन्सेप्सन्स आफ मोक्ष,' जुलाई 1967 में 'श्री शंकर एण्ड भक्ति योग.' तथा अगस्त 1967 में 'शंकर्स अद्धैत' नाम के ऐसे लेख लिखे है जिनमें आचार्य शंकर की प्रमाण-मीमांसा, आचार-मीमांसा तथा तत्वमीमांसा की सम्पूर्ण विवेचना उपलब्ध

होती है। दार्शनिक विवेचना की दृष्टि से इस लेखमाला में शांकर सिद्धान्तों के विवेचक लेखों का अच्छा सग्रंह हुआ है।

प्रो0 संगमलाल पाण्डेय की अंग्रजी में लिखित कृति **'Pre shankar Advait Philosphy'** में शंकर के पूर्व सभी अद्धैतवादियों के मतों का विवेचन ऐतिहासिक दृष्टियों से किया गया है। प्रो0 पाण्डेय ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि शंकराचार्य ने जिस अद्धैतवाद का बहुत अधिक प्रचार किया है वह मूलत: उन्हे अपने पूर्वाचार्यो से मिला था।इतना होते हुए भी अद्धैत वेदान्त के समग्र इतिहास में शंकराचार्य का स्थान अद्धितीय है। Prof R.L. Singh ने 'A Comperative Study of Sankar and Kant' नामक शोध-ग्रंथ लिखा है जिसमें काण्ट और शंकर की वैचारिक तुल्यता दर्शायी गयी है।

हिन्दी भाषा में कार्य :

उमादत्त शर्मा के 'शंकराचार्य' ग्रन्थ में आचार्य शंकर के जीवन चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार स्वामी परमानन्द के 'शंकराचार्य जीवन चरित्र' में स्वामी शंकराचार्य के जीवन इतिहास को मार्मिक ढंग से लिखा गया है। प्रो0 बलदेव उपाध्याय ने' 'श्री शंकराचार्य' ग्रन्थ में आचार्य शंकर के जीवन-चरित्र, कार्य एवं सिद्धान्तो की सारगर्भित एवं सूक्ष्म विवेचना की है।'अद्वैतवाद' ग्रंन्थ में गंगा प्रसाद उपाध्याय ने शंकराचार्य के सिद्धान्तो का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है और माया एवं अविद्या का विवेचन भी इस ग्रन्थ मे विस्तारपूर्वक किया है। डा0 रामानन्द तिवारी ने अपने शोध प्रबन्ध 'श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन' में आचार्य शंकर के आचार सिद्धान्तों की गम्भीर मीमांसा की है। 1964 में डा0 राममूर्ति शर्मा का शोध-प्रबन्ध 'शंकराचार्य' प्रकाशित हुआ जिसमें विद्वान लेखक ने शंकर के मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तो का आलोचनात्मक अध्ययन बड़े प्रभावशाली ढंग से किया है। प्रो0 बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय दर्शन' और डा0 उमेश मिश्र

का 'भारतीय दर्शन' इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं कि इन दोनो ग्रन्थ-रत्नो में विद्धान लेखकों ने आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तो की विवेचना बहुत-ही रोचक एवं हदयस्पर्शी ढंग से की हैं।

प्रो0 जगदीश सहाय श्रीवास्तव की कृति 'अद्धैतवेदान्त की तार्किक भूमिका' में दिखलाया गया हैं कि शंकराचार्य ने भाष्य को लिखने एवं अद्धैतवाद की स्थापना में तर्क का खुलकर प्रयोग किया हैं, लेकिन साथ ही साथ अपने तर्क, श्रुतियों एवं अनुभूतियों के साथ संगति बैठाने की चेष्टा भी की है। इसी अद्वैतवाद एवं उनके महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को तर्क के आधार पर प्रो0 श्रीवास्तव ने व्याख्यायित किया है। बंगाल के प्रसिद्ध विद्धान राजेन्द्र नाथ घोष ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ''आचार्य शंकर और रामानुज'' में स्वामी शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। विद्धान् लेखक की विवेचना आचार्य शंकर के सिद्धान्तों को समझने में अत्यन्त सहायक है। डॉ0 जटाशंकर तिवारी ने 'वेदान्तीय समाजवाद' नामक शोध-प्रबन्ध प्रकाशित किया है जिसमें वेदान्त के व्यावहारिक अनुपयोगों को दर्शाया गया है।

गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' के वेदान्तांक(अगस्त 1936) में सारे वेदान्त दर्शन सार निहित हैं, किन्तु ईश्वर जीव और संसार के सम्बन्ध में भगवान् श्री शंकराचार्य के विचार विषय पर तत्कालीन पुरी के जगद्गुरू शंकराचार्य श्री भारती कृष्ण तीर्थजी का लेख, 'श्री शंकराचार्य का अनुभव विश्लेषण' नामक एस0 बी0 दाण्डेकर का लेख,डा0 एम0 एच0 सभ्यद का ' वेदान्त शिक्षा की कुछ बातें नामक लेख, भगवान शंकराचार्य और द्धारिका पीठ' नामक विनयतौष भटटाचार्य का लेख, 'प्राचीन अद्धैतवाद के साथ शंकर के अद्धैतवाद का सम्बंध' नामक महामहोपाध्याय पं0 गोपीनाथ जी कविराज का लेख तथा 'व्यवहार क्षेत्र में अद्धैत ज्ञान की उपयोगिता' नामक पं0 श्री प्रेमनाथजी 'तर्कभूषण' का लेख ऐसी

श्रेणी में आते है। जिनसे आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने में सहायता मिलती है। 'कल्याण' का ही उपनिषद अंक (जनवरी 1949) इस दृष्टि से पठनीय है।इसके अन्तर्गत पं0 श्री राम गोविन्द जी त्रिवेदी का ' उपनिषद और अद्धैतवाद', स्वामी करपात्री जी महाराज का उपनिषद्-तात्पर्य 'के0 एस0 रामस्वामी शास्त्री का ब्रह्म और ईश्वर सम्वंधी औपनिषदिक विचार तथा पं0 हरि कृष्णजी झा का' जीवात्मा और परमात्मा की एकता' आदि ऐसे लेखों का प्रकाशन हुआ जो शांकर अद्धैतवाद की दृष्टि से पठनीय है 'गीताधर्म' के शंकर-शंक (काशी 1936मई) में स्वामी शंकराचार्य के जीवन चरित्र तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्वंध में पठनीय सामग्री का संग्रह हुआ है 'विश्व-ज्योति' के उपनिषद अंक (जून-जुलाई 1976) में डा0 विश्वबन्धु का 'ब्रम्हात्मवाद की सामाजिक मीमांसा; डा0 राजेन्द्र कुमार गर्ग का 'उपनिषद्- तत्व दर्शन' तथा उपनिषद् प्रतिपादित परा और अपरा विद्याएँ आदि लेखों को पढ़ने से आचार्य शंकर के सिद्धान्तों का समझनें में सहायता मिलती है। ''सौभाग्य'' पत्रिका के शंकराचार्य अंक (1973) में आचार्य शंकर का विस्तार से जीवन-चरित्र, उनका अद्धैतवाद तथा उनकी चारो मठों की ब्यवस्था आदि विषयों पर अत्यंत सारगर्भित. लेख मिलते हैं। शंकराचार्य के अद्धैतवाद के इतिहास का ऐतिहासिक तथा दार्शनिक निरूपण डा0 संगमलाल पाण्डेय ने 'संस्कृत वाड्गमय का वृहद इतिहास' दशम खण्ड, 'वेदान्त दर्शन ' नामक ग्रन्थ में किया है जो उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ की संस्कृत परिषद' द्धारा प्रकाशित है। इनके द्धारा 1979 में लिखित' मूल शंकर वेदान्त' में अद्धैतवाद का तार्किक प्रतिपादन किया गया है

घनश्यामदास रत्नमल मलकानी का शोध-प्रबंध 'VEDANTIC EPISTEMO-LOGY' का हिन्दी अनुवाद 1973 में पुस्तककार रूप में मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्धारा प्रकाशित है जिनमें वेदान्तिक ज्ञानमीमांसा का निरूपण किया गया है

स्वामी शंकराचार्य से सम्वंधित उर्प्युक्त अध्ययन सामग्रियों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त कार्य आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्त, जीवन-चरित्र, आचार-मीमांसा अथवा तत्वमीमांसा आदि से सम्वंधित हुआ है, किन्तु जगद्‌गुरू शंकराचार्य केवल मात्र दार्शनिक विचारक अथवा धर्माचार्य ही नही वरन वह एक उच्चकोटि के भी है। अतः उनके तर्कशास्त्र का विधिवत अध्ययन न होना खेदजनक है।

अध्ययन के उददेश्य :

मानव के जीवन में सोद्‌देश्यता की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। उददेश्य को दृष्टिगत करके मनुष्य अपनी जीवन यात्रा सम्पन्न करता है। उद्‌देश्यों के अभाव में मानव जीवन की कल्पना नही की जा सकती है। अतः जीवन के उददेश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति प्रयत्नशील होकर मनन करता है। इस प्रकार मनन मानव जीवन में अनवरत चलनेवाली एक सोद्‌देश्य प्रक्रिया है। मनन ही क्यों, कोई भी कार्य मानव-जीवन में निरूद्‌देश्य नही होता है। वस्तुतः उद्‌देश्यों से व्यक्ति को अपने गन्तव्य का पता चलता है। किसी ग्रन्थ रचना के उद्‌देश्यों से उसके लेखक के जीवनोद्‌देश्यों का बोध होता है। अतः आचार्य शंकर "शास्त्र को परम्परा से विशिष्ट सम्बंध, विषय और प्रयोजनवाला मानते है।"[1] अपने प्रत्येक भाष्य के आरम्भ में उन्होंने भाष्य के अन्तर्गत समस्त ग्रन्थ के प्रयोजन(उददेश्य) की मीमांसा की है। इस प्रकार हम जीवन में सर्वत्र सोद्‌देश्यता के दर्शन करते हैं। वस्तुतः निरूद्‌देश्यता जीवन की सार्थकता के विपरीत है। जीवन की गतिशीलता, उन्नयनता एवं अग्रसरता का स्रोत उसके उददेश्यों में निहित रहता है। अतः कोई-भी शोध-प्रबंध निरूद्‌देश्य होकर उक्त सिद्धान्त का अपलाप नही करता है। शोधकर्मी की प्रवृति उददेश्यों के बिना शोध-प्रबन्ध रचना में नही हो सकती। वह कतिपय

---

[1] माण्डूक्य उपनिषद् - शां0 भा0, गीता प्रेस गोरखपुर सं0 2030 पृ0 - 2[illegible]

उद्देश्यों के आधार पर ही अपनी शोध-प्रबंन्ध रचना में प्रवृत होता है। इस प्रकार प्रत्येक शोध-प्रबंन्ध के अपने उददेश्य होते हैं। अतः प्रस्तावित शोध-प्रबन्ध के उद्देश्यों की प्रस्थापना निम्नलिखित प्रकार से की गई है-

(1) शंकराचार्य-प्रणीत मूल ग्रन्थों तथा भाष्य-ग्रन्थों एवं स्तोत्र-रचनाओं के आधार पर उनके दार्शनिक विचारों के पक्ष पोषण में तर्को का अध्ययन करना।

(2) आचार्य शंकर के दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि में उनके तार्किक प्रकिया का पता लगाना।

(3) शंकर के ग्रन्थों के आधार पर मनन (तर्क) का स्वरूप प्रस्तुत करना।

(4) आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित जीवनोद्देश्यों की दृष्टि से मनन के उद्देश्यों पर विचार करना।

(5) शंकर दर्शन में प्रतिपादित जीवनोद्देश्यों की पृष्ठभूमि में विकसित श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के उददेश्यों की प्राप्ति-हेतु पद्धतियों की मीमांसा करना।

(6) भारतीय दर्शन के परिप्रक्ष्य में 'मनन' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अद्धैत वेदान्त की तार्किक प्रणाली की उपादेयता स्पष्ट करना।

(7) श्रुति एवं मनन के पारस्परिक संबंधो को दर्शाते हुए इसकी उपयोगिता निर्धारित करना इत्यादि।

अध्ययन में प्रयुक्त तकनीकी शब्दों का परिभाषिकरण :

प्रायः यह देखने में आता है कि दार्शनिक विचारक और विद्धान लेखक कतिपय शब्दों का प्रयोग प्रचलित अर्थो से भिन्न करते हैं। उनका यह्र प्रयोग विशिष्ट अर्थो में हुआ करता है। इस प्रकार के विशिष्ट अर्थ-सम्पन्न शब्दों के अर्थ जन सामान्य के ज्ञान की सीमा के बाहर होते हैं। इस प्रकार के शब्दों को तकनीकी शब्द कहते हैं। आचार्य शंकर ने अपने दार्शनिक विवेचन में अनेक प्रकार

के तकनीकी शब्दों का प्रयोग किया है। इन तकनीकी शब्दों की व्याख्या इस दृष्टि से अपेक्षित है कि आगामी पृष्ठों में की गई विवेचना को पाठक-गण सहज रूप में ग्रहण करने में सक्षम हो सकें। अतः निम्नांकित तकनीकी शब्दों का संग्रह शांकर-दर्शन से करके उन्ही ग्रन्थों में की गई व्याख्या को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

ब्रह्म :

शांकर वेदान्त का मूलतत्व ब्रह्म है। वह जगत् की उत्पति, स्थिति तथा लय का कारण है। पारमार्थिक रूप में वह निर्गुण है, किन्तु व्याहारिक रूप में वही सगुण है। निर्गुण ब्रह्म को परब्रह्म और सगुण ब्रह्मा को 'अपर ब्रह्म' अथवा ईश्वर भी कहा जाता है। ब्रह्म के ये दोनों भेद वास्तविक नही हैं। केवल मात्र दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण ऐसा कहा जाता है। वास्तव में शंकर-दर्शन में निर्गुण ब्रह्म अथवा परब्रह्म ही मूल सत्ता है, किन्तु व्यवहार के लिए,उपासना के निमित वही सगुण ईश्वर माना जाता है। यही ब्रह्म शांकर वेदान्त का सर्वाच्च तत्व है।[1]

आत्मा :

भगवान् शंकराचार्य के अनुसार प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है। सभी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, ऐसा कोई भी व्यक्ति नही है जो विश्वास करें की, 'मै नही हूँ।' यदि आत्मा का अस्तितव नहीं होता तो सब किसी को अपने न होने में विश्वास होता, परन्तु ऐसा तो कभी होता ही नहीं। अतः आत्मा की सत्ता स्वतःसिद्धि माननी ही पड़ती है।[2] वह आत्मा बाहर-भीतर विद्यमान. अजन्मा, कारणरहित, अर्न्तवाह, शून्य, परिपूर्ण आकाश के समान सर्वगत, सूक्ष्म, अचल, निगुर्ण, निष्फल और निष्क्रिय है।[3] इसलिए शंकर

---

1. डा0 राममूर्ति शर्मा-अद्धैतवाद,नशनल पब्लिशिंग हाउस. 23 दरियागंज दिल्ली-6,पृ0 146।
2. ब्रम्हासूत्र शा0 भा0 (1-1-1) गोविन्दमठ टडीनीम वाराणसी पृ0 30) ।
3. "माण्डूक्योपनिषद" शांकर भाष्य गीता- प्रस गोरखपुर पृ0 119-120 ।

के अनुसार आत्मा इस सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त एकमात्र अखण्ड सत्ता है। वही आत्मा है, वही ब्रह्म है।[1] जिस प्रकार मायावछिन्न ब्रह्म 'सगुण ब्रह्म' अथवा ईश्वर' कहलाता है, उसी प्रकार आत्मा का वह चैतन्य जो अन्तःकरण के द्वारा अवछिन्न होता है,' जीव कहलाता है। इस प्रकार दानों में ऐक्य होने से यही सिद्ध होता है कि आत्मा चैतन्य रूप ही है।

जगत् :

ब्रह्म पारमार्थिक (निरपेक्ष) रूप से सत्य है, किन्तु जगत् व्यवहारिक (सापेक्ष) रूप से। जब तक हम जगत् में रहकर उसके कार्यो में ही लीन रहते हैं और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त में समर्थ नहीं होते हैं तब तक इस जगत् की सत्ता हमारे लिए बनी ही रहेगी; परन्तु जैसे ही परमतत्व का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है वैसे ही जगत् की सत्ता मिट जाती है। अतः शांकर-दर्शन में ब्रह्म कारण है और जगत उसका कार्य । इस प्रकार ब्रह्म तथा जगत् में कारण-कार्य का सम्बंध है; किन्तु शंकराचार्य कार्य-कारण की अभिन्नता[2] को स्वीकार करने से एकमात्र कारणरूप ब्रह्म को ही अविनाशी, निर्विकार तथा सत् पदार्थ के रूप में प्रतिपादन करते हैं। इसीलिए उनके अनुसार इस जगत् का एक कारण पूर्वकता है। जिस एक कारण से यह उत्पन्न हुआ वही एकतत्व परमार्थतः ब्रह्म है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि शंकर व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य मानते हैं; किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है।[4]

---

1. "माण्डूक्यापनिषद" शांकर भाष्य गी- प्रस गोरखपुर पृ0 119-120 ।
2 ब्रम्हासूत्र शांकर भाष्य :2-2-6-15
3. वृहदारण्यकोपनिषद शां0 भा0 (2-5-) गीता प्रस गोरखपुर पृष्ठ 619
4. (छांदोयोपनिषद शाँ भा0 गीता प्रस, गोरखपुर, पृ0 619

अध्यास :

शारीरक-भाष्य के उपोद्धात में अचार्य शंकर ने अध्यास के स्वरूप का निर्णय बड़ी सरल सुवोध भाषा में किया है। अचार्य के शव्दो में तत्पदार्थ में अतद् (तदभिन्न) पदार्थ के स्वरूप का आरोप करना अध्यास[1] कहलाता है। अर्थात् किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु के धर्मो (गुणों) का आरोप करना अध्यास है। जैसे पुत्र या स्त्री से सत्कृत या तिरस्कृत होने पर जब मनुष्य अपने को सत्कृत या तिरस्कृत समझता हं तब वह अपनें में वाह्य धर्मो का आरोप कर रहा हें। इसी प्रकार इन्द्रियों के धर्मो के कारण जब कोई व्यक्ति अपने को अन्धा, लंगड़ा चलने वाला तथा खड़ा होनेवाला समझ लेता है तब वह अपने आभ्यान्तर धर्मो का आरोप करता है। आचार्य शंकर के अनुसार यह अध्यास अनादि है, अनन्त है, नैसर्गिक है, मिथ्याज्ञान रूप है'' कर्तृव्य और भोक्तृत्व का प्रवर्तक है, सब के लिए प्रत्यक्ष है। यह अध्यास ही अज्ञान है।[2] इस अध्यास का निराकरण करनें का एकमात्र उपाय आत्मस्वरूप का ज्ञान ही है।[3] वर्तमान मनोविज्ञान (Psychology) की भाषा में इसे एक तरह का वहिरारोप (Projection) कहेंगें।

विवर्त :

शांकर वेदान्त के अनुसार एकमात्र कारण रूप ब्रह्म ही अविनाशी निर्विकार तथा सत्पदार्थ है। उससे उत्पन्न होनेवाला यह जगत् मिथ्या है, कल्पनामूलक हें। अत: कारण (ब्रह्म) ही एकमात्र सत्य है। कार्य (जगत्) मिथ्या या अनिर्वचनीय हें। जगत् माया का तो परिणाम है पर ब्रह्म का विवर्त हें। वेदान्तसार में दोनों के भेद पर प्रकाश डालते हुए कहा हें'' तात्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं।''[4] दही, दूध का विकार है, परन्तु सर्प रज्जु का

1. ''(ब्रम्हासूत्र, शा0 भा0 (उपोद्घात), टेढीनीम वाराणसी पृ. 17)
2. ''(ब्रम्हासूत्र शां0 भा0 (उपोद्घात) पृ. 18
3. ''(ब्रम्हासूत्र, शा0 भा0 पृ. 12)
4. श्री सदानन्द -वदान्तसार, साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मरठ, 1964 पृ. 47

विवर्त है क्योंकि दूध और दही की सत्ता एकप्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है, परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है।

अनिर्वचनीय (मिथ्या) :

जगत् के लिए शांकर दर्शन के मे अनिवर्चनीय शब्द का प्रचलन है। इस शब्द का अर्थ है जिसका निर्वचन-लक्षण ठीक ढंग से न किया जा सकें, जैसे रस्सी में सर्प का ज्ञान सत्य नहीं है क्योंकि दीपक के लाने ओर रज्जु-ज्ञान के उदय होने पर सर्प-ज्ञान बाधित हो जाता है, किन्तु उसे असत् भी नही कहा जा सकता क्योंकि उस रज्जु के भय के कारण कम्प आदि की उत्तपति होती है। रस्सी को साँप समझकर ही आदमी डर के मारे भाग खड़ा होता है।अतः यह सर्प का ज्ञान सद् (वास्तविक) और असद् (अवास्तविक) उभय विलक्षण होने से अनिवर्चनीय या मिथ्या कहलाता है। इस प्रकार शांकर वेदान्त में मिथ्या' का अर्थ असत् नही है । प्रस्तुत अनिर्वचनीय है।

माया :

शांकर वेदान्त में भ्रम, अज्ञान अथवा अविद्या का नाम 'माया' है। माया के दो कार्य है- आवरण और विक्षेप। आवरण का अर्थ है यथार्थ स्वरूप को ढ़क देना। विक्षेप का अर्थ है उसपर दूसरी वस्तु का आरोप कर देना। इस प्रकार माया जगत् के आधार ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप छिपा देती है और उस पर संसार का आरोपण कर ब्रह्म को जगत् के रूप में अवभासित करती है। सृष्टि की माया की व्याख्या आचार्य शंकर ने दो प्रकार से की है। ईश्वर के लिए वह केवल लीला की इच्छा है। ईश्वर उस माया में स्वयं प्रभावित नही होता है। सामान्य व्यक्ति जो अज्ञानी है उसे देखकर भ्रम में पड़ जाते हैं और एक ब्रह्म में नाना प्रकार की वस्तुओं के दर्शन करने लगते है। इस प्रकार माया सामान्य व्यक्तियों के लिए भ्रम का कारण होने से अज्ञान अथवा अविद्या कहलाती है।

सत्य :

'सत्' वह है जो उतरकालीन किसी ज्ञान के द्वारा बाधित (विरूद्ध) न हो और 'असत्' वह है जो उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा बाधित हो। घनघोर अन्धकारयुक्त रात में मार्ग में पड़ी रस्सी को देखकर सर्प का ज्ञान होता है। संयोगवश हाथ में दीपक लेकर किसी पथिक के उधर से आ निकलने पर दीपक की सहायता से रस्सी को देखने पर ठीक रस्सी का ज्ञान होता है। यहाँ पहले का सर्प-ज्ञान अब रज्जु-ज्ञान के द्वारा बाधित होता है। अत: रज्जु में सर्प-ज्ञान बाधित होने से मिथ्या है; परन्तु यदि मेंढ़कों की आवाज सुनकर हमें उनमें खाने वाले सर्प का ज्ञान उत्पन्न हो और उसी समय बिजली चमकने से घास में भागनेवाला साँप दिखाई पड़े तो कहना पड़ेगा कि यह ज्ञान अबाधित (अविरूद्ध) होने से सत्य है। अत: वेदान्त में सत्य को 'त्रिकालाबाध्य' माना जाता है। अर्थात् जो सभी कालों- भूत, भविष्यत, और वर्तमान में विद्यमान हो, किसी भी काल में जिसका बाध न हो एवं जो सर्वत्र अवस्थित हो, वह त्रिकालाबाधित सर्वानुगत सत्य है। जैसे 5 + 5 = 10 ही होता है, किसी भी समय में एवं किसी भी देश (स्थान) विशेष में 5 + 5 न तो 9 होता है, और न 11 । वैसे वह सर्वात्मा परमार्थ सत्य ब्रह्म भी भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों काल में जगत् के आदि, मध्य एवं अन्त में तथा सभी प्रदेशों में, समस्त पदार्थों में अखण्ड, एकरस अविकृत रूप से अवस्थित है। यदि उस परमार्थ सत्य को कोई भी व्यक्ति छोड़ना चाहे या उससे पृथक् या विमुख होना चाहे, तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसका सभी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है।

सत्तात्रयी :

जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या करन में आचार्य शंकर ने तीनप्रकार की सतायें (आस्तित्व) स्वीकार की है- (1) प्रातिभासिक (2) व्यावहारिक और (3) पारमार्थिक।

(1) प्रातिभासिक सत्ता - यह सत्ता वह है जो प्रतीत काल में सत्य प्रतिभासित हो, परन्तु पीछे बाधित हो जायें जैसे रज्जु में सर्प और सीपी में चाँदी। रज्जु में होनेवाला सर्प ज्ञान पूर्वकालीन है और रज्जु-ज्ञान उत्तरकालीन है। जब तक रज्जु ज्ञान नही होता तब तक सर्प ज्ञान बना ही रहता है। इसी प्रकार समस्त प्रतीतियों से उत्पन्न ज्ञान अपने उत्तरकालीन ज्ञान में समाप्त होकर यथार्थज्ञान का द्वार खोलता है। यही प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है।

(2) व्यावहारिक सत्ता - यह वह सत्ता है जो इस जगत् के समस्त व्यवहारगोचर पदार्थो में रहती है। पदार्थो में पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते हैं- अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म में है और अन्तिम दो जगत् में। सांसारिक पदार्थो का कोई-न-कोई नाम और कोई-न-कोई रूप है। वस्तुओं की सत्ता मानना व्यवहार के लिए नितान्त आवश्यक है, परन्तु ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान की उत्पत्ति होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है, अत: जगत् एकान्त सत्य नही है। व्यवहार काल में ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थो की सत्ता व्यावहारिक है। इन समस्त पदार्थो से नितान्त विलक्षण एक अन्य पदार्थ भी है, जो शाश्वत सत्य होने से व्यावहारिक सत्ता से ऊपर होता है। वही ब्रह्म है।

(3) पारमार्थिक सत्ता - यह वास्तविक सत्ता है। उपर्युक्त दोनों प्रकार की सत्ताओं से विलक्षण एक अन्य सत्ता है जो तीनो कालों में अबाधित होने से शाश्वत् सत्य है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में एक रूप रहने वाला है। वही ब्रह्म है। अत: ब्रह्म की ही सत्ता को पारमार्थिक सत्ता कहते हैं।

अध्ययन का परिसीमन (Limitation of Study)

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार,''आचार्य शंकर उच्च कोटि के प्रौढ़ दार्शनिक थे, जगत् से ममता छोड़ देने वाले सन्यासी थे। लोक के निर्वाह के लिए नितान्त व्यवहार कुशल पण्डित थे, कविता के द्वारा रसिकों के हृदय में आनन्द स्रोत बहानेवाले भावुक कवि थे। भगवती ललिता के परम उपासक सिद्धजन थे। वह युगान्तकारी सिद्ध पुरूष थे। उन्हे साक्षात् भगवान शंकर का अवतार माना जाता है।वह भगवान की सतत् दीप्तिमान दिव्यविभूति हैं। इसीलिए उनकी आभा शताब्दियों के बीतनें पर भी उसी प्रकार प्रद्योतित हो रही है।''[1] इस उक्ति में आचार्य शंकर के बहुमुखी प्रतिभावान व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। उनके महान् कृतित्व में उनका विराट व्यक्तितत्व झांकता है। जीवन की सर्वांगीण व्याख्या उनके दार्शनिक विचारों में निहित है। उन्होने अपने अमर सिद्धान्त 'अद्वैतवाद' की मीमांसा अपनें जीवन-कार्यो के रूप में प्रस्तुत की है। अतः डा0 राधाकृष्णन के शब्दों में,'' एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप में सर्वश्रेष्ठ, शान्त निर्णय तक पहुँचने में तथा व्यापक सहिष्णुता में एक मनुष्य के रूप में महान् शंकर ने हमें सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन का प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी।------ वे कोई स्वप्नदर्शी आदर्शवादी नही थे, वरन् एक कर्मवीर कल्पनाविहारी व्यक्ति थे। दार्शनिक होने के साथ-साथ वे एक कर्मवीर पुरूष थे, जिसे हम विस्तृत अर्थो में एक सामाजिक आदर्शवादी कह सकते हैं।''[2] इस प्रकार आचार्य शंकर का व्यक्तितत्व सागर जैसा गम्भीर तथा हिमालय जैसा ऊँचा है। उसमें नाना प्रकार के रत्न, बहुमूल्य पदार्थ एवं सारभूत वस्तु के रूप में चिन्तन-मनन तथा विचार की उपलब्धि होती है। जीवन का हर पक्ष अपनी व्याख्या उनके सिद्धान्त में प्राप्त करता हुआ दृष्टिगोचर होता है; किन्तु प्रस्तुत शोध-प्रबंध में उनके कृतित्व को उनके तार्किक विचारों (मनन) तक सीमित किया गया है।

---

1. श्री बलदेव उपाध्याय- श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 336
2. डा0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन- भारतीय दर्शन-2,राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट,दिल्ली-6. पृष्ठ संख्या 660

जगदगुरू शंकराचार्य ऐतिहासिक महापुरूषों में शिरोमणि हैं। अत: उनके सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की जनश्रुतियों का प्रचलित होना स्वाभाविक है। उनके सम्बन्ध में कहीं-कहीं उनके अनुयायियों में भी एकमतता दृष्टिगोचर होती है। आचार्य शंकर के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद इतिहासज्ञों में प्रचलित हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उपर्युक्त विवादों, मतभेदों तथा मतवैभिन्य के निराकरण के लिए प्रयास किया गया है। उनके मम्वन्ध में बहु-प्रचलित मतों को आधार मानकर शोध-प्रवन्ध में यथास्थान उन्हे रखने का प्रयास किया गया है।यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि शोध-प्रवन्ध का मुख्य उद्‌देश्य है- अद्वैत वेदान्त में मनन की भूमिका की समीक्षा करना। इसीलिए शोधकत्री ने शंकराचार्य के ऐतिहासिक परीक्षण को अनावश्यक एवं प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध की विषय-वस्तु से भिन्न तथा अनुपयोगी मानते हुए अपनी विवेचना को उपर्युक्त विवादों के निराकरण से मुक्त रखा है।

जगदगुरू शंकराचार्य की शिष्य परम्परा आजतक प्रचलित है। उनके द्वारा स्थापित चारों पीठों के अध्यक्ष आज भी 'शंकराचार्य' से नाम से अभिहित होते है। अत: आदि शंकराचार्य- प्रणीत ग्रन्थों का निर्णय करना एक विषम पहेली है। श्री बलदेव उपाध्याय के अनुसार'' यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उन्होनें (आचार्य शंकर) कितने तथा किन-किन ग्रन्थों की रचना की थी। शंकराचार्य की कृति के रूप में दो सौ से भी अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।[1] इस कारण प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विवेचना को शंकर-प्रणीत बहुमान्य ग्रन्थों तक सीमित रखा गया है। अधिकांश विद्धान जिन ग्रन्थों को असन्दिग्ध रूप से आचार्य शंकर की कृति के रूप में स्वीकार करते हैं उन्ही के आधार पर शोधकत्री ने अपनी मीमांसा का विकास किया है। ग्रन्थों की प्रमाणिकता का परीक्षण करने का प्रयास नही किय गया है, केवलमात्र बहुमान्य ग्रन्थों को आधारभूत मानकर आचार्य शंकर के शैक्षिक विचारों की विवेचना करना शोध-प्रवन्धकत्री की अभीष्ट रहा है। अत: प्रस्तावित अध्ययन को शंकर-प्रणीत वहुमान्य ग्रन्थों तक ही सीमित रखा गया है।

1. श्री बलदेव उपाध्याय- श्री शंकराचार्य,हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1963 पृष्ट सं0 149

आचार्य शंकर भारतवर्ष के आध्यात्मतत्वविद् मनीषियों, धर्माचार्यो तथा शिक्षाविदों में अग्रगण्य हैं। वे अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक होने के साथ-साथ वैदिक धर्म में नवीन प्राण, नूतनस्फूर्ति एवं अभिनव प्रेरणा प्रदान करने वाले महान् आचार्य हैं। उनके व्यक्तितत्व तथा प्रेरणादायी कृतित्व का प्रभाव देश की धार्मिक, शैक्षिक तथा सामाजिक संस्थाओं पर पड़ना स्वाभाविक है। अत: आचार्य बलदेव उपाध्याय के वे शब्द यहाँ उल्लेखनीय है, जिनमें आचार्य शंकर की मंगलमयी अवतारणा के फलस्वरूप होने वाले प्रभावों का चित्रण अत्यन्त सुन्दर ढ़ग से हुआ है, ''वैदिक धर्म का शंखनाद ऊँचे स्वर से सर्वत्र होने लगा। उपनिषदों की दिव्य वाणी देशभर मे गूँजने लगी,गीता का ज्ञान अपने विशुद्ध रूप में जनता के सामने आया, लोगों को ज्ञान की गरिमा परिचय मिला,धार्मिक आलस्य का युग बीता, धार्मिक उत्साह से देश का वायुमण्डल व्याप्त हो गया, धर्म के इतिहास में नवीन युग का आरम्भ हुआ।''[1]

इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट है कि आचार्य शंकर ने अपने व्यक्तितत्व की दिव्य आभा से राष्ट्र के विविध क्षेत्रों को अलोकित किया था। अत: धर्म,संस्कृति एवं शिक्षा को उन्होनें अवश्य प्रभावित किया होगा। वेदान्त की शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु देश की चारों दिशाओं में उनके द्वारा स्थापित पीठ इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं। इन चारों पीठों की देख-रेख में अनेक शिक्षा संस्थाओं का प्रचलन हुआ होगा जैसा कि आज भी श्रृंगेरी पीठ के अधीन चलनेवाले संस्कृत विद्या मन्दिर हैं। इसी प्रकार समस्त देश में फैली हुई संस्कृत की शिक्षा-संस्थाएँ किसी सीमा तक आचार्य शंकर की शैक्षिक मान्यताओं से अवश्य प्रभावित हुई परिलक्षित होती है। प्राचीन काल से ही देश में अनेक प्रकार के साधु-समाज तथा संन्यासियों के संगठन राष्ट्रोंत्थान हेतु धर्म के प्रचार- प्रसार में कार्यरत रहे हैं जैसा

---

1. श्री बलदेव उपाध्याय- श्री शकराचार्य,हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1963, पृष्ठ सं0 4.

कि आज भी शंकर दर्शन के उद्‌भट विद्धान तथा शंकर सम्प्रदाय के संन्यासियों में शिरोमणि स्वामी करपात्री जी महाराज की संस्था 'धर्मसंघ' है। इस प्रकार की अनेक धार्मिक, शैक्षिक एवं सामाजिक तथा सांस्कृति संस्थाओं पर आचार्य शंकर की दार्शनिक, धार्मिक, शैक्षिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

जगदगुरू आचार्य शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बकाचार्य तथा बल्लभाचार्य आदि वैष्णव आचार्यो ने कमश: अपने नये मतों-विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवांद तथा शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की थी। इन वैष्णव आचार्यो की स्थापना का आधार भगवान् शंकराचार्य का दार्शनिक आधार औपनिषद दर्शन रहा है। इस प्रकार शंकराचार्य सहित उपर्युक्त रामानुजाचार्य आदि सभी आचार्य अपने युग के महान् विचारक रहे हैं। अत: आचार्य शंकर तथा अन्य रामनुजाचार्य आदि के दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन इस क्षेत्र में शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी हो सकता है,किन्तु शोध-प्रबन्ध के कलेवर की अनावश्यक वृद्धि के निराकरण के लिए समझा गया है कि प्रस्तावित शोध-प्रबन्ध को इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में अधिक न उलझाकर तड्विषयक 'मनन' संगंधी उपादेयता पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाय।

आधुनिक युग में भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में ऐसे बहुत से मनीषी है जिनके साथ आचार्य शंकर के दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन द्धारा दर्शन के क्षेत्र में शोध-कार्य हेतु नए आयामों की सृजना की जा सकती है। भारतवर्ष के आधुनिक युग के प्रसिद्ध विचारक स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष, रवीन्द्र नाथ टैगोर तथा महात्मा गांधी आदि के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं कि इन सभी विचारकों के दार्शनिक विचारों को वेदान्त के 'मनन' ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है। अत: अचार्य शंकर की इनके साथ तुलना करने से दर्शन

के शोध-क्षेत्र में नई स्थापनाओं की सम्भावना बढ़ जाती है। इसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों के दार्शनिक विचारों के साथ शंकराचार्य के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करना अपना महत्व रखता है; किन्तु प्रस्तावित शोध-प्रबन्ध को उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से सर्वथा मुक्त रखा गया है और शंकर की तार्किक विधि (मनन) पर विशेष विवेचना तक सीमित रखा गया है।

शंकराचार्य का संक्षिप्त जीवन-वृत :

शंकराचार्य के कुछ शिष्यों[1] ने उनके जीवन-वृत सम्बन्धी घटनाओं का संग्रह किया है जिनमें डा0 राधाकृष्णन[2] के अनुसार माधवकृत 'शंकर दिग्विजय' तथा आनन्द गिरि कृत 'शंकर विजय' की मुख्यता है। अत: आचार्य शंकर सम्बन्धी जीवन चरित्रो के वर्णन का आधार मुख्यत: ये दो ग्रन्थ ही रहे हैं। शंकर नम्बूदरी ब्राह्मण थे। इनके पूर्वजों का परिवार वैदिक धर्मानुयायी लब्ध प्रतिष्ठित ब्राह्मणों का था। इनके पितामह विद्याधिराज[3] अथवा विद्याधिप थे और माता का नाम 'शिव गुरू' था। इनकी माता के कई नामों का उल्लेख विभिन्न दिग्विजयों में सुभद्रा, सती, विशिष्टा और आर्याम्बा मिलता है, किन्तु माधवकृत 'शंकर दिग्विजय' में उल्लिखित 'सती'[4] नाम ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है । आनन्दगिरि के अनुसार उनकी माता का नाम विशिष्टा है ।[5] पर्याप्त समय तक नि:सन्तान रहने से इनके पिता शिवगुरू तथा माता सती के द्वारा उग्र तप से प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् शंकर ने शिवगुरू को एक रात्रि में ब्राह्मण वेश में दर्शन देकर पुत्र प्राप्ति का वरदान दिया । शिव के वरदान स्वरूप पुत्र प्राप्त होने के कारण ही इनका नामकरण शंकर हुआ ।

---

1. शंकर दिग्विजय (माधवकृत) श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर हरिद्वार, पृ0 8-9 पर डा0 औफ्रेक्ट की शंकर विजयग्रन्थों की सूची दृष्टव्य।
2. डा0 राधाकृष्णन - भारतीय दर्शन भाग-2,पृ0 440-41 राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली,1969।
3. Aiyar C N.&Tattva Bhushan Three Great Acharyas p9 (N Nateson madras)
4. माधवाचार्य, शंकर दिग्विजय (2.7)
5. (निर्णय सागर प्रेस आनन्दगिरि शंकर विजय पृ0 9)

आचार्य शंकर का शैशव :

कुशाग्रबुद्धि बालक शंकर जब पैरों से चलने लगे तभी उन्होंने अपनी मातृभाषा मलयालम सीख ली[1] और दूसरे ही वर्ष में उन्हें अक्षर ज्ञान हो गया ।[2] उन्होंने अपने पिताजी तथा माता द्वारा जो काव्य और पुराण सुने, उनको हृदयंगम करने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई ।[3] गुरू के यहाँ शिक्षा ग्रहण करते समय बालक शंकर ने अपने गुरू को भी कभी कष्ट नहीं दिया ।[4] उनके तीन वर्ष का होने पर उनके पिता का निधन हो गया । पाँच वर्ष की आयु में माता ने उनका उपनयन संस्कार कराकर उन्हें विधिवत् अध्ययन के लिये गुरूकुल भेजा । दो वर्ष के अन्दर ही उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर समस्त वेद-शास्त्र, वेदांग, दर्शन, इतिहास पुराण आदि गन्थों का गहनतम अध्ययन करके अपनी आयु के सातवें वर्ष में सर्वशास्त्रपारंगतता प्राप्त की।[5] तदुपरान्त बालक शंकर अपने घर लौटकर माता की सेवा में लग गये ।

जब शंकर की विद्वता तथा अध्ययन-अध्यापन-कुशलता का जनश्रुति से ज्ञान तत्कालीन केरल नरेश राजशेखर को हुआ तो वह स्वयं उनके पास आये और इसी प्रकार समय-समय पर अन्यान्य ज्ञानोपार्जन के जिज्ञासु विद्यार्थी गण विद्वान शंकर के अध्यापन से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके ।[6] इससे आचार्य शंकर के जन्मजात शिक्षक होने का स्पष्ट आभास होता है ।

शंकर को अपनी माता से अनन्य स्नेह था। वह अनकी प्रसन्नता के लिये सदैव प्रत्यन्नशील रहते थे । माता ने जब उनके पाणिग्रहण की इच्छा प्रकट की तो शंकर ने अपने सन्यास ग्रहण करने का दृढ़ निश्चय प्रकट कर दिया, किन्तु

1. (श्री शंकरदिग्विजय- माधवकृत) 4-1 पृष्ठ सं0 91, श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर, हरिद्वार।
2. 3. वही 4, 2, पृष्ठ 92,
4. वही - पृष्ठ 92
5. वही 5,1 पृष्ठ 130
6. वही 5, 32 पृष्ठ 137 ।

ममतामयी माँ भला ऐसा कैसे स्वीकार कर सकती थी? विधाता के विधान को कौन बदल सकता है? शंकर की अवतारणा लोक-कल्याणार्थ हुई थी ।[1] अतः उनका संन्यासी होना निश्चित ही था । एक दिन अपनी माता के साथ स्नान करते समय एक ऐसी घटना घटी कि माता को अपने एक मात्र स्नेह भाजन पुत्र को संन्यास की अनुमति देनी पड़ी। मगर के द्वारा शंकर का पैर पकड़ लिये जाने पर उनकी प्राण रक्षा के लिये, माता ने लोभवंश शंकर को सन्यास ग्रहण करने की आज्ञा दे दी। फलतः आठ वर्ष की अवस्था में बालक शंकर मानसिक रूप से संन्यासी होकर घर लौटा, किन्तु अपने कुटुम्बी जनों में अपनी सम्पत्ति बाँटकर तथा अपनी माता के अन्तिम संस्कार की प्रतिज्ञा करके विधिवत् संन्यास ग्रहण करने के लिये घर से दूर चला गया ।

संन्यास की दीक्षार्थ गुरू की खोज :

शंकर को अपने अध्ययन काल में पता चला था कि कहीं भाष्यकार महर्षि पतन्जलि के अवतार गोविन्द भगवत्पाद इस भूतल पर तपश्चर्या में लीन हैं। उन्होंने महर्षि शुकदेव के शिष्य भगवान् गौडपादाचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी । इस प्रकार के उच्चकोटि के विद्वान गुरू गोविन्दाचार्य से विधिवत सन्यास की दीक्षा ग्रहण कर आचार्य शंकर की प्रसन्नता असीम हो उठी। उन्हीं के सान्निध्य में लगभग तीन वर्ष तक रहकर शंकर ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा अन्य वेदशास्त्रों आदि का विधिवत् अध्ययन किया । गुरू ने शिष्य की विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें काशी जाकर अद्वैत वेदान्त का प्रचार-प्रसार करने की आज्ञा दी ।

काशी में शंकराचार्य का प्रवास :

काशी-स्थित मणिकर्णिका घाट पर अद्वैत तत्व का उपदेश गुरू की आज्ञानुसार आचार्य शंकर ने करना आरम्भ कर दिया । काशीवास में ही प्रथम

---

1. श्री शंकर दिग्विजय (माधवकृत) 1.4.1, श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर हरिद्वार, पृ0 सं0 13.14

शिष्य के रूप में सनन्दन को दीक्षा दी । एक दिन स्नानार्थ गंगातट पर जाते समय एक चार कुत्ते वाले चाण्डाल को देखकर उसे मार्ग से हट जाने के लिए कहने पर उसने कहा कि अद्वैत आत्मा में भेद की कल्पना करनेवाला व्यक्ति वैदिक धर्म की रक्षा अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किस प्रकार कर सकता है? अतः तुम्हारा सन्यास तथा ज्ञान अपूर्ण एवं निष्फल है । चाण्डाल के इन शब्दों को सुनकर आचार्य के कई नामों का उल्लेख विभिन्न दिग्विजयों में सुभद्रा, सती, विशिष्ट और आर्याम्बामिलता है किन्तु माधवकृत 'शंकर दिग्विजय' में उल्लिखित 'सती'[1] नाम ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है । आनन्दगिरि के अनुसार उनकी माता का नाम विशिष्टा है ।[2] पर्याप्त समय तक निःसन्तान रहने से इनके पिता शिवगुरू तथामाता सती के द्वारा उग्र तप से प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् शंकर ने शिवगुरू को एक रात्रि में ब्राह्मण वेश में दर्शन देकर पुत्र प्राप्ति का वरदान दिया । शिव के वरदान स्वरूप पुत्र प्राप्त होने के कारण ही इनका नामकरण शंकर हुआ ।

आश्चर्यान्वित होकर शीघ्र अपनी त्रुटि को अनुभव करते हुए उससे क्षमा मांगकर कहने लगे - "जिस दृढ़ बुद्धिपुरूष के लिए यह सम्पूर्ण विश्व सदा आत्मा रूप से प्रकाशित होता है, वह चाहे ब्राहमण हो, चाहे श्वपच (चाण्डाल), वह वन्दनीय है। यह मेरी दृढ़ निष्ठा है ।"[1] इतना कहते ही शंकर को चाण्डाल के स्थान पर भगवान् विश्वनाथ दृष्टिगोचर हुए । आचार्य शंकर को ब्रह्मसूत्र पर भाष्य-प्रणयन एवं समस्त अवैदिक मतों के खण्डन की आज्ञा देकर भगवान् शंकर अदृश्य हो गये और आचार्य विश्वनाथ भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य करके बदरिकाश्रम की ओर चल पड़े ।

---

1. श्री शंकरदिग्विजय-(माधवकृत) 6-36, श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, पृ0 191

भाष्य-प्रणयन :

बदरिकाश्रम के उत्तर में स्थित व्यासगुहा में चार वर्षो तक वेदान्त के विद्वान महर्षियों के साथ गम्भीर विचार-विमर्श के उपरान्त ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषद् तथा सनत्सुजातीय पर प्रामाणिक एवं विद्वतापूर्ण भाष्य ग्रन्थों की रचना आचार्य ने की ।[1] यहीं रहते हुए वे अपने शिष्यों को भाष्य ग्रन्थों का अध्यापन कराते थे । एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करा दिया । आचार्य शंकर के सम्मुख अब साक्षात् महर्षि वेदव्यास भगवान् उपस्थित थे जो कि उन्हें और 16 वर्ष की आयु प्रदान कर कुमारिल भट्ट तथा मण्डनमिश्र आदि विद्वानों से शास्त्रार्थ करने की आज्ञा देकर अन्तर्ध्यान हो गये । अतः शंकराचार्य कुमारिल भट्ट से मिलने के लिए उत्तरकाशी से प्रयाग की ओर चल दिये ।

कुमारिल भट्ट से आचार्य शंकर का मिलन :

आचार्य शंकर और मीमांसा दर्शन के प्रख्यात विद्वान् कुमारिल भट्ट का मिलन भारतीय इतिहास की अद्वितीय एवं अद्भुत घटना है । यह इतिहास की एक विडम्बना ही कही जायेगी कि जब भगवान् शंकराचार्य कुमारिल भट्ट के समीप पहुंचे तो वे त्रिवेणी के तट पर तुषानल में अपने शरीर को दग्ध कर रहे थे । उनके शरीर का अधोभाग दग्ध हो चुका था। आचार्य शंकर का दर्शन कर कुमारिल भट्ट प्रसन्न हुए, किन्तु अपनी प्रतिज्ञा के कारण उन्हें स्वयं को जलाना पड़ रहा था । कुमारिल को अपने बौद्ध गुरू का अपमान करने तथा ईश्वरवाद का खण्डन करने पर अतीव ग्लानि थी । अतः वह अग्निदाह द्वारा अपनी जीवनलीला को समाप्त कर रहे थे । शंकराचार्य से विनम्र भाव से उन्होंने क्षमा मांगते हुए उन्हें माहिष्मतीपुरी के निवासी उद्भट विद्वान शिष्य मण्डनमिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर अपना सहयोगी बनाने को कहा ।

---

1. वही 6-60, पृ0 200 ।

शंकराचार्य का मण्डनमिश्र के साथ शास्त्रार्थ :

इन्दौर रियासत में नर्मदा नदी के किनारे पर स्थित माहिष्मती नामक नगरी में मीमांसा दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित मिश्र रहते थे । उनकी परम विदुषी पत्नी 'अम्बा' अथवा उम्बा थी जो अपने वैदुष्य के कारण समाज में भारती, उभय भारती, शारदा के नाम से प्रसिद्ध थी । मण्डन मिश्र द्वार वन्द कर श्राद्ध कर रहे थे । अतः आचार्य योगबल से आकाश मार्ग का अवलम्बन कर गृह में प्रविष्ट होकर कहने लगे कि वेदान्त के सिद्धान्त का प्रचार करना ही मेरे जीवन का प्रधान लक्ष्य है, इसे छोड़कर मुझे कोई वस्तु प्रिय नही है। इस वेदान्त की महिमा अलौकिक है । यह संसार के सन्ताप को दूर करने के लिए चन्द्रमा के समान शीतल है, परन्तु मुझे इस बात का खेद है कि कर्ममार्ग में निरत होकर आपने इसकी अवहेलना की है ।[1] एक नवयुवक संन्यासी की यह गर्वोक्ति सुनकर मण्डन मिश्र क्रोध में व्याकुल हो उठे और उन्होंनें आचार्य की चुनौती स्वीकार कर शास्त्रार्थ के लिए लिए अपनी सहमति प्रकट कर दी । दोनों विद्वानों का शास्त्रार्थ मिश्र जी की पत्नी भारती की मध्यस्थता में प्रारम्भ हुआ ।भारती ने दोनों के गले में पुष्पमालाएं पहनाकर कहा कि जिसकी माला मलिन हो जायेगी, वही पराजित समझा जायेगा । शंकराचार्य अद्वैत सिद्धान्त का मण्डन तथा मण्डनमिश्र के कर्मवाद का खण्डन कर रहे थे और मण्डनमिश्र कर्मवाद का मण्डन तथा अद्वैतवाद का खण्डन शास्त्रार्थ चलते-चलते कई दिन व्यतीत हो गये । अन्ततोगत्वा मण्डनमिश्र की कण्ठमाला मलिन हो गई और उन्होंनें आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार कर उनसे संन्यास की दीक्षा देने की प्रार्थना की ।

अपने पति मण्डनमिश्र को पराजित हुआ देखकर 'भारती' ने शंकराचार्य को अपने साथ शास्त्रार्थ की चुनौती दिया और उसे परास्त कर ही विजयश्री का

1. श्री शंकरदिग्विजय (माधवकृत) 8-37, श्री श्रवननाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, पृ0 263-64

वरण करने को कहा । अतः आचार्य शंकर को भारती से शास्त्रार्थ करना पड़ा । भारती द्वारा कामशास्त्र के प्रश्न पूछने पर आचार्य शंकर ने निरूत्तर होकर उसके लिए एक मास की अवधि मांगी । शंकराचार्य ने तुरन्त अमरूक राजा के मृतक शरीर में योगबल से प्रवेश कर काम सवन्धी समस्याओं का अध्ययन कर अपने शरीर में प्रवेश करके भारती को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया । डॉ0 राधाकृष्णन के अनुसार, अमरूक के मृत शरीर में शंकर के प्रवेश की कहानी यह प्रकट करती है कि आचार्य शंकर योग-सबन्धी क्रियाओं में निपुर्ण थे ।[1] अब मण्डनमिश्र को गृहस्थ त्यागकर आचार्य का शिष्य बनकर संन्यासी-धर्म की दीक्षा ग्रहण करनी पड़ी । ये ही मण्डनमिश्र आगे चलकर सुरेश्वराचार्य के नाम से श्रृंगेरी पीठ के प्रधान आचार्य बने ।

आचार्य शंकर की दक्षिण यात्रा तथा मठस्थापन एवं दिग्विजय :

मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ में विजयी होने के उपरान्त आचार्य शंकर की ख्याति दूर तक फैल गई । सुरेश्वराचार्य के साथ महाराष्ट्र जाकर श्रीपर्वत पर स्थित शैवकापालिकों के अड्डों को उन्होनें समाप्त किया । गौकर्ण क्षेत्र की यात्रा के बाद हरिशंकरतीर्थ क्षेत्र में जाकर फिर आचार्य की श्रीबलि नामक अग्रहार में एक ऐसे ब्राह्मण बालक से भेंट हुई जिसकी प्रतिभा नितान्त सुप्तावस्था में होने से वह बालक पागल-सा दृष्टिगोचर होता था । आचार्य के सम्मुख आते ही उसकी प्रतिभा मुखरित हो उठी और वह हस्तामलकस्तोत्र में अपना परिचय देने लगा।

आचार्य शंकर का परमधाम गमन :

आचार्य शंकर का अन्तिम जीवन कहां व्यतीत हुआ ? इस विषय में विद्वान एकमत नहीं है । माधवकृत शंकर दिग्विजय के अनुसार काश्मीर के सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण के पश्चात् आचार्य बदरीनाथ चले गये । कुछ दिनों पश्चात दत्तात्रेय के

---

1. डा0 राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन भाग -2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गट दिल्ली -6 पृष्ठ सं0 441

आश्रम में रहकर कैलाश में स्थित केदारनाथ में ही इस भौतिक जगत् को छोड़कर आचार्य शंकर सदैव के लिये अमर हो गये । यह मान्यता श्रृंगेरी पीठानुसार है और अधिकांश विद्वान् सन्यासी इसे ही प्रामाणिक मानते है । डा० राधाकृष्णन् ने भी केदारनाथ में ही उनकी महासमाधि लेने के मत का अनुमोदन किया है ।[1]

केरल तथा कामकोटि पीठ की परम्परा इससे भिन्न है । 'केरलचरित' पृष्ठ सं० 585 में शंकर को अपना पार्थिव शरीर केरल देश में परित्याग करने वाला लिखा है । कामकोटि पीठ की परम्परा के अनुसार आचार्य अपने सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार एवं धर्म-रक्षण के कार्य को पूरा कर कांची में अपना अन्तिम जीवन व्यतीत करने के लिए चले आये थे । यहीं उन्होंने भौतिक जगत् छोड़कर परमधाम गमन किया था । इस प्रकार पर्याप्त मतभेद होने पर भी इतना बहुमत से निश्चित है कि आचार्य शंकर 32 वर्ष की अल्पायु में भारत भूमि पर वैदिक धर्म की रक्षा कर तथा इसके लिये सुन्दर व्यवस्था कर इस धराधाम से मुक्त होकर ब्रह्मलीन हुए ।[2]

शांकर-साहित्य

(संदर्भित साहित्य का सर्वेक्षण) :

शंकराचार्य के नाम से प्रचलित लगभग 280 ग्रन्थ हैं । इनमें आदि शंकराचार्य की कृतियों का निर्णय करना एक विषम पहेली है । इसके प्रधानतया दो कारण हैं । एक तो आचार्य द्वारा स्थापित पीठों के अध्यक्षों के ग्रन्थ भी शंकराचार्य के नाम से लिखे गए हैं । दूसरे बाद के मठाधिपति शंकराचार्यो ने भी स्वयं को भगवत्पाद गोविन्दाचार्य का शिष्य अपने ग्रन्थों के अन्त में लिखा है। अत: आदि जगद्गुरू शंकराचार्य तथा परवर्ती शंकराचार्यो की कृतियों में भेद स्थापित करना एक कठिन समस्या बन गई है । फिर भी शंकर साहित्य की अन्तरंग परीक्षा करके विद्वानों ने आदि जगद्गुरू शंकराचार्य की रचनाओं का पता

1. डा0 राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन भाग -2 राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली -6 पृष्ठ सं0 442.
2. श्री बलदेव उपाध्याय - श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृ0 336.

लगाया है । आचार्य की रचना-शैली नितान्त प्रौढ़ एवं अत्यन्त सुबोध है । वे सरल प्रसादमयी रीति के उपासक हैं जिसमें स्वाभाविकता ही परमभूषण है ।[1] इसी आधार पर आचार्य के ग्रन्थों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है ।

आदि शंकर की साहित्यिक कृतियों को निम्न चार प्रकार की श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है ।[2] -

1. भाष्य ग्रन्थ, 2. स्तोत्र ग्रन्थ, 3. प्रकरण ग्रन्थ, 4. तन्त्र ग्रन्थ ।

1. भाष्य ग्रन्थ :- उनके भाष्य ग्रन्थ दो प्रकार के हैं -

(क) प्रस्थानत्रयी - ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा गीता के भाष्य ग्रन्थ और

(ख) इतर ग्रन्थों के भाष्य (विष्णु सहस्रनाम आदि)

(क) प्रस्थानत्रयी के भाष्य ग्रन्थ :

1. ब्रह्मसूत्र भाष्य - आचार्य शंकर की सर्वोत्कृष्ट तथा सुन्दर एवं प्रौढ़ रचना के रूप में इस भाष्य ग्रन्थ की प्रसिद्धि है । वाचस्पति मिश्र जैसे प्रौढ़ दार्शनिक तथा शंकर भाष्य के प्रसिद्ध व्याख्याकार ने तो शांकर-भाष्य के सम्बंध में अपने उद्गारों में यहाँ तक कह दिया है कि यह केवल प्रसन्न, गम्भीर ही नहीं है वरन् गंगाजल के समान पवित्र है । वाचस्पति मिश्र का कहना है कि जिस प्रकार गलियों का जल गंगाजल में मिलकर पवित्र हो जाता है उसी प्रकार हमारी व्याख्या (भामती) भी इस भाष्य के संसर्ग के पवित्र हो जायेगी ।[3]

2. गीता भाष्य : विश्वविख्यात ग्रन्थ रतन 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर आचार्य शंकर का भाष्य उनकी अनूठी विद्वता का परिचायक है । आचार्य के अनुसार गीता अद्वैतमूलक ज्ञानपरक ग्रन्थ है । केवल तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति

---

1 श्री बलदेव उपाध्याय - श्री शंकराचार्य हिन्दुस्तानी एकडमी, इलाहाबाद, पृ0 सं0 149.

2. डा0 राममूर्ति शर्मा-शंकराचार्य, साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ, 1964. पृष्ठ संख्या 7.

3 वाचस्पति मिश्र - भामती (मंगल श्लोक 6-7 निर्णय सागर, प्रेस बम्बई

सम्भव है । उनके अनुसार गीता में ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मोक्ष-प्राप्ति का निषेध सिद्ध है ।[1]

2. उपनिषद् भाष्य : आचार्य के अद्‌वैत सिद्धान्त का प्रमुख आधार उपनिषद्‌दर्शन है । उन्होंने प्रमुख 12 उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है [2] - (1) ईश (2) केन (3) कठ (4) प्रश्न (5) मुण्डक (6) माण्डूक्य (7) तैत्तरीय (8) ऐतरैय (9) छान्दोग्य (10) बृहदारण्यक (11) श्वेताश्वर (12) नृसिंहतापिनी ।

इन उपनिष्द् भाष्यों में केनौपनिषद् का वाक्य भाष्य, श्वेताश्वरौपनिषद् का भाष्य, माण्डूक्योपनिषद् का भाष्य .नृसिंहताप नीयोपनिष्द् का भाष्य आचार्य-शंकरकृत होने में अनेकशः विद्वानों को आपत्ति है । शेष भाष्यों को शंकरप्रणी मानने में प्रायः सभी विद्वान एकमत हैं; किन्तु डॉ0 **राधाकृष्णन्** ने उपर्युक्त 12 उपनिषद् भाष्यों को आचार्यकृत स्वीकार करते हुए अथर्वशिक्षा तथा अथर्वशिरस के शंकर भाष्यों की भी चर्चा की है।[3]

(ख) इतर ग्रन्थों पर शंकर भाष्य :

प्रस्थानत्रयी के भाष्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों पर भी आचार्य शंकरप्रणीत भाष्य उपलबध हैं किन्तु निम्नलिखित भाष्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य भाष्यों को आद्‌य शंकराचार्य की रचना स्वीकार नहीं किया जाता है ।[4]

(1) विष्णुसहस्रनाम भाष्य : सुप्रसिद्ध विष्णुसहस्रनाम ग्रन्थ के प्रत्येक नाम की युक्तियुक्त व्याख्या आचार्य ने की है ।

---

1. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता शंकर भाष्य (उपोद्‌घात) गीता प्रेस गोरखपुर ।
2. श्री बलदेव उपाध्याय - श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं0 152।
3. डा0 राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन, भाग-2, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृष्ठ सं0 444 पर पादटिप्पणी ।
4. श्री बलदेव उपाध्याय- श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 155-56 ।

(2) **सनत्सुजातीय भाष्य** : धृतराष्ट्र के मोह के निवारण-हेतु सनत्सुजात ऋषि द्वारा प्रदत्त उपदेश का वर्णन महाभारत [1] में उपलब्ध होता है । अत: इसकी आध्यात्मिक महत्ता के कारण आचार्य का इस पर भाष्य मिलता है ।

(3) **ललिता त्रिशती भाष्य** : इस ग्रन्थ में ललिता देवी के तीन सौ नामों का उल्लेख मिलता है । ललितोपासक आचार्य शंकर ने इस नामों की व्याख्या उपनिषद् तथा तन्त्र ग्रन्थों के आधार पर की है ।

(4) **माण्डूक्यकारिका भाष्य** : भगवान् शंकराचार्य के परमगुरू गौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् के ऊपर कारिकाओं का प्रणयन किया था । इन्हीं कारिकाओं के ऊपर आचार्य ने अपनी भाष्य रचना की है ।

निम्नलिखित भाष्य ग्रन्थों को आचार्यकृत मानने में विद्वानों को सन्देह बना हुआ है[2] -

1. कोषतकि-उपनिषद् भाष्य, 2. मैत्रायणीय उपनिष्द् भाष्य, 3. कैवल्य उपनिषद् भाष्य, 4. महानारायणोपनिषद् भाष्य, 5. हस्तामलकस्तोत्र भाष्य,[3] 6. अध्यात्मपटल भाष्य,[4] 7. गायत्री भाष्य, 8. सन्ध्या भाष्य ।

निम्नलिखित कतिपय टीकाओं को शंकराचार्य-प्रणीत माना जाता है किन्तु उनकी रचना शैली तथा विषय प्रतिपादन को देखकर यह मत खंडित हो जाता है[5]-

1. अपरोक्षानुभवव्याख्या 2. अमरूशतक टीका 3. आनन्द लहरी टीका 4. आत्मबोध टीका 5. उत्तरगीता टीका 6. उपदेशसाहस्री वृत्ति 7. एक श्लोक व्याख्या 8. गोपालतापनीय भाष्य 9. दक्षिणामूर्ति अष्टक टीका 10. पन्चदीपप्रकरणी टीका 11. पन्चीकरण प्रक्रिया व्याख्या 12. परमहंस उपनिषद् हृदय 13. पातन्जलयोग सूत्र

---

1. महाभारत उद्योग पर्व - (42-46।
2. डा० राममूर्ति शर्मा-शंकराचार्य, साहित्य भण्डार सुभाषबाजार, मेरठ, पृ० 21
3. आचार्य ग्रन्थावली (श्रीरङ्गम्) 16 वाँ खण्ड, पृ० 163-183।
4. अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित ।
5. श्री बलदेव उपाध्याय - श्री शंकराचार्य - हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 156-157।

भाष्य विवरण 14. ब्रह्मगीता-टीका 15. भट्टि काव्य-टीका 16. राजयोग- भाष्य 17. लघुवाक्यवृत्ति-टीका 18. ललितासहस्रनाम भाष्य 19. विजृम्भित योगसूत्र भाष्य 20. शतश्लोकी व्याख्या 21. संक्षेप शारीरिक भाष्य 22. शिवगीता भाष्य 23. षट्पदी टीका 24 संक्षेप शारीरिक भाष्य 25 सूत संहिता भाष्य 26. सांख्यकारिका टीका ।[1]

(2) **स्तोत्र ग्रन्थ :**

आचार्य शंकर यद्यपि अद्वय निर्गुण ब्रह्म के समर्थक थे तथापि सगुण ब्रह्मोपासना को व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानते हुए उन्होंने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति तथा कृष्ण आदि देवताओं की उपासना में सुन्दर स्तोत्रों का प्रणयन किया था । आचार्य-प्रणीत इन स्तोत्रों की साहित्यिक एवं दार्शनिक दोनों दृष्टियों से ही महत्ता है । आचार्य-प्रणीत इन स्तोत्रों की साहित्यिक एवं दार्शनिक दोनों दृष्टियों से ही महत्ता है । नीचे शंकराचार्य के नाम से विख्यात स्तोत्रों का विरण प्रस्तुत किया जा रहा है [2]–

1. **गणेश स्तोत्र :** (1) गणेश पन्चरत्न (2) गणेश भुजड्ग प्रयात (3) गणेशाष्टक (4) वरद गणेशस्तोत्र ।

2. **शिवस्तोत्र :** (1) शिवभुजड्ग (2) शिवानन्द लहरी (3) शिवपादादि केशान्तस्तोत्र (4) वेदसार शिवस्तोत्र (5) शिवकेशादि पादान्त स्तोत्र (6) शिवापराधक्षश्रमायणस्तोत्र (7) सुवर्णमालास्तुति (8) दक्षिणामूर्ति वर्णमाला (9) दक्षिणामूर्ति अष्टक (10) मृत्युन्जय मानसिक पूजा (11) शिवनामावल्यष्टक (12) शिवपंचाक्षर (13) उमामहेश्वर (14) दक्षिणामूर्ति स्तोत्र (15) काल-भैरवाष्टक (16) शिवपंचाक्षर नक्षत्रमाला (17) दादशलिंग स्रोत (18) दशश्लोकी स्तुति।

3. **देवीस्तोत्र :** (1) सौन्दर्य लहरी (2) देवीभुजड्ग स्तोत्र (3) आनन्द लहरी (4) त्रिपुर सुन्दरी-वेदपाद (5) त्रिपुर सुन्दरी मानस पूजा (6) देवी चतुर-

---

1. महामहोपाध्याय गोपिनाथ कविराज, जयमंगला की भूमिका, पृ0 8-9 (कलकत्ता आरियन्टल सीरीज में प्रकाशित)
2. डा0 राममूर्ति शर्मा-शंकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार मरठ शहर 1964. पृष्ठ न0 22।

षष्ठ्युपचार पूजा (7) त्रिपुरसुन्दर्यष्टक (8) ललित पंचरर्तन (9) कल्याणवृष्टिस्तव (10) नवरत्न मालिका (11) मन्त्रमात्रिका पुष्पमाला (12) गौरीदशक (13) भवातीभुजड्ग (14) कनक धारा (15) अन्नपूर्णाष्टक (16) मीनाक्षी पंचरत्न (17) मीनाक्षी स्तोत्र (18) भ्रमराम्बाष्टकम् (19) शारदा भुजड्गप्रयाताष्टक ।

4. विष्णुस्तोत्र : (1) कामभुजड्ग प्रयात (2) विष्णु भुजड्ग प्रयात (3)विष्णुपादादि केशान्त (4) पाण्डुरंगाष्टक (5) अच्युताष्टक (6) कृष्णाष्टक (7) हरिमीडंस्तोत्र (8) गोविन्दाष्टक (9) भगवन्-मानस-पूजा (10) जगन्नाथाष्टक ।

5. युगल देवता स्तोत्र : (1) अर्धनारीश्वर स्तोत्र (2) उमामहेश्वर स्तोत्र (3) लक्ष्मीनृसिंह पन्चरत्न (4) लक्ष्मी नृसिंह करूणारसस्तोत्र ।

6. नदी-तीर्थ-स्तुति-परक-स्तोत्र : (1) नर्मदाष्टक (2) गंगाष्टक (3) यमुनाष्टक (4) मणिकर्णिकाष्टक (5) काशीपन्चक ।

7. साधारण स्तोत्र : (1) हनुमत् पंचरत्न (2) सुब्रह्मण्य भुजड्ग (3) प्रातःस्मरण स्तोत्र (4) गुर्वष्टक ।

शंकराचार्य के नाम से विख्यात उपर्युक्त 64 स्तोत्र आचार्य शंकर प्रकाशित रचनाओं में स्वीकार किये जाते है ।[1] परन्तु शंकर के नाम से चलित कम-से-कम 240 स्तोत्र छपे या हस्तलिखित रूप में उपलब्ध होते है । इन स्तोत्रों की शैली तथा प्रतिपाद्य विषय के अनुशीलन से ये सब आदि शंकर की रचनाएँ प्रतीत नहीं होती है ।[2] उपर्युक्त स्तोत्रों में निम्नलिखित रचनाओं को आचार्य की प्रख्यात एवं प्रामाणिक कृतियाँ माना जाता है-

(1) चर्पट पंजरिका या मोहमुद्गर (2) द्वादश पंजरिका (3) षट्पदी या विष्णुषट्पदी (4) मनीषा पंचक (5) सौपान पंचक या उपदेश पंचक[3] (6) आनन्द-लहरी

---

1 शकर ग्रन्थावली-वाणी विलास प्रेस द्वारा प्रकाशित ।

2 डा0 राममूर्ति शर्मा-श्री शकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मरठ, पृ0 231।

4. शकर ग्रन्थावली-वाणी विलास प्रेस द्वारा प्रकाशित, भाग 16, पृष्ठ सं0 127 ।

(7) गोविन्दाष्टक[1] (8) दक्षिणामूर्तिस्तोत्र (9) दशाश्लोकी या चिदानन्द दश श्लोकी या चिदानन्द स्तवराज (10) हरिहरमीडेस्तोत्र (11) शिवभुजङ्ग प्रयात (12) सौन्दर्य लहरी ।

3. **प्रकरण–ग्रन्थ :**

जन साधारण तक अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त को पहुँचाने के लिये आचार्य ने छोटे-छोटे ग्रन्थों का निर्माण किया था जिनमें वेदान्त विषय का वर्णन बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया गया है । वेदान्त तत्व–प्रतिपादक होने से ये 'प्रकरण–ग्रन्थ' कहलाते हैं, जिनमें वेदान्त के साधनभूत वैराग्य, त्याग, शमदमादि सम्पत्ति का तथा अद्वैत के मूल सिद्धान्तों का बड़ा ही विशद विवेचन है ।[2] ऐसे प्रकरण-ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है किन्तु सभी को आचार्य की रचना स्वीकार नहीं किया जाता है । नीचे उन प्रकरण ग्रन्थों की सूची दी जा रही है जिनको अधिकतर विद्वान् आचार्य-प्रणीत मानते हैं ।[3]

1. **अपरोक्षानुभूति :** इस ग्रन्थ में 144 श्लोकों में अपरोक्ष अनुभव के साधन तथा स्वरूप का वर्णन है ।

2. **आत्मबोध :** 68 श्लोकों में आत्मा के स्वरूप का विशद विवेचन है।

3. **उपदेश साहस्री :** इस ग्रन्थ के दो भाग हैं – (1) गद्य-प्रबंध (2) पद्य-प्रबंध जिसमें 19 प्रकरण हैं ।

4. **पन्चीकरण प्रकरण :** इसमें पन्चीकरण का गद्य में वर्णन किया गया है।

5. **प्रबोध सुधाकर :** इसमें 257 आर्या छन्द में वेदान्त तत्व का सुन्दर निरूपण किया गया है ।

---

1. वही भाग-18, पृ0 56-58 ।
2. श्री बलदेव उपाध्याय-श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, पृष्ठ सं0 162 ।
3. वही पृष्ठ सं0 163 से 169 द्रष्टव्य ।

6. **लघुवाक्यवृत्ति** : 18 अनुष्टुप् छन्दों वाले श्लोकों में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है ।

7. **वाक्यवृत्ति** : 'तत्वमसि' पद के तत्-त्वं के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का निरूपण 5 श्लोकों में किया गया है ।

8. **शतश्लोकी** : इस ग्रन्थ में 100 श्लोकों में वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है ।

9. **विवेक चूड़ामणि** : इसमें 581 सुन्दर श्लोकों में अद्वैत वेदान्त का बढ़ा सुन्दर विवेचना किया गया है ।

उपर्युक्त 9 प्रकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त नीचे ऐसे प्रकरण ग्रन्थों को लिखा जा रहा है जिनका आचार्य-प्रणीत होना सन्देहास्पद है -

(1) अद्वैत पन्चरत्न (2) अद्वैतानुभूति (3) अनात्म श्रीविगर्हण प्रकरण (4) उपदेश पंचक (5) एक श्लोकी (6) कौपीन पंचक (7) जीवन्मुक्तानन्द लहरी (8) तत्वबोध (9) तत्वोपदेश (10) धन्याष्टक (11) निर्गुणमानसपूजा (12) निर्वाणमन्जरी (13) निर्वाण षटक् (14) परापूजा (15) प्रश्नोत्तर रत्नमालिका (16) प्रौढानुभूति (17) ब्रह्मज्ञानावली माला (18) ब्रह्मानुचिन्तन (19) मणिरत्नमाला (20) मायापन्चक (21) मुमुक्षु पन्चक (22) योगतारावली (23) विज्ञाननौका (24) वैराग्य पन्चक (25) सदाचारानुसन्धान (26) सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार-संग्रह (27) सर्वसिद्धान्त सार संग्रह (28) स्वात्मनिरूपण (29) स्वात्म प्रकाशिका ।

उपर्युक्त प्रकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त 43 श्लोकों में निबद्ध 'वाक्यसुधा' को विद्वान् आचार्य प्रणीत नहीं मानते हैं । इस प्रकार भगवान् शंकराचार्य के नाम से प्रचलित 39 प्रकरण-ग्रन्थों में उपर्युक्त 9 ग्रन्थों को ही असन्दिग्ध रूप में आचार्य की कृतियों के रूप में स्वीकार किया जात है ।

(4) **तन्त्र-ग्रन्थ** : आचार्य शंकर ने अपने युग के सिद्धतान्त्रिकों में अग्रगण्य थे । इनके द्वारा रचित 'सौन्दर्य लहरी' एवं 'प्रपंचसार' तांत्रिक साहित्य की अमूल्य निधि हैं ।

2

भारतीय दर्शन में 'मनन' की प्रासंगिकता

दर्शन की प्रायः पूर्वापर समस्त विचारधाराओं में मनन को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में पूर्णतया उपयोगी एवं प्रामाणिक नहीं स्वीकार किया गया है। भारतीय दर्शन में आत्मवादी अद्वैत वेदान्त एवं अनात्मवादी माध्यमिक तथा योगाचार विज्ञानवाद परमतत्व के ज्ञान के लिए मनन (तर्क) को उपयुक्त नहीं मानते हैं। तत्व बुद्धि-विकल्पों, इन्द्रियानुभवों एवं प्रमाणादि का विषय नहीं है। तत्व का ज्ञान तर्क की सीमा से परे है। तत्व चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है (शून्यवाद)। तत्व अनिर्वचनीय है; बुद्धिगम्य नहीं (अद्वैत वेदान्त)। बुद्धि व्यावहारिक है एवं तत्व पारमार्थिक बुद्धि का प्रायः खण्डन हो जाता है और तत्त्व त्रिकालाबाधित सत् है। बुद्धि मिथ्या है और तत्व सत् है। अतः मिथ्या साधन से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। बुद्धि को ज्ञान के लिए विनष्ट होना पड़ता है। तत्व को बुद्धि या तर्क से परे मात्र विशुद्ध ज्ञान या प्रज्ञा-पारमिता की स्थिति में ही जाना जा सकता है। यह सर्वोच्च ज्ञान अनुभूति का विषय है। अपरोक्षानुभूति की स्थिति में विषयी तथा विषय, ज्ञाता तथा ज्ञान, जीवन तथा जगत्, कारण एवं कार्य के नित्यानित्यादि भेद समाप्त हो जाते है। उभयतोपाशात्मक बुद्धि से परे आन्तरिक शक्ति के द्वारा ही परम सत्ता का यथार्थ ज्ञान संभव होता है। ज्ञान होते ही ज्ञाता तथा ज्ञेय का भेद लुप्त हो जाता है। साधक या जीवात्मा अपने सांसारिक एवं मिथ्यास्वरूप को भूलकर स्वयंप्रकाश, विशुद्ध विज्ञान एवं अद्वैत स्वरूप में स्थित होता है। यही मोक्ष की स्थिति है।

यद्यपि परमार्थ ज्ञान अनुभूति में ही संभव है, तथापि अनुभूति की स्थिति विना श्रवण, मनन के संभव नहीं है। एक तरफ बौद्धिक तर्क अनुभूति की व्याख्या करता है। दूसरी तरफ स्वानुभूति एवं श्रुति पर आधारित ज्ञान स्वतः-केन्द्रित होता है, लेकिन दर्शन का प्रयोजन सभी मनुष्यों को दुःख से मुक्ति दिलाना है। अतएव, स्वानुभूति की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। अभिव्यक्त होने के लिए श्रुति और अनुभूति को मनन (तर्क) की आवश्यकता होती है क्योंकि श्रुति पर आधारित ज्ञान बिना युक्तिपूर्ण हुए दूसरों को ग्राह्य नहीं होगा।

अतः यथार्थ ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए तथा भ्रम के निवारणार्थ मनन की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय श्रुति एवं युक्ति में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यथार्थ तत्व के ज्ञान में आगम एवं तर्क दोनों सम्भव है।[1] सत् और असत् ज्ञान के लिए बुद्धि ही प्रमाण है।[2] न्यायदर्शन ने तो तर्क को बहुत-ही महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। 'न्याय' शब्द तर्क का पर्यायवाची है। 'न्याय' का शाब्दिक अर्थ है- किसी विषय के भीतर जाना; अर्थात् उसकी विश्लेषणात्क समीक्षा करना। न्याय-दर्शन में न्याय या तर्क (मनन) के आधार पर वस्तुओं की यथार्थता और उसकी प्रामाणिकता की सिद्धि की जाती है। श्रुति-सम्मत तर्क (मनन) यथार्थ तथा प्रामाणिक है, इसकी महत्ता को अस्वीकार करना संभव नही है।

पाश्चात्य दर्शन प्रारंभतः बौद्धिक रहा है। यहां समीक्षात्मक बुद्धि को ज्ञान-प्राप्ति में विशेष महत्व दिया गया है। यथार्थ ज्ञान को तर्क की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। गणित ही इनका आदर्श रहा है। दर्शन गणितीय विधि पर आधारित होकर ही यथार्थ रूप से प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यहां तर्कशास्त्र दर्शन का महत्वपूर्ण अंग रहा है। तर्क के माध्यम से ही वस्तु की खोज एवं उसकी प्रामाणिकता स्वीकार की गयी है। यहां तर्क 'वाद-विवाद' या प्रश्नोत्तर

रूप में प्रतिष्ठित रहा है। ग्रीक दर्शन में ही सर्वप्रथम तर्कशास्त्र का उदय हुआ। वहस या वाद-विवाद की पद्धति ही किसी समस्या के हल में प्रयुक्त होती थी। सत्य स्वयं में एक जटिल विषय है और इसलिए बिना विभिन्न मस्तिष्कों के सम्मिलित सहयोग के सत्यान्वेषण में सफलता नहीं मिलती। अरस्तू का कहना है कि "कुछ व्यक्ति विषय के एक पहलू को देखते हैं, किन्तु सभी मिलकर सभी पहलूओं को देख सकते हैं।[3] इस प्रकार ग्रीक दर्शन में तर्क वाद-विवाद के रुप में प्रयुक्त होता था। पार्मेनाइडिज ने तर्क की द्वन्द्वात्मक-पद्धति को अपनाया। जेनों ने द्वन्द्वात्मक तर्क के आधार पर अपने गुरु पार्मेनाइडिज के सिद्धान्तों की पुष्टि किया। प्रकारान्तर में प्लेटो, काण्ट, हेगल आदि परवर्ती विचारकों ने इसे अपनाया। यहां तर्क प्रायः विरोधियों के खण्डन में ही प्रयुक्त होता रहा । यहीं तर्क का निषेधात्मक स्वरूप है जिसे माध्यमिक दर्शन में अपनाया गया। 'सुकरात' ने आगमनात्मक तर्क एवं सार्वत्रिक परिभाषाओं का आश्रय लिया। इनके अनुसार, सत्य के आकार को परिभाषित होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु की सत्ता उसके आकार की सत्ता के कारण ही स्वीकार की गयी है। प्लेटो के अनुसार विचार ही यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का प्रमुख साधन है। बेकन ने दर्शन में तर्क के आगमनात्मक पद्धति की स्थापना किया। डेकार्ट की संदेह-पद्धति के आधार पर प्रत्येक दृष्टियों, सिद्धान्तों एवं पदार्थो के अस्तित्व पर एक वार संदेह किया जा सकता है: परन्तु आत्मा के अस्तित्व पर संदेह नही किया जा सकता है। तर्क की इसी पद्धति के आधार पर डेकार्ट ने संदेहकर्ता अर्थात् 'आत्मतत्व' को प्रतिष्ठित किया। काण्ट समीक्षात्मक तर्क-पद्धति के आधार पर परम्परागत विचारों को एकांगी एवं दोषपूर्ण ठहराता है एवं यथार्थ ज्ञान के लिए उनके समन्वय पर बल देता है। काण्ट इन्द्रियानुभववाद एवं बुद्धिवाद का विश्लेषण करके इन दोनों के सामञ्जस्य से ही ज्ञान को सम्भव मानता है। परन्तु काण्ट तर्कबुद्धि को

व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित मानता है। परमार्थ या वस्तु सत् का ज्ञान तर्कबुद्धि से परे है। परमार्थ इन्द्रिय-संवेदना का विषय नहीं है जिसे बुद्धि-विकल्पों में संजोकर ज्ञान का रूप दिया जाय। परमार्थ अज्ञात एवं अज्ञेय है। फिर भी व्यावहारिक ज्ञान के लिए तर्क (मनन) ही उपयोगी है।

हेगेल के दर्शन में तर्क अपनी सर्वोच्च पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ है। यहां 'तर्क' और 'तत्व' में कोई भेद नहीं है। हेगेल दर्शन और दार्शनिक तत्वों को विचार या बुद्धि का पूर्ण विकास मानते है। उनकी प्रसिद्ध युक्ति है- The real is the rational and the rational is the real.

स्पष्ट है कि पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा पूर्णतया बौद्धिक रही है। उच्च कोटि के दार्शनिक तत्व को बुद्धि निरपेक्ष मानते हुए उसे श्रद्धा या अनुभव का विषय मानते है, किन्तु यह ध्यातव्य रहना चाहिए कि अनुभव या श्रद्धा बुद्धि का सर्वोच्च विकसित रूप ही है। यही विशुद्ध विज्ञान है।

भारतीय दर्शन में यथार्थ ज्ञान के लिए यद्यपि 'श्रुति' को ही सर्वश्रेष्ठ एवं प्रबल प्रमाण स्वीकार किया गया है, तथापि तर्क की पूर्ण प्रतिष्ठा का निषेध नहीं किया गया है। न्याय आदि दर्शन तर्क के आधार पर ही अपने मूल-तत्व 'ईश्वर' के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं, वहीं अद्वैत वेदान्त भी श्रुति के अनुग्राहक के रूप में तर्क की उपयोगिता को स्वीकार करता है। महात्मा बुद्ध भी 'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मदवचं न तु गौरवात्' कहकर तर्क की कसौटी पर कसकर ही दर्शन को अपनाने की शिक्षा भिक्षुगणों को देते हैं।

उपनिषदों में अनेक स्थानों पर 'तर्क' का प्रयोग. 'वाकोवाक्य' [4] के रूप में हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में 'वाकोवाक्य' शब्द की अभिव्यक्ति की गयी है जिसका अर्थ 'तर्कशास्त्र'. 'उत्तर-प्रत्युत्तर शास्त्र' एवं 'युक्ति-शास्त्र' के रूप में किया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् के अतिरिक्त ब्रह्मविदोपनिषद्[5] तथा कठोपनिषद्[6] में

भी अनुमान के अंग हेतु एवं दृष्टान्त तथा तर्क के शब्द व्यवहृत हुए हैं। मैत्रायणी उपनिषद् में अनुमानसूचक रूप 'अनुमीयते' शब्द का उल्लेख हुआ है। इन साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि प्राचीन उपनिषद् काल में 'तर्क' का प्रयोग तत्व-विवेचनार्थ होता था। जहां तत्व ज्ञान के हेतु 'आप्त-वचन' ही मुख्य आधार था वहीं उसे बौद्धिक-विश्लेषण के बाद ही स्वीकार करने की प्रथा थी। उपनिषदों में हम दो दार्शनिकों में संवाद हुआ पाते हैं। एक प्रश्न पूछता है और दूसरा उसकी बौद्धिक-व्याख्या करता है। यह पद्धति ही आलोचनात्मक पद्धति है। जब तक प्रश्नकर्ता बौद्धिक रूप से संतुष्ट नहीं होता वह प्रश्न करता जाता है और ऋषि को उसका यथार्थ उत्तर देना पड़ता है।

आस्तिकेत्तर बौद्ध दर्शन में भी 'तर्क' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है। प्राचीन बौद्ध पाली ग्रंथ **'ब्रह्मजाल-सुत्त'**[8] में **'तक्की'** एवं **'विमांसा'** शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ **'तर्कशास्त्र'** और **'तर्कविद्या'** होता है। इस काल में तर्क का प्रयोग कुतर्क, वाग्जाल तथा वितण्डा के रूप में हुआ है। यथार्थ ज्ञान के लिए व्यर्थ तर्क की आवश्यकता नहीं है। अतः ब्रह्म-जाल सूत्रकार ने तर्क का निषेध किया है। परन्तु, महात्मा बुद्ध ने अपने वचनों में ज्ञान को तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ही उसे ग्रहण करने का उपदेश दिया है।[9]

'शेरबास्की' के अनुसार बौद्ध अपने इस शास्त्र को हेतु विद्या अथवा प्रमाण-विद्या को केवल सम्यग्-ज्ञान-व्युत्पादन मात्र कहते हैं। यह सत्य और मिथ्या के विमर्श का सिद्धान्त है। इसका उद्देश्य गतिशील वास्तविकता और विचारों की स्थिर रचनाओं के सम्बन्ध की व्याख्या करना है।[10]

महात्मा बुद्ध अनात्मवाद क्षणभंगवाद आदि सिद्धान्तों की स्थापना के लिए एवं आस्तिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिए तर्कबुद्धि की सहायता लेते हैं। यही कारण है कि बाद के महायान के सभी सम्प्रदाय स्वतंत्र

बुद्धि की सहायता से मौलिक व्याख्या के बाद अनेक भिन्न-भिन्न निष्कर्षो पर पहुंचते हैं। माध्यमिक सम्प्रदाय ने विशेष तौर पर सभी दृष्टियों की बौद्धिक व्याख्या किया है। वे सभी दृष्टियों को बुद्धि की चार कोटियों के अन्तर्गत रखते हैं, और परीक्षणोपरान्त उन्हें मिथ्या या शून्य घोषित करते है। तत्व तो अनिर्वचनीय हैं, वह न सत् है और न असत्, न सदसद् भिन्न है।

भारतीय नैयायिक उस सबको सत्य मानता है जो तर्क की कसौटी पर ठीक उतर सकता है।[11] नैयायिक तर्क को 'न्याय'[12] शब्द से भी उल्लिखित करते हैं। उद्योतकर ने तर्क को हेतु, न्याय, आन्वीक्षा आदि शब्दों से उल्लिखित किया है।[13] इनके अनुसार तर्क का प्रयोजन ही तत्व ज्ञान है। गौतम ने छः अन्य ज्ञानार्थ शब्दों का प्रयोग किया है। इनके अनुसार 'तर्क' एक बौद्धिक प्रक्रिया है जो सत्य की स्थापना में सहायक है। इसी आधार पर सत्य का ज्ञान सुनिश्चित होता है।

'ज्ञान सत्य प्रमाणयुक्त विश्वास हैं।' इसका प्राकट्य उस समय तक नहीं होता जब तक संदेह विद्यमान रहता है। संदेह की विद्यमानता तब तक बनी रहती है जब तक संदर्भित दूसरे विकल्प उपस्थित रहते हैं। 'संशय' से अभिप्राय है- मन में स्थित किसी वस्तु का दो या दो से अधिक विकल्पों में जूझना। अर्थात् एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्मो के विद्यमान होने की प्रतीति जिस ज्ञान में हो, वह 'संशय' है।[14] संशय में निश्चयता का अभाव होता है क्योंकि वस्तु में विरुद्ध धर्मो के पाये जाने के कारण उस वस्तु के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि कौन-से धर्म उसके वास्तविक धर्म हैं। जैसे अंधकार में किसी वस्तु को देखकर उस वस्तु के विषय में जब कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं होता तो उस वस्तु के ज्ञान को संशयात्मक कहते हैं। ज्ञान होने पर उन सभी विरोधी विकल्पों में से एक ही विकल्प उपस्थित रहता है। अब प्रश्न यह है कि

वह साधन क्या है जिसके द्वारा हम विरोधी विकल्पों का निराकरण करते हैं?

प्राय: मानवीय अनुभव से ज्ञात है कि ज्ञान के सामान्य प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण भी कभी-कभी संशयाग्रस्त ज्ञान उत्पन्न करते हैं। जैसे हम देखते हैं कि सामने 'खम्भा' है, लेकिन अंधेरे में ऐसा लगता है कि वह कोई मनुष्य है। रस्सी को हम सर्प समझ बैठते हैं। अतएव, संशय की उत्पत्ति होने पर संशय रहित ज्ञानोपलब्धि में प्रत्याक्षादि प्रमाण असमर्थ प्रतीत होते हैं। यदि प्रत्यक्ष में इस तरह का संशय उत्पन्न नहीं हो तो भी हम इसकी प्रामाणिकता की जांच नहीं कर सकते है क्योंकि पहले इसी तरह का मिथ्या अनुभव हुआ रहता है और ऐसा लगता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान भी उसी मिथ्यानुभव के समान है। उदाहरणार्थ, किसी रेगिस्तान में जल की धारा का ज्ञान हमें अप्रामाणिक ज्ञान के रूप में पहले के अनुभवों में हुआ रहता है। अत: इसके सादृश्यता के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रत्यक्ष अनुभव भी मिथ्या हो सकता है। अत: यह सिद्ध है कि साधारण प्रमाण के आधार पर किसी निश्चित ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। उसमें संशय उत्पन्न होता है और इस संशय का निराकरण नहीं होता। अत: इस संशय के निराकरण के लिए तर्क (मनन) का उदय होता है। 'मनन' प्रमाणों की सहायता करता है जिससे निश्चित ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसी के द्वारा संशय को दूर किया जाता है एवं विरोधी विकल्पों का निराकरण करके सत्य ज्ञान की प्राप्ति की जाती है । 'मनन' एक निश्चित प्रक्रिया है जिससे किसी विशेष ज्ञान में संशय को दूर किया जाता है तथा निश्चित एवं सार्वभौम ज्ञान को उत्पन्न किया जाता है ।

मनन (तर्क) 'Reducsio Ad Absurdum' को कहते हैं । इसके द्वारा अनुमान की सत्यता को जाँचने के लिए जानबुझकर गलत प्रतिज्ञा की जाती है ।

इस प्रतिज्ञा के आधार पर एक विपरीत निर्णय सिद्ध किया जाता है और यह निर्णय गलत प्रतिज्ञा के कारण होता है एवं इस प्रकार पूर्व के अनुमान की सत्यता जाँची जाती है । जब अनुमान के निगमन को कोई विरोधी व्यक्ति नहीं मानता तो उसके विरोध को अयुक्तसिद्ध करने के लिए तर्क का सहारा लेना पड़ता है । तर्क में हम विपरीत मान्यता को लेकर चलते हैं और उसके द्वारा विरोधी के विरोध को असंगत सिद्ध करते हैं । इसे ही पाश्चात्य तर्कशास्त्र में 'इन्डिरेक्ट रिडक्सन' अथवा 'प्रूफ ऑफ रिडक्सिओ एड एबजरडम' कहा जाता है।

न्याय-सूत्र में गौतम ने तर्क की परिभाषा इस प्रकार की है -"जिस विषय के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो, ऐसे विषय को वास्तविक ज्ञान होने के लिए कारण की उत्पत्ति की गयी ऊहा (एक पक्ष की संभावना) का नाम तर्क है ।"[15] अर्थात् अज्ञात वस्तु के विषय में दो अलग-अलग पक्षों के उपस्थित हो जाने पर संशय की अवस्था उपस्थित हो जाती है जिसमें तर्क का उपयोग होता है । जिस ओर कारण की उत्पत्ति दिखायी देती है उसी ओर संभावना भी मानी जाती है । यह संभावना ही तर्क है । जहां पर सीधा प्रमाण नही प्राप्त होता, वहां तर्क का सहारा लिया जाता है । इसमें अपने से विपरीत पक्ष को लेकर उसकी निस्सारता दिखलायी जाती है। अर्थात् विरोधी पक्ष की निस्सारता को दिखलाकर तर्क के द्वारा अपना पक्ष स्थापित किया जाता है ।

न्याय-भाष्य में वात्सयायन कहते हैं कि "जिस विषय का वास्तविक स्वरूप विशेष रूप से ज्ञात नहीं है, ऐसे विषय की मनुष्य को 'मैं इस अर्थ को जानूँ' ऐसी प्रथम जिज्ञासा (जानने की इच्छा) होती है । इसके पश्चात् उस जिज्ञासा के विषय अर्थ के विरूद्ध दो धर्मो के विवेचन से उसे 'क्या यह ऐसा है' अथवा 'ऐसा नही है', इस प्रकार संदेह उत्पन्न होता है। अब संदेह के विषय रूप दोनो

विरोधी धर्मो में से किसी एक धर्म वह मनुष्य कारण प्रमाण साधक हेतु हो सकता है। इस कारण उसके एक धर्म का निश्चय हो जाता है तथा विरोधी धर्म का निराकरण हो जाता है ।[16] उदाहरणस्वरूप सामने दिखायी पड़ने वाली वस्तु 'स्तम्भ' है या 'मनुष्य' । अब 'स्तम्भ' और 'मनुष्य' दोनों में ऊंचाई-मोटाई आदि साधारण धर्म दिखायी पड़ता है। अत: दोनों में भेद करके निश्चित ज्ञान नही प्राप्त होता है। तर्क के द्वारा हम दोनों में से एक विकल्प में स्थित रहने वाले विशिष्ट गुणों का अवलोकन करते हैं । अब यहां 'मनुष्य' और 'स्तम्भ' दोनों में से हाथ, पैर आदि विशिष्ट गुण मनुष्य में ही पाये जाते हैं, स्तम्भ में नहीं। अत: यहां यह निश्चित ज्ञान होता है कि यह 'मनुष्य' है 'स्तम्भ' नही । क्योंकि हाथ, पैर आदि विशिष्ट गुणों की संभावना केवल एक विकल्प और वह मनुष्य में ही पायी जाती है । अत: इस प्रकार उस संशयात्मक ज्ञान का निवारण हो जाता है और निश्चित ज्ञान की प्राप्ति होती है ।

इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम हमें दोनों विकल्पों के सत्य होने की असंभावना का ज्ञान होता है । दूसरे चरण में इन दोनों विकल्पों में से किसी एक विकल्प के सत्य होने में तार्किक आधार को खोज करके एक निश्चित सत्य पर पहुंचते है और तभी हमें संशयरहित ज्ञान की प्राप्ति होती है ।

अन्नंभट्ट ने 'तर्कसंग्रह' में तर्क की परिभाषा इस प्रकार दिया है -

"व्याप्य के द्वारा व्यापक की सिद्धि करना तर्क है ।"

(व्याप्याव्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्क:)

उदाहरणार्थ - यदि निम्नलिखित अनुमान के निगमन को कोई विरोधी नहीं मानता तो इसके लिए तर्क की आवश्यकता होती है । यथा -

पर्वत अग्नियुक्त है (प्रतिज्ञा)

क्योंकि पर्वत धूम्रयुक्त है (हेतु)

जहाँ-जहाँ धूम्र है वहाँ-वहाँ अग्नि है । जैसे - रसोईघर में (उदाहरण)
पर्वत इसी प्रकार के धूम्र से युक्त है - (उपनय)
अतः, पर्वत अग्नियुक्त है - (निगमन)

उपर्युक्त अनुमान के निगमन 'पर्वत अग्नियुक्त है' को यदि कोई विरोधी मानने को तैयार नही होता एवं निगमन को ही अयथार्थ मानता है, तो ऐसी स्थिति में तर्क के द्वारा उसके इस कथन को अयुक्त सिद्ध किया जाता है । जैसे - उपर्युक्त निगमन के 'पर्वत, अग्नियुक्त है' के ठीक विपरीत कल्पना की जाती है। हम विरोधी के कथनानुसार ही मानकर तर्क का आरम्भ करते हैं । जैसे - पर्वत अग्नियुक्त नही है । परन्तु, सामान्य नियम होने के कारण जहाँ-जहाँ अग्नि नही है वहाँ-वहाँ धूम्र भी नही होना चाहिए । अतः जब पर्वत अग्नियुक्त नही है तो वह धूम्रयुक्त भी नही होगा । अतएव, हमारा दूसरा तर्कवाक्य होगा - 'पर्वत धूम्रवान नही है । परन्तु, साधारण प्रत्यक्ष के आधार पर हमें धूम्र का प्रत्यक्ष हो रहा है जिसको कभी भी अस्वीकार नही किया जा सकता है, इसलिए यह कथन कि 'पर्वत पर धूम्र नही है' बिल्कुल गलत है और जिसके द्वारा हमें इस निगमन का ज्ञान प्राप्त होता है वह भी निश्चित रूप से असिद्ध हुआ । अर्थात् यह कहना कि 'पर्वत पर धूम्र नही है' एकमात्र असत्य है । अतः पूर्व अनुमान का निगमन 'पर्वत पर अग्नि है' पूर्णतया सत्य है । 'पर्वत पर अग्नि है' - यह निश्चित एवं सत्य ज्ञान है जिसे मनन (तर्क) के द्वारा जाना जाता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि मनन उपर्युक्त संशय को दूर करके ज्ञानोपलब्धि में सहायक हैं ।

नैयायिक 'मनन' (तर्क) को एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में नही मानते हैं, परन्तु इसे सत्य के स्वरूप की विवेचना में सहायक मानते हैं। वस्तुतः विकल्प के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि के द्वारा ही होना है, तर्क उसकी क्रिया में सहायक मात्र है।[17]

वाचस्पति मिश्र भी तर्क को प्रमाण के अनुग्राहक के रूप में ही स्वीकार करते हैं। तर्क विभिन्न दो विरोधी विकल्पों में किसी एक विकल्प को असंभव सिद्ध करता है। उस विकल्प के निराकरण करके तर्क अन्य विकल्प की मान्यता की सिद्धि करता है। वाचस्पति मिश्र विरोधी विकल्पों के निराकरण में तर्क को उपयोगी बतलाते हैं। 'तर्क' यहां विरोधी विकल्पों में असंगति प्रकट करता है और उसका निराकरण करता है। तर्क का यह स्वरूप 'रिडक्सिओ एड एबजरडम' की तरह का है।

यहां तर्क किसी भावात्मक तथ्य की स्थापना नहीं करता, अपितु इसके विरोधी सिद्धान्तों जिससे संशय उत्पन्न होता है, के निराकरण में सहयोग करता है। अत: वाचस्पति मिश्र के अनुसार तर्क का स्वरूप और कार्य पूर्णत: निषेधात्मक है। तर्क किसी विषय के विपरीत और भिन्न विकल्पों के द्वारा प्राप्त संशय का निवारण करता है तथा इस प्रकार विपरीत विकल्पों का निराकरण करके तद्विषय के सत्य ज्ञान के लिए प्रमाणों की सहायता करता है। इस प्रकार तर्क प्रमाणों के सहायक के रूप में सत्य की निश्चितता को प्रतिष्ठित करता है ।[18]

यद्यपि तर्क 'रिडक्सिओ एड एबजरडन' के स्वरूप का है और यह मिथ्या निष्कर्षों को निराकृत करता है परन्तु इसे हम अनुमान के रूप में नही ले सकते हैं। तर्क स्वतंत्र प्रमाण भी नहीं है। नैयायिकों के अनुसार तर्क का निषेधात्मक मूल्य है। यह मात्र विरोधी विकल्पों में कमियों को प्रदर्शित करता है तथा प्रत्यक्ष रूपसे किसी भावात्मक सत्यता की स्थापित नहीं करता है।

न्याय-सूत्र[19] और न्याय-भाष्य[20] में तर्क और अनुमान में भेद किया जाता है। भाष्यकार ने तर्क को प्रमाणों के अन्तर्गत संगृहीत नहीं किया है, बल्कि प्रमाणों के सहायक रूप में तर्क की प्रतिष्ठा की गयी है। तत्व-ज्ञान के लिए तर्क को अनुमानादि प्रमाणों के अनुग्राहक रूप में स्वीकार किया गया है। न्याय-सूत्र की

अपनी व्याख्या में वात्स्यायन कहते हैं- "तर्क नामक न्याय-शास्त्र में वर्णन किया पदार्थ प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों में संगृहीत नहीं है, अर्थात् उनमें अन्तर्भाव नहीं है, तथा उनसे भिन्न भी नहीं है. किन्तु उक्त प्रत्यक्षादि- प्रमाणों द्वारा सिद्ध होने वाले विषय की सिद्धि का अनुग्राहक अर्थात् चक्षुरीन्द्रिय में दीप के समान सहायक होने से विषय के वास्तविक ज्ञान होने में समर्थ होता है।"[21] आगे वात्स्यायन इस प्रकार के तर्क की पुष्टि के लिए उदाहरण देते हैं- 'यह जो प्राणिमात्र का जन्म होता है वह किसी पदार्थ (नित्य) हेतु से होता है अथवा अकृतकर (अनित्य) हेतु से अथवा आकस्मिक या अकारण स्वयं ही होता है।

केशव मिश्र ने अपनी तर्कभाषा में "तर्कोऽनिष्ट प्रसङ्गः" -अर्थात् 'अनिष्टप्रसङ्गः' का नाम तर्क कहा है। जिन दो भागों में व्याप्य-व्यापक भाव सिद्ध होता है उनमें एक व्याप्य होता है और एक व्यापक होता है। जिन धर्मो में इन दोनों में से व्यापक का होना अनिष्ट है, उन धर्मो में व्याप्य को अंगीकार करने से व्यापक की जो आपत्ति होती है उसे तर्क कहा जाता है। जैसे घट का सद्भाव और घट का दर्शन। इन दोनों धर्मो में व्यापय-व्यापक भाव सिद्ध है। इनमें घट का सद्भव व्याप्त है और घट का दर्शन व्यापक है। घट-शून्य भूतल रुप धर्मो में घट दर्शन रुप व्यापक का होना अनिष्ट है। अब यदि उक्त भूतल में इस घट के सद्भावरुप व्याप्य को अंगीकार कर लिया जाय तो उससे घट दर्शन रुप अनिष्ट की इस प्रकार आपत्ति हो सकती है कि 'यदि इस भूतल में घट का सद्भाव होता तो यहां घट का दर्शन भी होता' तो इस प्रकार घट-शून्य भूतल में घट का अस्तित्व स्वीकार करने से होने वाली घट-दर्शन की आपत्ति 'अनिष्ट-प्रसंग' रुप होने से तर्क है।

नैयायिक मौलिक तत्व 'ईश्वर' की सिद्धि भी युक्ति के आधार पर करते है। वे युक्ति करते हैं कि संसार के जितने पदार्थ है वे सब कार्य है अर्थात्

उत्पन्न हुए है। सूर्य चन्द्रमा, नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष, मानव, पशु, पक्षी आदि जगत के ये समग्र द्रव्य कार्य है। परन्तु हम अनुभव में देखते हैं कि कोई न कोई कारण ही किसी कार्य की उत्पत्ति करता है। घड़े का कारण कुम्हार,कुर्सी का कारण बढ़ई है। इस समग्र विश्व का कारण कौन है? नैयायिक इस तर्क के माध्यम से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि समग्र विश्व का कारण चेतन सर्वशक्तिशाली ईश्वर ही है। इस प्रकार न्याय-दर्शन में तर्क को दर्शन की आधार-शिला माना गया है।

जैनागमों में भी तर्क शब्द का प्रयोग मिलता है।[22] अनुमान प्रमाण के लिए आवश्यक साध्य-साधनों के अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय जैन तार्किक तर्क द्वारा ही स्वीकार करती हैं। तर्क ऋग्वेद और पाणिनि व्याकरण में यह धातु से उल्लिखित हुआ प्राप्त होता है।

बाल्मीकि रामायण में आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग मिलता है, जो हेतु-विद्या या तर्कशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[23] यहां तर्क से तात्पर्य नास्तिकों की 'अनर्थ कुशलता' एवं 'दुर्बुचि' तथा 'पण्डितमानी' से ही है, जो धर्मशास्त्रों की अवज्ञा करके व्यर्थ के वाग्जाल में फंसे रहते है।

महाभारत में आन्वीक्षिकी के अलावा हेतु-हेतुक, तर्क-विद्या आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[24] तर्क-विद्या आन्वीक्षिकी का पर्यायवाची शब्द है। याज्ञवल्क्य जब इच्छवासु के प्रश्नों का उत्तर देते है तो वहां पराविद्या जो आन्वीक्षिकी ही है, का प्रयोग करते है।[25] याज्ञवल्क्य राजर्षि जनक को आन्वीक्षिकी का उपदेश देते हुये उसे चतुर्थी विद्या तथा मोक्ष के लिए त्रयी-वार्ता और दण्डनीति तीनों विद्याओं से अधिक उपयोगी बतलाते है। महाभारत में भी कुतर्क पर अनुरक्त हुये लोगों को पण्डितक, हेतुक और वेदनिन्दक कहकर उनकी भर्त्सना की गयी है।[26] इस

प्रकार हम देखते है कि महाभारत और वाल्मीकि रामायण में वही तर्क मान्य हैं जो वेद या श्रुति समर्थित है। श्रुति समर्थित तर्क की प्रतिष्ठा इन दोनों महाकाव्यों में की गई, परन्तु श्रुति के विरुद्ध तर्क का अनादर ही हुआ है।

वात्स्यायन ने 'आन्वीक्षिकी' शब्द की व्याख्या अपने भाष्य में की है। वे कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष और आगम से देखे जाने वाले पदार्थ को विशेष रूप से जानने का नाम 'आन्वीक्षा' है और यह अन्वीक्षा ही अनुमान है। अन्वीक्षापूर्वक प्रवृत्ति करनेवाली विद्या आन्वीक्षिकी, न्याय-विद्या, न्याय-शास्त्र या तर्कशास्त्र है।[27] डा0 सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने आन्वीक्षिकी में आत्मा और हेतु दोनों विद्याओं का समावेश किया है।[28] उनका मत है कि सांख्य-योग और लोकायत आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि और असिद्धि में प्राचीन काल से ही हेतुवाद या आन्वीक्षिकी का व्यवहार करते आ रहे हैं।

कौटिल्य भी अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी के समर्थन में लिखते हुए बताते हैं कि किसी भी ज्ञान को जब हम विभिन्न युक्तियों द्वारा प्राप्त करते हैं तो प्रकारान्तर से ऐसा तर्क की सहायता से ही संभव होता है।[29] आन्वीक्षिकी या तर्क-विद्या लोगों का उपचार करती है। दुःख-सुख में धैर्य प्रदान करती है, प्रज्ञा, वचन और क्रिया में कुशलता प्रदान करती है। जिस प्रकार सूर्य समस्त पदार्थो का प्रकाशक है उसी प्रकार यह विद्या भी समस्त विद्याओं, धर्मो, कार्यो की प्रकाशिका है। इस प्रकार कौटिल्य भी आन्वीक्षिकी को तर्क-विद्या के रूप में स्थान देते हैं और सम्यक् ज्ञान के लिए इसे उपयोगी स्वीकार करते हैं।

मनुस्मृति में 'तर्क' और 'तर्की' शब्द का प्रयोग मिलता है।[30] अन्य अनेक स्थलों पर हेतु, आन्वीक्षिकी और हेतु-शास्त्र शब्द भी प्रयुक्त हुये उपलब्ध होते

हैं। एक जगह तो स्पष्ट रूप से अनुमान (तर्क) नाम भी प्रत्यक्ष और आगम के साथ मिलता है।[31] मनु ने तर्क को वेद वाक्य के तात्पर्य निर्धारण में उपयोगी सिद्ध किया है। बिना तर्क के वेद की समुचित व्याख्या असंभव है। धर्म भी बिना तर्क की सहायता के प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है। मनु कहते हैं- "ऋषि प्रणीत धर्मोपदेश का वेद और शास्त्र अविरुद्ध तर्क से जो अनुसंधान करता है वह ही धर्म को जानता है दूसरा नहीं।"[32] फिर लिखते हैं कि "धर्म की शुद्धि, धर्म का अधर्म से भेद जानने की इच्छा करनेवाले पुरुष को प्रत्यक्ष[33] अनुमान (तर्क) और विविध वेदानुकूल शास्त्र इन तीनों द्वारा धर्म को जानना चाहिए।" कुछ विद्वान उपर्युक्त मनु वचन में प्रयुक्त तर्क शब्द का अर्थ वाक्य-शास्त्र, पूर्व-मीमांसा मानते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पूर्व मीमांसा एक विशेष सिद्धान्त को कहा गया। यहां तर्क शब्द का प्रयोग पूर्व मीमांसा दर्शन हेतु नहीं किया गया है। मीमांसा शब्द के अर्थ पूजित विचार[34] पर दृष्टिपात करने से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है।

आचार्य गौड़पाद 'माण्डुक्य-कारिका' में अनेक स्थलों पर तर्क, युक्ति-युक्त, उपपत्ति आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।[35] वे लौकिक अनुभवों की बौद्धिक व्याख्या करते हैं। स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओं का बौद्धिक-विश्लेषण करने के उपरांत गौड़पाद उसे मिथ्या सिद्ध करते हैं। सम्पूर्ण भेद असत्य है,केवल अद्वैत ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। "स्वयं-प्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं की कल्पना करता है और सभी भेदों को जानता है यही वेदान्त का निश्चय है।"[36] संसार की अनिश्चितता को वह रज्जु-सर्प के उदाहरण से युक्तिपूर्वक समझाते हैं गौड़पाद कहते हैं कि 'जिस प्रकार निश्चय हो जाने पर रज्जु (सर्पादि) के

विकल्प निवृत्त हो जाता है, तथा 'यह रज्जु ही है' ऐसा अद्वैत निश्चय होता है उसी प्रकार आत्मा का निश्चय होता है।'' [37] इस प्रकार आचार्य गौड़पाद परमतत्त्व ब्रह्म को श्रुति और युक्ति के आधार पर स्थापित करते हैं।

जैमिनी-प्रणीत मीमांसा दर्शन के प्रथमाध्याय के प्रथमपाद को 'तर्कपाद' कहा जाता है। इसमें कुल 32 सूत्र हैं जिन्हें निम्नलिखित आठ अधिकरणों में विभक्त किया गया है-

1. धर्मजिज्ञासाधिकरण (सूत्र-1)
2. धर्मलक्षणाधिकरण (सूत्र-2)
3. धर्मप्रामाण्य परीक्षाधिकरण (सूत्र-4)
4. वेदविधि प्रामाण्यधिकरण (सूत्र-5)
5. शब्दनित्यत्वाधिकरण (सूत्र-6-23)
6. वाक्यार्थ प्रामाण्याधिकरण (सूत्र-24-26)
7. वेदापौरुषेयत्वाधिकरण (सूत्र-27-32)

अधिकरण एक शास्त्रीय शब्द है जिसमें किसी नियत विषय के विभिन्न पक्षों का निरुपण होता है। ये पक्ष पांच प्रकार के होते हैं- (1) विषय (2) विशय (संशय), (3) पूर्वपक्ष-विरोधियों का या आयातत: प्रतीत होनेवाला विचार, (4) उत्तरपक्ष-खण्डन काण्डनार्थ उत्तर (5) सिद्धान्त- विषय की विवेचना पर निर्णय देना।

कुछ स्थनों पर अधिकरण के छ: अवयव भी माने गये हैं- विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, प्रयोजन एवं संगति। न्यायकोश में पांच ही अवयवों को अधिकरण कहा गया है।[38] यह अवयव-विभाजन वेदान्त और मीमांसा दोनों में स्वीकार्य है।[39] संस्कृत के प्राय: सभी सूत्र ग्रंथों में अधिकरण प्रयुक्त हुए हैं?[40]

आचार्य शंकर के दर्शन में तर्क के स्वरूप और स्थान का उल्लेख उनके प्रस्थानत्रयी के भाष्यों में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। छान्दोग्य उपनिषद के अपने भाष्य में शंकर ने 'वाको-वाक्य' का अर्थ 'तर्क-शास्त्र' से लिया है।[41] डा0 भगवानदास भाष्य के इस अर्थ को अपनाते हुए उसका 'तर्कशास्त्र', 'प्रायुत्तर-शास्त्र', 'युक्ति-प्रति-युक्त-शास्त्र'व्याख्या करते हैं।[42] यद्यपि आचार्य शंकर ने परमतत्व 'ब्रह्म' के ज्ञान में श्रुति को ही एकमात्र प्रबल प्रमाण स्वीकार किया है: परन्तु वे आत्म-ज्ञान में मनन का भी महत्व प्रदान करते हैं।[43] मनन के बिना आत्मा के विषय में संशय और असंभावना की निवृत्ति नही हो पाती है। आचार्य शंकर कहते हैं **"श्रुत्यर्थ में विरोध हो तो अर्थाभास का निराकरणपूर्वक यथार्थ अर्थ का निर्णय वाक्य-रुप निरुपण तर्क से लिया जाता है।"**[44]

वेदान्त-दर्शन में मनन का अर्थ है- श्रुति के अर्थ को निश्चय करने में तथा उसका अन्य प्रमाणों से विरोध की शंका होने पर उसके निराकरण के उपयोग में आनेवाला तर्कात्मिक ज्ञान को पैदा करने वाला मानसिक व्यापार है।[45] 'मनन' तर्क का पर्यायवाची शब्द है। सुने हुए परमात्मा के सम्बन्ध में अर्थानुगुण युक्तियों के द्वारा सतत् गंभीर चिन्तन ही मनन है।[46] (मननन्तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तार्थानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्) आचार्य शंकर के मत में श्रवण और मनन के उपरान्त ही आत्म या ब्रह्म-साक्षात्कार संभव है। विवेक-चूड़ामणि में शंकर अज्ञान की समाप्ति एवं यथार्थ परमतत्व आत्मा या ब्रह्म की सर्वात्मता का ज्ञान श्रुति, युक्ति एवं अनुभूति की सहायता से ही संभव बताते हैं।[47] श्रुति श्रवण से मनन करना अच्छा है। आचार्य शंकर कहते हैं कि 'वेदान्त के श्रवणमात्र से उसका मनन करना सौ गुना अच्छा है।[48] इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त में परम ब्रह्म की सिद्धि के लिए श्रुति तथा मनन तर्क या युक्ति) दोनों की सहायता की

आवश्यकता है। विपरीत मतों के खंडन करने में जिन तर्कों का शंकर ने प्रयोग किया है, उन्हें ब्रह्मसूत्र के 'तर्कपाद' में देखा जा सकता हैं।

शंकराचार्य श्रुतियों की व्याख्या करते हुए अनेक स्थलों पर तर्क को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए अप्रतिष्ठित भी मानते हैं। आचार्य शंकर कहते हैं कि 'आगम निरपेक्ष और केवल पुरुष कल्पना-मूलक तर्क प्रतिष्ठित नहीं होते, इसका कारण यह है कि कल्पना निरंकुश होती हैं। जैसे कुछ विद्वानों के यत्नपूर्वक कल्पित तर्क अन्य विशिष्ट विद्वानों द्वारा आभास से दिखाये जाते हैं, इस कारण तर्क की प्रतिष्ठा कदापि ग्रहण नहीं की जा सकती हैं क्योंकि पुरुषों की बुद्धि विलक्षण है।[49] यहां आचार्य शंकर तर्क की अनुपयोगिता और असफलता को प्रदर्शित करते हैं।

शंकर यथार्थ ज्ञान में आगमानपेक्ष तर्क को निरुपयुक्त मानते हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि आगम मात्र वेद्य पदार्थ के विषय में केवल तर्क के आधार पर मनमाने ढंग से निर्णय कर लेना उचित नहीं है।[50] किन्तु यदि कोई पदार्थ आगमवेद्य नहीं हैं तो उसकी सिद्धि के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह तर्क (अनुमान) का भी उपयोग निराबाध है।[51] वस्तुतः तर्क कभी भी निरुपयोगी नहीं होता है और शंकर तर्क का खण्डन भी नहीं करते हैं। निरुपयोगिता कुतर्क की होती है और इसी का खण्डन भी होता है।[52] शंकर कहते हैं- 'इस प्रकार दोषयुक्त तर्क का परित्याग कर दोषरहित तर्क स्वीकार करने योग्य है।[53] यदि तर्क सुतर्क है तो उसमें आगम प्रामाण्य का समर्थन होता है न कि विरोध। उदयनाचार्य कहते हैं कि दो प्रमाणों में परस्पर विरोध की कोई संभावना नहीं होती।[54] यदि कहीं विरोध होता है भी तो वस्तुतः किसी एक में प्रामाण्य ही नहीं होता है। आचार्य शंकर के अनुसार शुष्क तर्क यथार्थ ज्ञान में अप्रतिष्ठित है और सुतर्क तो

तत्व-ज्ञान में महायक ही है। इसका विनाश नहीं होता, यह सम्यक् ज्ञान होकर विज्ञान-स्वरूप परात्पर ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

संदर्भिका

1. गौ0का0. शा0भा0-3,1
   'अद्वैतं किं आगममात्रेण प्रतिपनव्यं शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्'
2. कठोपनिषद् शा0 भा0-6,12
   'बुद्धिर्हीनः प्रमाणम् सदसतोर्याथात्म्यावगमे।'
3. डॉ0 राधाकृष्णन एस0 -भारतीय दर्शन भाग -2, राजपाल दिल्ली, पृ030
   (अरस्तू के 'पॉलिटिक्स' से उद्धृत)
4. ऋग्वेदं भगवे ध्येमि- 'वाको वाक्यमेकायनं अध्येमि'- छान्दो0 7,1,2
5. 'हेतु दृष्टान्त वर्जितम्'- ब्रह्म विन्दु उप0 -श्लोक सं0 9
6. 'नैषां तर्केण मतिरापनेया'- कठो0 1,2,9
7. बहिरात्मा गत्यरात्ममनानुमीयते- मैत्रायणी, 5,1
8. दूध, भिक्खवे एकच्चो समनो वा ब्राह्मणो वा तक्की होति विमंसी। सो तक्कपरियाहतं वीमासांनुचरितं' रिज डेविड; सं0 ब्रह्मजाल सुत्त पृ0- 32
9. तपोच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
   परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।। (बुद्धवचन)
10 न क्वचिदर्थे परमार्थतो विवक्षा अस्ति, अन्वयिनोऽर्थस्य अभावात्.......... सर्वेषुक्ति पक्षेषु समान दूषणं। (तुकी टी0एस0पी0 पृष्ठ- 259)
11. बुद्ध्या युदपपन्नं तत सर्वं न्याय मतम्।
12. 'नीयते अनेन इति न्यायः'
13. अपरे त्वनुमानं तर्क इत्याहुः। हेतुस्तर्को न्यायोऽन्वीक्षा इत्यनुमानमाख्यायत इति।' - न्यायवार्तिक 1.1.40
14. (क) एकस्मिन् धर्माणि विरुद्ध नानाधर्मवैशिष्ट्ययावगाहि ज्ञानं संशयः, तथा -
    (ख) विरुद्ध कोटि द्रवगाहि ज्ञानं संशयः।
    (ग) अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः।- (सर्वदर्शन संग्रह)
15. अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्रिस्तत्व ज्ञानार्थमूहस्तर्क : न्याय-सूत्र-40
16. अविज्ञायमानतत्वेऽर्थे जिज्ञासा तावज्जायते जानीयेमर्थमिति, अथ जिज्ञाससितस्य वस्तुनो व्याहतो धर्मो विभागेन विमृशति किं स्विदित्थमाहोस्विन्नेत्थमिति । विमृश्यमानयो धर्मयोरेकं कारणोपपन्न्याऽनुजानाति सम्भवत्यस्मिप् कारणं प्रमाणं हतुरिति कारणोपपत्या स्यादवमेतन्नेरदिति । - न्याय-भाष्य - 40
17. न्यायवार्तिक, पृ0 326

18. यस्मिन् विषये प्रमाणं प्रवर्तितुं उद्यतं तद्विपर्ययाशंङ्कायां न तावत् प्रवर्तते, न यावदनिष्टापत्या विपर्ययाशंङ्काऽनीयते तदपनय एव च स्वविषये प्रमाणसंभव इति चोपपत्तिरिति व्याख्यायते- न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-पृ0-321
19. गौतम (न्याय-सूत्र) 1,1,3;1,1,40.
20. वात्स्यायन, (न्याय-भाष्य-) 1,1,3;1,1,40
21. तर्को न प्रमाणसंगृहीतो, न प्रमाणान्तरं, प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्वज्ञानायकल्पते। -(न्याय-भाष्य)-1,1,1
22. तक्का जत्थ न विज्जइ, (आचा0सू0-170.)
23. बाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड-100,38,39.
24. व्यास-महाभारत शांति पर्व- 2,10,22;180, 47.
25. व्यास-महाभारत शांति पर्व- 318, 34.
26. व्यास-महाभारत अनुशासन पर्व- 318,35.
27. प्रत्यक्षागामात्रितं अनुमानं साऽन्वीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा। तथा प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्याय-विद्या न्यायशास्त्रं। -(वात्स्यायन न्याय भा0)-1,1,1.
28. ए हिस्ट्री आफ इन्डियन लाजिक- पृ0 5.
29. कौटिल्य-अर्थशास्त्र। विद्या समुद्देश-1,1.
30. मनु0स्मृ0- 12,106.
31. प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सुना। (मनु-स्मृति-12,105.)
32. आर्य धमोपदेशं च वेदशास्त्र विरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धते स धर्मवेद नेतरः।।(वही-12, 106)
33. मनु स्मृ0- 12, 105
34. पूजित विचाररचनी मीमांसा शब्दः । परम पुरुषार्थ हेतुभूतसूक्ष्मतमार्थ निर्णयफ्ला विचारस्य सूक्ष्मता । भामती ग्रहमसूत्र -1,1,1.
35. गौ0का0 - 3,23
36. गौ0का0-2, 12.
37. गौ0का0-2, 18
38. न्यायकोश -पृ0-13
39. मीमांसाधिकरण कौमुदी- पृ01
40. शाबरभाष्योपेतं मीमांसा दर्शनम् (तर्कपादः)
हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा, वाराणसी, 1991, पृ0-28 से 46
41. वाकोवाक्यं तर्कशास्त्र - छा0उप0शां0भा0 - 7,1,2.
42. दर्शन का प्रयोजन -पृ0-1
43. आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। वृ0उप0-2-4-5.
44. त्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थामास निराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्कैणैव वाक्यवृत्तिनिरुपण क्रियते। ब्रह्म-सूत्र शा0भा0-2-1-11.
45. मननं नाम शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तर विरोधशंकायां तन्निराकरणानुकूलतर्कात्म ज्ञान जनको मानसो व्यापारः। (वेदान्त परिभाषा प्रयोजन परिच्छेद।)
46. श्रीमद्शंकराचार्य- आत्मानात्मविवेक, चौखम्बा, वाराणसी सं0 2029, पृ0/21
47. वि0चू0-282.

48. श्रुतिः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि। वि0चू0-365.

49. यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रन्निबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति, उत्प्रेक्षाया निरंकुशतवात् तथा हि कश्चिदभियुक्तैर्यत्रेनोत्प्रेक्षितास्तर्काः अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमानादृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम पुरुषमति वैरुप्यात्। -(ब्रह्म-सूत्र शा0भा0।-2-1-11.

50. केवलागमगम्येऽर्थे स्वतंत्रतर्कऽविषये न सांख्यादिवत् साधर्म्य वैधर्म्य मात्रेण तर्कः प्रवर्तनीयः। (भामती ब्रह्मसूत्र-2-1-11.)

51. अर्थे श्रुत्येकगम्ये हि श्रुतिमेवाद्रियामहे। मानान्तरावगम्ये तु तद्वशात्तदव्यवस्थितिः। -(वही)-1-1-23.

52. पंचदशी-6-30

53. एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति। (ब्रह्म-सूत्र शां0भा0-2-1-11.)

54. न मानयोर्विरोधोऽस्ति------। (न्याय कुसुमाञ्जलि-3/19)

3

अद्वैत-वेदान्त में तर्क (मनन) का स्वरूप एवं अभिप्राय

'मनन' व्युत्पत्यर्थ में 'मन+ल्यूट्' से परिनिर्मित है जिसका अभिप्राय मन या बुद्धि का अनुप्रयोग है। अद्वैत वेदान्त का 'मनन' तर्क (Reason) के अर्थ में प्रयुक्त है। अन्य भारतीय दार्शनिक शब्दावली में भी इसे 'तर्क' के रूप में अभिहित किया गया है।

सभी भारतीय आस्तिक दर्शनों की उत्पत्ति श्रुतियों से हुई है। षड् दर्शनों के आचार्य अपने-अपने दर्शनों की पृष्ठभूमि एक स्वर से वेदों एवं उपनिषदों आदि को स्वीकार करते हैं। अपने मत को प्रस्तुत करने के पूर्व आचार्यगण यह विचार करते हैं कि यह मत श्रुत्यविरोधी है या नहीं। श्रुति को दर्शन के आधार के रूप में मानना प्रायः षड् दर्शनों की पूर्व मान्यता रही है। अब प्रश्न है कि जब सभी आचार्य श्रुति की ही व्याख्या करके अपने दार्शनिक-सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हैं तो उनके सिद्धान्त परस्पर विरूद्ध एवं विभिन्न क्यों हैं? एक तरफ जहां न्याय-वैशेषिक 'वस्तुवाद' के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करते हैं, वहीं सांख्य-योग प्रकृति-पुरुष द्वैतवाद को और आचार्य शंकर अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। जब श्रुति ही आधार है तो ये विभिन्न निष्कर्ष कैसे? क्या सभी आचार्यों की व्याख्याएं श्रुतियों के सही तात्पर्य को प्रतिपादित करती है? क्या सभी आचार्यो का दर्शन सही रूप में 'औपनिषदीय' है। आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र, भगद्गीता और उपनिषदों

पर भाष्य लिखकर सभी विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं और अद्वैत-मत को ही उपनिषदों का यथार्थ सिद्धान्त घोषित करते हैं। उपनिषदों का सूक्ष्म और बौद्धिक विश्लेषण आचार्य शंकर ने किया, और फलस्वरूप अद्वैत-वेदान्त की प्रतिष्ठा की। प्रो0 आर0डी0 रानाडे ने लिखा है,' 'अस्तु हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शंकर ने उपनिषदों से ग्रहीत भावों का विकास करके उन्हें अद्वैत-दर्शन के रूप में सुगुम्फित कर दिया।''[1] आचार्य शंकर मात्र उपनिषदों के एक अच्छे भाष्यकार के रुप में ही नहीं, अपितु उन महान विचारकों के रूप में भी गिने जाते हैं, जिन्हें भारत-भूमि पर अवतरित होने का गौरव प्राप्त है। '' शंकर का अद्वैतवाद, एक महान कल्पनात्मक साहस और तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है।''[2] ''वेदान्त विपरीत दर्शनों में से कोई भी, जहां तक साहस, गाम्भीर्य तथा कल्पना की सूक्ष्मता का सम्बन्ध है, शास्त्रीय-वेदान्त की तुलना में नहीं ठहर सकते।''[3] ''शंकर का दर्शन संगति, पूर्णता तथा गाम्भीर्य में भारतीय दर्शन में सबसे प्रथम स्थान रखता है।''[4] उनका दर्शन ''अनन्तसत्ता की खोज में अफलातून एवं कांट के समान, मानवता की उन महत्वपूर्ण एवं अमूल्य निधियों में से एक है।''[5]

शंकर के अनुसार, ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और वह निर्गुण, निराकार है, विषयी और विषय के द्वैत से परे है। जगत् मिथ्या है।

''श्लोकार्द्धेन प्रवच्छामि यदुक्तं शास्त्र कोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।।''

प्रश्न है कि हम कैसे विश्वास करें कि यह दृश्यमान जगत् मिथ्या है तथा इस व्यावहारिक सत्ता के परे एक परमार्थ सत्ता है जो एकमात्र सत् है? हमारे ज्ञान की सीमाएं हैं। जो व्यवहार तक ही सीमित हैं। हम सीमित साधनों स अनन्त ब्रह्म को कैसे जान सकते हैं? क्या केवल विश्वास के ही आधार पर उपनिषदों के अद्वैत परम-त्तव को मान लिया जाय? या विज्ञान और गणित की तरह दर्शन के

सिद्धान्तों को भी तर्क के आधार पर स्वीकार किया जाय। क्या शंकर का ब्रह्म बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर जाना जा सकता है? क्या शंकर दार्शनिक कम तथा प्रवर्तक (भाष्यकार) अधिक है? डा0 दासगुप्ता लिखते हैं "शंकर दर्शन की रचना आधुनिक युग की प्रक्रिया में नहीं किये, अपितु उन सत्यों को जो उपनिषदों में निरुपित है, भलीभांति बता दिये हैं।"[6] क्या शंकर का दर्शन समीक्षात्मक नहीं है? (क्या मुक्त) चिन्तन, तर्क तथा प्रमाणों के आधार पर शंकर ने दर्शन की स्थापना नहीं की है? डायसन लिखते हैं कि ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में "प्रमाणों के बारे में कोई मत नहीं है।"[7] उन्होंने आगे लिखा है कि प्रमाणों की पहुंच वेदान्तीय तत्त्व-मीमांसा तक नहीं है। शंकर के अनुसार तत्त्व को ज्ञान के साधारण साधनों जैसे-प्रमाण, बुद्धि, इन्द्रियानुभव आदि के आधार पर जानने में समर्थ नहीं हुआ जा सकता। क्या वास्तव में डायसन का यह मत आचार्य शंकर और उनके दर्शन के बारे में उचित मत प्रस्तुत करता है? क्या शंकर मात्र भाष्यकार हैं, दार्शनिक नहीं? क्या शंकराचार्य ने अद्वैत की रचना में तर्क को बिल्कुल महत्व नहीं दिया है? शंकर का तत्त्व मात्र अपरोक्षानुभूति का विषय है, यह 'अमूर्त तर्क तथा वैज्ञानिक परीक्षण' का विषय नहीं हो सकता।[8] क्या यह सत्य है? वेलवल्कर लिखते हैं- "शंकर लगातार व्यावहारिक सत्ता को पारमार्थिक आधार पर ही सिद्ध करते है, तर्क को दूर फेंक देते हैं। अद्वैत के विरुद्ध तार्किक आक्षेपों का उत्तर देते समय अति दृढ़ता के साथ वे श्रुति को ही अन्तिम प्रमाण मानते हैं।"[9] शांकर-दर्शन के बारे में उपरोक्त सभी विचार पुनर्विवेचन की आवश्यकता रखते हैं। यह सही है कि आचार्य शंकर के दार्शनिक मत उपनिषदों के है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि आचार्य शंकर श्रुतियों के व्याख्याकार मात्र ही हैं। श्रुति को ही शंकर के दर्शन का एकमात्र तार्किक आधार बताना तथा उन्हें अबौद्धिक कहना शंकर के प्रति अनादर ही है। शंकर कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्म

का ज्ञान स्वानुभूति में ही है और यही सत्य का अन्तिम और यथार्थ-प्रमाण है, परन्तु तर्क और चिन्तन का भी अपना स्थान है।

श्रुति के अभिप्राय को समझने तथा अद्वैत मत को प्रतिष्ठित करने के लिए आचार्य शंकर ने श्रुति के सहायक के रुप में तर्क को स्थान दिया। है। प्रो0 दास गुप्ता कहते हैं कि तर्क का एक गौड़ स्थान है। उपनिषदों के उद्देश्य को संगत रुप से, सही माने में समझाने में तर्क का[10] मुख्य स्थान है। श्रुतियां परस्पर असंगत विचारों को प्रतिपादित न करें तथा सभी अबाध रुप में एकमात्र परम् सत् ब्रह्म को ही स्वीकार करें- इस तरह संगत ज्ञान की प्राप्ति के लिए तर्क अपना अमूल्य स्थान रखता है। शंकर तर्क की 'श्रुतियों को सही समझने' में तथा 'विरोधी सिद्धान्तों के खण्डन में' सहायता लेते हैं। इसी रुप में तर्क को युक्ति कहा गया है।

ब्रह्मसूत्र में शंकर कहते हैं कि तर्क को तीन रूपों में प्रयोग में लाया जाता है।[11] पहला श्रुतियों के अभिप्राय को निश्चित करना; दूसरा संशय एवं विपरीत मतों का उन्मूलन करना एवं तीसरा ब्रह्म की सत्ता की संभावना को निश्चित करना। तर्क के आधार पर ब्रह्मसूत्र के 'तर्क-पाद' में शंकर सभी विरोधी दृष्टियों का खण्डन करते हैं तथा अद्वैत-वेदान्त को ही एकमात्र सत् तथा निश्चित औपनिषदीय सिद्धान्त की घोषणा करते हैं। उपनिषदों के परस्पर विरोधी वाक्यों - जैसे- 'नेहनानास्ति किंचन- (कठ उप0-2-1-11) तथा 'संर्वखल्विदं ब्रह्म' (छा0 उप0-3-14-11) में सामन्जस्य स्थापित करके एक स्वस्थ विचारधारा की स्थापना में तर्क का महत्व है। यथार्थ दृष्टि में ब्रह्म-ज्ञान में युक्ति अप्रामाणिक है और एकमात्र श्रुति ही अन्तिम प्रमाण है। सत्य की स्थापना तर्क द्वारा नहीं हो सकती है। तर्क श्रुति द्वारा स्थापित सत्य को जानने में सहायक हो सकता है। ब्रह्म अतीन्द्रिय विषय होने के कारण ब्रह्म प्रमाण का विषय नहीं है। प्रमाण

इन्द्रियानुभव की अपेक्षा रखते हैं जबकि ब्रह्म इन्द्रियानुभव से परे है। संसार के कारण के रुप में ब्रह्म को हम मात्र श्रुति के ही आधार पर जान सकते हैं।[12] श्रुतिवाक्यों के श्रवण के अनन्तर ही ब्रह्म को जाना जा सकता है, अनुमान आदि प्रमाण के आधार पर नहीं।[13] हम केवल वर्तन के रचयिता कुम्हार का ही प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकते हैं, संसार के रचयिता ब्रह्म का नहीं। अद्वैत में तर्क की एक सीमा है। ब्रह्म ज्ञान में न तो तर्क, अनुमान तथा उपमान की ही पहुंच है न अन्य लौकिक-प्रत्यक्ष आदि साधारण साधनों की ही। ब्रह्म रुप रंग से परे होने से न तो प्रत्यक्ष का विषय ही है, न तो लिङ्ग. होने से अनुमान का ही अपितु धर्म की तरह यह मात्र श्रुति का विषय है।[14]

आचार्य शंकर प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखते हुए अनेकों स्थान पर तर्क को ज्ञान के सहायक के रुप में स्वीकार करते हैं। कठोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म को तेज बुद्धि के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है।[15] वृहदारण्यक उपनिषद के याज्ञावल्क्य कांड पर भाष्य लिखते हुए आचार्य शंकर कहते है कि अमृत्तव के साधन रुप सन्यास एवं आत्म-ज्ञान को तर्क के माध्यम से भी जाना जा सकता है।[16] गौड़पादकारिका के अद्वैत-प्रकरण के प्रारम्भ में ही शंकर ने स्वयं प्रश्न किया कि वह अद्वैत क्या शास्त्र मात्र से ही ज्ञातव्य है अथवा तर्क से भी जाना जा सकता है? इस पर वे स्वयं उत्तर देते हैं कि तर्क से भी जाना जा सकता है।[17] शंकर कहते हैं कि जब विरोधी दूसरे के सिद्धान्तों का खंडन करते हैं तो प्रकारान्तर से वे अपने सिद्धान्तों की स्थापना में तर्क का प्रयोग करते हैं। शंकर कहते हैं कि यह मानना कि तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है स्वयं तर्क पर आधारित है। सभी तर्कों की अप्रतिष्ठा होने पर हमारा व्यावहारिक ज्ञान समाप्त हो जायेगा।[18] तथा जीवन असंभव होगा। रत्नप्रभा में तर्क के महत्व को स्थापित करते हुए यह स्वीकार किया गया है कि श्रुतियों में प्रतिपादित सत्य की स्थापना

तब तक नहीं की जा सकती है जब तक यह अनुमान (तर्क) द्वारा अनुमोदित या खंडित न हो।[19] माण्डूक्य कारिका के वैतथ्य प्रकरण के प्रारम्भ में शंकर लिखते हैं कि "द्वैत का मिथ्यात्व युक्ति से निश्चय किया जा सकता है।"[20] इस तरह शंकर तर्क के महत्व को स्थापित करते हैं। दर्शन में तर्क का स्थान है- ऐसा वे मानकर अपने दार्शनिक तवों का निरूपण करते हैं। ऐसे अनेक और स्थान है जहां शंकर तर्क के महत्व को समझाने की चेष्टा करते हैं। कठोपनिषद् पर भाष्य लिखते हुए शंकर कहते हैं कि" सूक्ष्मता की तारतम्य परम्परा से अनुगत होने वाला यह सम्पूर्ण कार्य वर्ग भी सद्बुद्धि निष्ठा को ही सूचित करता है, जिस समय विषय का विलय करते हुये बुद्धि का विलय किया जाता है, उस समय भी वह सद्वृत्ति गर्भिता हुई ही लीन होती है तथा सत् और असत् का यथार्थ स्वरुप जानने में तो हमारे लिये बुद्धि ही प्रमाण है।"[20] शंकर को तर्क से पराङ्मुख स्वीकार करना यथार्थ से परे जाना है। विवेक चूड़ामणि में आत्म विद्या के अधिकारी कैसे हो-योग्यता का निरुपण किया गया है तथा कहा गया है कि 'जो बुद्धिमान हों, द्विवान हो तथा तर्क-वितर्क में कुशल हों ऐसे लक्षणों वाला पुरुष ही आत्मविद्या का अधिकारी होता है।[21] इस तरह तार्किक होना आत्म-ज्ञान की प्राप्त में आवश्यक माना गया है। माण्डूक्य कारिका में कहा गया है कि श्रुति को खरा उतरने के लिए उसे युक्ति-युक्त होना चाहिए। श्रुति में स्थापित त्तव यदि युक्ति से भी सिद्ध होता है तो सही अर्थ में वही श्रुति का अभिप्राय होता है। "पारमार्थिक तथा अपारमार्थिक किसी भी प्रकार की सृष्टि होने में श्रुति तो समान ही होगी। अतः उनमें जो निश्चित एवं युक्तियुक्त मत हों वही (श्रुति का अभिप्राय) हो सकता है अन्य नहीं।"[22]

उपनिषदों में बहुत से विरोधी वाक्य है, जो विभिन्न विचारों को प्रतिष्ठित करते है।अलग-अलग आचार्य उन विचारों के आधार पर अलग-अलग सिद्धान्तों

की रचना करते हैं। कुछ विचारक उपनिषदों से द्वैतवाद की स्थापना करते हैं, तो कुछ अन्य बहुत्तववाद की। अतः कौन दार्शनिक सिद्धान्त औपनिषदीय है और कौन अनौपनिषदीय है- इसे सही रुप में तर्क के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है। ''इस तरह तर्क वेदान्त वाक्यों के तात्पर्य को भलीभांति निश्चित करके उनकी गलत व्याख्या को अप्रामाणित तथा सही एवं सम्यग् व्याख्या को प्रामाणित करता है।''[23] आचार्य शंकर अन्य भारतीय दार्शनिकों जैसे सांख्य, कणाद, बौद्ध आदि के मतों का खंडन इस आधार पर करते हैं कि वे शास्त्र एवं युक्ति से विहीन है. अतः वे आदर के योग्य नहीं है।[24] ब्रह्मसूत्र में शंकर एक दूसरे प्रसंग में सांख्य-मत का खंडन करते हुए कहते हैं- ''कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त इसलिये नहीं स्वीकार किया जाता कि वह अभिलषित है अपितु उस विशेष सिद्धान्त की संस्तुति के लिए पर्याप्त तर्क होने चाहिए।''[25]

इस प्रकार उपर्युक्त आधारों पर विचार करते हुए शंकर को महान तार्किकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। परन्तु जहां एक ओर शंकर तर्क के प्रति आस्था रखते हैं वहीं दूसरी तरफ तर्क की आलोचना एवं खंडन भी करते हैं। अद्वैत ब्रह्म तर्क से परे अनुभूति का विषय है। तर्क व्यवहार तक सीमित है। ब्रह्म व्यवहार से परे अनिर्वचनीय है, अतः तर्क से अग्राह्य है। ब्रह्म वाग्गोचर तथा बुद्धिगम्य नहीं है। शंकर माध्यमिकों की तरह ब्रह्म को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त, अद्वैत्तव स्वीकार करते हैं। बुद्धि की चारों कोटियां-अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, न अस्ति न नास्ति, व्यवहारिक जगत् तक सीमित है, परमार्थ को जानने की उनमें सामर्थ्य कहां। परमार्थ के विषय में बुद्धि यह आभास दिला सकती है कि वह बुद्धि के परे और अनिर्वचनीय है। त्तव स्वानुभूति एवं साक्षात्कार का विषय है। इस तरह तर्क व्यावहारिक होने से मिथ्या है। परमार्थ ब्रह्म ही सत्य-ज्ञान है जिसे तर्क से नहीं जाना जा सकता। अतीन्द्रिय को इन्द्रिय के माध्यम से कैसे जान

सकते हैं? प्रस्थानत्रयी की अपनी व्याख्या में आचार्य शंकर अनेकों स्थलों पर तर्क की अप्रतिष्ठा सिद्ध करते हैं। वे तर्क से सत् ज्ञान प्राप्त करने में अनिश्चित्ता स्वीकार करते हैं। शंकर स्वीकार करते है कि ''सम्यग्-ज्ञान से परस्पर मतभेद असम्भव है। परन्तु यह सर्वविदित है कि तर्क के माध्यम से प्राप्त ज्ञान परस्पर विरोधी होते हैं। यह देखा जाता है कि जब तक तार्किक किसी मत की स्थापना करता है तो दूसरा तर्क द्वारा ही उसका खंडन करता है, और वह दूसरा इसी क्रम में तीसरे के द्वारा खंडित होता है तथा यह भी संभव नहीं है कि भूत, वर्तमान तथा भविष्य के सभी तार्किक एक समय और एक विशेष स्थान पर एकत्रित हो सकें तथा सम्यग् ज्ञान की स्थापना में सब की सम्मति एक साथ ली जा सके और इस तरह सर्वदा के लिए एक सही ज्ञान की स्थापना की जा सके।''[26] तर्क के आधार पर सत्-ज्ञान, जो ब्रह्म ज्ञान है- की स्थापना संभव नहीं है। तर्क वाग्जाल है यह यथार्थ तक नहीं पहुंच सकता। तर्क सीमित सांसारिक वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करता है। तर्क के माध्यम से पारमार्थिक अतीन्द्रिय, अतिबौद्धिक ब्रह्म को कैसे जाना जा सकता है? तर्क सीमित पदार्थो का ज्ञान कर सकता है, अनन्त सत्ता तक उसकी पहुंच कहां।

शंकराचार्य ब्रह्म-ज्ञान को वेदान्त-शास्त्र द्वारा सिद्ध करते हैं। श्रुति ही प्रबल प्रमाण है और वास्तव में ब्रह्म-ज्ञान अपरोक्षानुभूति में ही होता है। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण तो निषिद्ध तथा व्यर्थ हो जाता है। ब्रह्म रुपादि के कारण अतीन्द्रिय है और अतीन्द्रिय होने के कारण लौकिक प्रत्यक्षगोचर नहीं है। ब्रह्म लिंगादि के अभाव के कारण, निर्विशेष है और निर्विशेष होने के कारण अनुमान का भी विषय नहीं है। इन दोनों प्रमाणों के व्यर्थ सिद्ध होने पर तो श्रुति ही एकमात्र प्रमाण रह जाती है। शंकराचार्य तर्क को प्रतिष्ठित नहीं करते हैं। तर्क मानवीय बुद्धि पर निर्भर है और इसमें मति-वेरुप्य, मति-विरोध तथा मति-बहुत्व स्पष्ट सिद्ध

है। इसलिये तर्क को अनवस्थित और भ्रान्त कहा गया है। वह श्रुति को अन्यथा नहीं कर सकता है।[27] शांकर की तरह महान् बौद्ध दार्शनिक आचार्य असंग भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। उनके अनुसार सत्य सविकल्प बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है और सविकल्प बुद्धि ही तर्क है। तर्क अनियत है, आगम मिश्रित है। तर्क स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। अव्यापी है, क्योंकि तर्क से सर्वज्ञता नहीं प्राप्त की जा सकती है। सांवृत है अर्थात् तर्क व्यवहार तक सीमित है। पारमार्थिक नहीं है। खेदवान है-. शुष्क वाद-विवाद का विषय है तथा अप्राप्ति में दु:खदायी है, बालाश्रय है-अबुद्धिमान बाल जन ही तर्क का सहारा लेते है अत: यह सिद्ध है कि त्तव तक तर्क की पहुंच नहीं है।[28] भारतीय संत और महाकवि तुलसीदास भी -परमार्थ सत् को बुद्धि के परे घोषित करते हैं।[29] ब्रह्म शास्त्रज्ञ आचार्य द्वारा ही उपदिष्ट हुआ सुविज्ञेय है। यह अणु से भी अणु है। बुद्धि से प्राप्त तर्क द्वारा इसका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कोई पुरुष तर्क करके उस अणुपरिमाण आत्मा को स्थापित भी करे तो दूसरा उससे भी अणु तथा तीसरा उससे भी अत्यन्त अणु स्थापित कर देगा, क्योंकि कुतर्क की स्थिति कहीं भी नहीं है।[30] आगे कठोपनिषद् में पुनः कहा गया है कि- ''सम्यक् ज्ञान के लिये प्राप्त की जाने वाली बुद्धि या प्रज्ञा शुष्क तार्किक द्वारा अप्राप्य है, इसे तो शास्त्रज्ञ आचार्य ही बता सकते हैं। प्रज्ञा से ही ब्रह्म ज्ञान संभव है, यह बुद्धि के ऊहापोह मात्र से प्राप्त होने योग्य नहीं है।[31] यह आत्मा या ब्रह्म न तो वाणी से न मन से और न नेत्र से ही प्राप्त किया जा सकता है।[32] इसीलिये भगद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण प्रिय भक्त अर्जुन को अपना ब्रह्म स्वरुप प्रगट करने के पूर्व दिव्य दृष्टि (प्रज्ञा) जो साधारण बुद्धि से परे है, प्रदान करते है और कहते हैं- ''हे अर्जुन! मुझकों इन अपने प्राकृत स्थूल

नेत्रों से देखने को निःसंदेह समर्थ नहीं हो इसी से मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूं जिससे तुम मेरे प्रभाव एवं योगशक्ति को देख सकते हो।''[33]

हम बुद्धि द्वारा अनिवर्चनीय त्तव को सम्बोधित नहीं कर सकते हैं। उपनिषदों में यही बार-बार दुहराया गया है। वाष्कलि मुनि अपने गुरु से बार-बार ब्रह्म को परिभाषित करने के लिए प्रार्थना करते हैं। गुरु मौन धारण किये हैं। शिष्य बार-बार पूछता जा रहा है; अन्त में गुरु मौन त्यागते हैं और उत्तर देते हैं कि -''मैं तो प्रश्न का उत्तर देते जा रहा हूं, यह मौन द्वारा हो रहा है, परन्तु तुम नहीं समझते- यह आत्मा शान्त है।[34] कठोपनिषद के महावाक्यों द्वारा यह बार-बार घोषणा किया गया है कि ब्रह्म तर्क से परे है। जैसे - ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सः''- (तैत्तिरीय उ0-2-9), नैव वाचा न मनसा प्राप्युं शक्यो न चक्षुषा''- (कठोपनिषद-2-3-12), ''नैषा तर्केण मतिरापनेया''-(कठोपनिषद -1-2-9); ''अणीयान्स्यतर्क मणुप्रमाणात्''- (कठोपनिषद -1-2-8); ''नाऽमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघया न बहुना श्रुतेनं'' (कठोपनिषद -1-2-23) आदि महावाक्य तर्क की अप्रतिष्ठा को बार-बार घोषित करते है। वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि जिस ब्रह्म ज्ञान के द्वारा हम सब कुछ जानते हैं जो विषयी है विषय नहीं उसे हम किसके माध्यम द्वारा जान सकते हैं। व्यवहार तो द्वैत में ही संभव है, परमार्थ तो अद्वैत है- वह तो व्यवहारातीत है। द्वैतावस्था में ही ''अन्य-अन्य को देखता, सुनता, मनन करता और जानता है। किन्तु जहां द्वैत समाप्त हो गया है सब अद्वैत आत्मामय है,वहां किसके द्वारा किसे सूंघे, देखे, सुने, मनन करें तथा जाने? जिसके द्वारा इस सबको जाना जाता है, उससे किसके द्वारा जाने? हे मैत्रेयि! विज्ञाता को किसके द्वारा जाने?[36] ''अतः आगे कहा गया कि ''बुद्धिमान को चाहिए कि वह बहुत शब्दों एवं तर्क के ऊहापोह में न पड़कर आचार्य के उपदेश एवं शास्त्र को जानकर उसी में मनन कर प्रज्ञा प्राप्त करें, यही

ब्रह्म को जानने का निर्वचन करने का स्वस्थ तरीका है।"[36] और अन्त में ब्रह्म को जान लेने पर ब्रह्म हो जाता है- "व्रह्म द्वि ब्रह्मनैव भवति।" यही कारण है कि याज्ञवल्क्य अति तार्किक एवं वाचाल होने के बजाय बालक और पंडित होने का उपदेश देते हैं क्योंकि यह ब्रह्म या आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का अविषय, अचिन्त्य अर्थात् मन का अविषय और विकाररहित है, अतः यह अतर्क्य है और स्वानुभूति के माध्यम से ही ज्ञेय है।[37]

आचार्य शंकर एक तरफ तर्क को यथार्थ ज्ञान के लिए प्रतिष्ठित करते हैं तो दूसरी तरफ उसका खंडन करते है। क्या यह स्वतः व्याघात तथा असंगत नहीं है? शंकर श्रुति को प्रबल प्रमाण मानते हैं, परन्तु वे वेदों के अंधविश्वासी भक्त नहीं है। वे उपनिषदों के वाक्यों को श्रवणे।पर न्त बुद्धि की कसौटी पर कसते हैं और अन्तोगत्वा शुद्ध सच्चिदानन्द ज्ञान की स्थापना करते हैं। आचार्य शंकर जब तर्क को अप्रतिष्ठित करते हैं तब उनका तात्पर्य शुष्क तर्क या कुतर्क से होता है, वास्तविक तर्क या सुतर्क से नहीं। सुतर्क अप्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। शंकर दोषयुक्त तर्क का परित्याग कर दोषरहित तर्क स्वीकार करने की घोषणा करते हैं।[38]

अब प्रश्न है कि आचार्य शंकर सुतर्क किसे मानते हैं? ऐसा तर्क जो श्रुति अनुग्राहित है वही प्रतिष्ठित है।[39] श्रुत्यनुग्राहित तर्क ही ब्रह्म-ज्ञान में सहायक है। उपनिषदों में प्राप्त विरोधी वाक्यों जैसे- शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्- (गौ0का0-3-1) तथा "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठ उप0-1-2-9) में परस्पर सामन्जस्य स्थापित करके अद्वैत की स्थापना में बुद्धि श्रुति के सहायक के रुप में प्रतिष्ठित है।[40] शंकराचार्य कुतर्क की ही निन्दा करते है। छांदोग्य भाष्य में कहा गया है कि श्रुतिवचन कुतर्क से मृषा सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[41] कुतर्क से ही बुद्धिमान पंडितों का अंतःकरण दूषित होता है और वे शास्त्र को सही रुप में जानने में

असमर्थ होते हैं। इसीलिये शंकर वृहदारण्यक भाष्य में इन्हीं कुतार्किकों पर खेद प्रगट करते हुये कहते हैं कि "अरे बिना सींग पूंछ वाले इन तार्किक वृषभों के अनुमान कौशल का क्या कहना?"[42] अतः स्पष्ट है कि शंकराचार्य ने कुतर्क या व्यर्थ के शुष्कवाद-विवाद की ही निन्दा की है और उसे ही अप्रतिष्ठित बतलाया है, सुतर्क को नहीं।

शंकराचार्य सुतर्क को व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी स्वीकार करते हैं, इसका खंडन नहीं करते हैं। श्रुतिवाक्यों का अर्थ भी बुद्धिमान तार्किक मनुष्य जान सकता है, मूर्ख नहीं। महर्षि यास्क ने ठीक ही कहा कि जो मनुष्य वेद को पढ़कर रट लेता है और उसका भाव नहीं जानता, वह कुली के समान महज बोझा अपने सिर पर लादे-लादे फिरता है।[43] शंकराचार्य केवल इसलिए श्रुतियों को मानने के लिए नहीं कहते कि वह अपौरुषेय है, श्रद्धा और विश्वास के योग्य है अपितु दार्शनिक विषयों पर विचार करते समय अकाट्य युक्तियों की सहायता से सिद्ध करके श्रुति की प्रमाणिकता को स्वीकार करते हैं।[44] शंकराचार्य श्रुति और प्रमाण के विरोध को दूर करने के लिए श्रुति को महत्व देते हैं, परन्तु जब श्रुति और युक्ति में विरोध हो तो युक्ति को प्रामाणिक मानते हैं क्योंकि युक्ति श्रुति की अपेक्षा अनुभव के अधिक निकट है। इसीलिए शंकर कहते हैं कि यदि सैकड़ों श्रुतियां एक स्वर से यह घोषणा करें- अग्नि शीतल होती है तथा अप्रकाशयुक्त होती है तो यह अयुक्तियुक्त तथा अनुभव-विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक ही है।[45] युक्ति या तर्क-बुद्धि सत् और असत् के यथार्थ विवेचन के लिए पूर्ण रूप से प्रामाणिक है ऐसा कठ भाष्य की घोषणा है।[46] अतः सुतर्क की महत्ता और प्रामाणिकता आचार्य शंकर पूर्णरुपेण स्वीकार करते है। तर्क की अप्रामाणिकता भी तर्क द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है। इस प्रकार प्रकारान्तर से तर्क की प्रतिष्ठा

पुनः कायम ही रहती है। 'तर्क अप्रतिष्ठित है'- यह कथन स्वतः असंगत तथा द्वतोव्याघात है क्योंकि तर्क के अप्रतिष्ठित्तव की सिद्धि भी तर्क के ही माध्यम से संभव है।[47]

अब प्रश्न है कि क्या सुतर्क के माध्यम से ब्रह्म-ज्ञान संभव है? यद्यपि आचार्य शंकर ब्रह्म-विषयक ज्ञान के लिये श्रुति को ही एक मात्र प्रमाण स्वीकार करते है,परन्तु तर्क की महत्ता श्रुति के समर्थन में मानते है। ब्रह्मसूत्र में आचार्य शंकर लिखते है कि "श्रुति के विरोध में होने से अनुमान प्रमाणादि के द्वारा जगत् के कारण रुप ब्रह्म को नहीं माना जा सकता है। अतः श्रुति समर्थित तर्क ब्रह्म-ज्ञान में उपयोगी है। इस तरह पुरुष बुद्धि की सहायता से आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है।"[48] जब शंकर तर्क को आत्म-ज्ञान के लिये उपयोगी बताते हैं तो वे सर्वदा श्रुति द्वारा समर्थित या प्रामाणिक तर्कज्ञान को ही लेते हैं। अतीन्द्रिय विषयों में तर्क की कोई पहुंच नहीं हो सकती जब तक कि वह श्रुति वाक्यों द्वारा समर्थित न हो। वाचस्पति मिश्र तर्क की प्रामाणिकता के लिए निम्न तीन शर्तो की घोषणा करते है। वे कहते हैं कि तर्क वही ग्राह्य हैं जो (1)आगम या शब्द प्रमाण (श्रुति) पर आश्रित हों, (2) जो श्रुति आधारित विषयों पर स्पष्ट व्याख्या करते हों, (3) जिनका श्रुति से कोई विरोध न हो।[49] अर्थात् तर्क जो श्रुति पर आधारित है, सत्-ज्ञान प्राप्ति में पूर्ण सक्षम है।

तर्क का प्रयोग संशय और विरोधी विचारों के उन्मूलन के लिये अति-आवश्यक है तभी श्रुति में निहित परम त्तव का ज्ञान संभव होगा। यद्यपि शंकर अपने दर्शन के मूल सिद्धान्तों की पुष्टि तर्क के आधार पर करते हैं, परन्तु उनका यथार्थ ज्ञान तो अपरोक्षानुभुति में ही होता है। शंकर श्रुति युक्ति तथा अनुभव में सामन्जस्य स्थापित करते हैं तथा इन सबको एक साथ ब्रह्म-ज्ञान के

लिए प्रामाणिक बताते हैं। विवेक चूड़ामणि में शंकर कहते है। कि- ''अपने अज्ञान रुपबंधन का संसर्ग छूट जाने से जो सच्चिदानन्द स्वरुप आत्मा की प्राप्ति होती है, उसमें शास्त्र, युक्ति, गुरु-वाक्य और अन्तः करण से सिद्ध होने वाला अपना अनुभव प्रमाण है।''[50] इस तरह शंकर ने सत्य को स्थापित करने और जानने में श्रुति और युक्ति को समान महत्व दिया है। ब्रह्म के पूर्ण साक्षात्कार में श्रुतियुक्ति और अनुभव का एक साथ प्रयास उपयोगी है।

अद्वैत-वेदान्त में तर्क का अभिप्राय :

आचार्य शंकर एक तरफ तर्क को यथार्थ-ज्ञान में स्वतंत्र रुप से अप्रतिष्ठित मानते हैं तो दूसरी यथार्थ-ज्ञान प्राप्त करने में श्रुति के सहायक के रुप में प्रतिष्ठित भी करते हैं। तर्क के बारे में शंकर के विरोधी निर्णयों को हम भली-भांति तभी जान सकेंगे, जब हम तर्क के स्वरुप तथा अभिप्रायः को ठीक से जानेंगे। शंकर जिस तर्क का खंडन (ब्रह्मज्ञान में अनुपयोगी होने से) तथा मंडन (श्रुति के उद्देश्य को भली प्रकार समझने तथा विरोधी मतों के खंडन करने में) करते है, क्या वे परम्परागत तर्क (निगमन और आगमन) ही है? या इसका कोई और स्वतंत्र स्वरुप है जो शंकर स्वीकार करते है? क्या इसे प्रमाण के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

परम्परागत दर्शन में दो प्रकार की युक्तियां स्वीकार की गयी है-

(1) निगमनात्मक युक्ति (2) आगमनात्मक युक्ति

निगमनात्मक युक्ति में निरुपाधिक तर्क वाक्यों के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। निष्कर्ष की सत्यता या असत्यता आधार-वाक्यों के सत्य या असत्य होने पर निश्चित होती है। इस प्रकार की युक्ति या तो वैध होगी या अवैध। इस प्रकार के तर्क में बाह्य अनुभव की आवश्यता नहीं होती। जैसे- यदि यह स्वीकार किया जाय ''सभी मनुष्य मरणशील है'' और साथ ही यह भी

स्वीकार किया जाय कि "राम एक मनुष्य है" तो इन दोनों तर्कवाक्यों के आधार पर हमारा निष्कर्ष यह होगा कि "राम मरणशील है।" यह निष्कर्ष वैध है। अब हम "राम मरणशील है कि नहीं"- इसकी प्रामाणिकता के लिए बाह्य जगत् में अनुभव की आवश्यकता नहीं रखते। इसकी प्रामाणिकता माने हुए तर्क-वाक्यों के आधार पर निश्चित होती है।

दूसरे प्रकार के तर्क के स्वरुप को आगमनात्मक तर्क कहते हैं। इस प्रकार की युक्ति में निष्कर्ष आवश्यक रुप से आधार वाक्यों से निकलता है, यह नहीं देखा जा सकता है। इसमें निष्कर्ष सर्वदा संभाव्य या संभाव्य रुप से सत् होता है। इसमें हम विशेष अनुभवों के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकालते हैं जो मात्र संभाव्य सत् हो सकता है निश्चित नहीं। उदाहरण के लिए यह एक-निष्कर्ष है 'सभी कौवे काले होते हैं'। हम अनुभव में देखते हैं कि अपने देश के सैकड़ों स्थानों के कौवे काले हैं, हम रुस, बंग्लादेश, नेपाल, श्रीलंका आदि देशों के हजारों स्थानों पर रहने वाले कौवों को देखते हैं कि वे काले हैं,यद्यपि हमने संसार के अन्य सभी देशों के तथा भूत भविष्य के कौवों को बिल्कुल नहीं देखा है। फिर भी हम यह निष्कर्ष निकालते हैं, कि 'सभी कौवे काले होते हैं।' यह निष्कर्ष संभाव्य रुप से सत् है। यह आगमनात्मक युक्ति है।

क्या शंकर परम्परागत के इन दोनों स्वरुपों को स्वीकार करते हैं और फलस्वरुप अपने अद्वैत दर्शन में इनका निराकरण या निरुपण करते हैं अथवा अद्वैत में तर्क का कोई और स्वरुप है जिसे आचार्य शंकर स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन में विशेष रुप से वस्तुवादी दर्शनों में तर्क को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। न्याय-वैशेषिक अपने परम त्तव जैसे ईश्वर, जीव, जगत्, अमरता आदि की स्थापना तर्क के आधार पर करते हैं। उदाहरण के रुप में ईश्वर की सिद्धि के लिये न्याय द्वारा दिया गया तर्क लिया जा सकता है। नैयायिक तर्क करते हैं

कि -ये विश्व के जितने पदार्थ हैं वे सब कार्य है, उत्पन्न हुये हैं अत: इनका कोई कारण होना चाहिए। क्योंकि हम अनुभव में देखते हैं कि घड़े का कर्ता कुम्हार है, चित्र का चित्रकार है और बिना कुम्हार के घड़े का निर्माण असम्भव है, अत: यह जो जगत् कार्य रुप में है इसका कोई न कोई कारण है। वह चेतन सर्वशक्तिशाली ईश्वर ही है। क्या शंकर भी न्याय की तरह परमत्तव ब्रह्म की स्थापना तर्क के आधार पर करते है?

क्या शंकर तर्क को प्रमाण से अलग स्वीकार करते हैं अथवा इसे प्रमाण के अन्दर निहित मानते हैं? नैयायिक तर्क को न तो प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं और न प्रमाण से अलग। वे इसे प्रमाण के सहायक के रुप में स्वीकार करते हैं। न्याय भाष्य में कहा गया है कि "तर्क को प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है, यह प्रमाण से भिन्न नहीं है, त्तव-ज्ञान के लिये प्रमाणों के अनुग्राहक (सहायक) के रुप में तर्क की प्रतिष्ठा होती है।"[51] पंचपादिका भी स्वीकार करती है कि तर्क प्रमाणों से भिन्न परन्तु सहायक है, त्तव की संभावना को प्रदर्शित करने में तर्क का मुख्य कार्य है न कि पूर्ण और यथार्थ ज्ञान में।[52] विवरण भी त्तव की संभावना व असंभावना को प्रमाणित करने में ही तर्क को स्थापित करता है। त्तव की निश्चित्ता तर्क द्वारा असंभव है।[53]

क्या शंकर तर्क को प्रमाण से भिन्न मानते हैं? शंकर कभी-कभी तर्क को अनुमान से संबंधित करते है और इसे एक स्वतंत्र प्रमाण के रुप में स्थान नहीं देते। शारीरिक -भाष्य पर टिप्पणी लिखने वाले वाचस्पति मिश्र युक्ति के अनुमान और अर्थापत्ति के अन्तर्गत ही निहित स्वीकार करते हैं।[54] अनुमान और अर्थापत्ति तो प्रमाण हैं, युक्ति भी इन्हीं प्रमाणों में निहित है। इस प्रकार तर्क का यह स्वरुप तो परम्परागत तर्कशास्त्र के तर्क के स्वरुप से भिन्न है।

आचार्य शंकर तर्क की प्रतिष्ठा तभी करते है जब वह श्रुति समर्थित हों। शंकर अनुभव के सहायक रुप में श्रुति से अनुगृहीत तर्क को स्वीकार करते है।[55] शंकर ब्रह्म ज्ञान में एक मात्र श्रुति प्रमाण को ही प्रबल रुप से स्वीकार करते हैं। ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य में कहा गया है कि "वाक्यार्थ विचार द्वारा निश्चित तात्पर्य से ब्रह्मावगति (ब्रह्म-ज्ञान) निष्पन्न होती है। अनुमानादि अन्य प्रमाणों से निष्पन्न नहीं होती। जगत् के जन्म आदि के कारण का प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त वाक्यों (यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते) के विद्यमान होने पर उनके अर्थ ग्रहण की दृढ़ता के लिये वेदान्त वाक्यों का अविरोधी अनुमान भी यदि प्रमाण होता हो तो उसका निवारण नहीं किया जा सकता। क्योंकि श्रुति ने सहायक रुप से तर्क-अनुमान को स्वीकार किया है।[56] इस तरह यथार्थ ज्ञान में एक मात्र श्रुतिप्रमाण मानते हुये भी श्रुति के सहायक रुप में तर्क की प्रतिष्ठा आचार्य शंकर अपने अद्वैत दर्शन में करते हैं।

कभी-कभी आचार्य शंकर श्रुति की अपेक्षा तर्क को अनुभव के अधिक निकट स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि 'अनुभूत अर्थ के सादृश्य से अदृष्ट-परोक्ष अर्थ का समर्थन करने वाला तर्क अनुभव के निकट है, श्रुति तो ऐतिह्य (परोक्ष रूप) मात्र से अपने अर्थ का अभिधान करती है अतएव श्रुति अनुभव से दूर है।'[57] इस प्रकार तर्क अनुभव के निकट होने के कारण मान्य है। इसी प्रकार का निष्कर्ष ब्रह्मसूत्रशां० भाष्य के 'दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होती है' तथा वृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य के 'अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है'- इन दोनों कथनों पर दृष्टिपात करने से निकाला जा सकता है।[58] ऐसा लगता है कि शंकर अनुभव सन्निहित तर्क की प्रतिष्ठा करते हैं।

शंकर अमूर्त तर्क की अपेक्षा वैध अनुमान की महत्ता पर जोर देते हैं। तर्क के आधार पर हम संभावित और असंभावित ज्ञान भी स्थापित नहीं करते हैं।

वस्तु या त्तव की संभावना या असंभावना तो प्रमाण के ही आधार पर हो सकता है। आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र में योगाचार विज्ञानवाद के इस तर्क का कि 'बाह्य वस्तु असंभव है, वह अन्तर्ज्ञेय रुप है मात्र वहिर्वत अवभासित होता है' का खंडन करते हुये यह दिखाते हैं कि प्रमाण द्वारा बाह्य जगत् की स्थापना की जाती है। बाह्य-वस्तुएं अनुभवगम्य हैं। ये हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में आती है। इसकी सिद्धि के लिए शंकर दो युक्ति देते हैं- जिन पर विचार किया जा सकता है। शंकर तर्क करते हैं कि ''बाह्य वस्तुओं का अभाव निश्चित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि हमें प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ कुंड घट, पट इस प्रकार बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है और उपलभ्यमान अर्थ का अभाव नहीं हो सकता। जैसे कोई भोजन करता हुआ भोजन साध्य स्वयं अनुभूयमान तृप्ति के होने पर ऐसा कहे कि मैं भोजन नहीं करता अथ्वा मैं तृप्त नहीं हूं। वैसे ही इन्द्रिय के सन्निकर्ष से बाह्य अर्थ को उपलब्ध होता हुआ मैं उपलब्ध नहीं करता और बाह्य-वस्तु नहीं है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है?' और फिर योगाचार कहते हैं कि बाह्य अर्थ अन्तर्ज्ञेयरुप है वह तो वहिर्वत अवभासित होता है। इस पर फिर शंकर तर्क करते हैं- ''बाह्य अर्थ के प्रत्याख्यान की कामना करते हुये 'बहिर्वत' ।

इस प्रकार 'वत्' का प्रयोग किया जाता है। नहीं तो 'बहिर्वत्' ऐसा क्यों कहा जाता। अरे कोई 'विष्णु बन्ध्यापुत्र के समान प्रतीत होता है' ऐसा कहता है। इसलिये अनुभव के अनुसार त्तव को स्वीकार करने वालों -पदार्थ बाहर ही भासता है, ऐसा स्वीकार करना युक्त है न कि 'बहिर्वत' अवभासित होता है। फिर योगाचार तो बाह्य अर्थ के असंभव होने से 'बहिर्वत' अवभासित होना स्वीकार करते है। यह कैसे? क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पूर्वक संभव और असंभव का निश्यच्च किया जाता है, न कि संभव और असंभव पूर्वक प्रमाण की

प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति का। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में से एक प्रमाण से भी जो उपलब्ध होता है उसका संभव है और जो किसी भी प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता उसका संभव भी नहीं होता।' अतः बाह्य अर्थ की सत्ता है।[59] यह सभी प्रमाणों द्वारा उपलभ्य मान है।

इस प्रकार शंकर यथार्थ या वैध प्रमाणों को ज्ञान की संभावना तथा असंभावना निश्चित करने में बहुत अधिक महत्व देते हैं। अमूर्त तर्क द्वारा वस्तु की संभावना तथा असंभावना कुछ भी निश्चित नही किया जा सकता है। अतः तर्क की अपेक्षा प्रत्यक्षादि प्रमाण ग्राह्य है। इस तरह शंकर प्रमाणों को भी प्रतिष्ठित करते हैं।

अन्तोगत्वा शंकर तर्क के अभिप्राय एवं स्वरुप को सही रुप में व्यक्त नहीं करते। वे तर्क को श्रुति के सहायक रुप में स्वीकार करते हैं। शंकर ऐसे ही तर्क को स्वीकार करते है जो श्रुति द्वारा समर्थित हो- ''श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्रतर्कोऽनुभवाङ्.त्वेन श्रीयते' - (शां0 भाव0-2.1,6) और श्रुति ऋषियों के प्रत्यक्ष अनुभव है, अतः तर्क को अनुभवगम्य रुप में ही स्वीकारा जा सकता है। शंकर यदि तर्क को अनुमान के रुप में लेते हैं तब भी तर्क अनुभव पर ही प्रामाणित होता है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। ब्रह्म ज्ञान के लिए शंकर ऐसे ही तर्क को प्रतिष्ठित करते हैं जो श्रुति एवं अनुभूति से विरुद्ध न हों। श्रुति, युक्ति और अनुभूति के सम्मिलित प्रयास से ही अवद्यिा का नाश होता है तथा आत्मा की सर्वात्मता को प्राप्त किया जाता है।[60]

मनन और प्रमाण :

भारतीय दर्शन में ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं।[61] भारतीय दर्शन में प्रमाणों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। जहां चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाणवादी है,वहीं

जैन दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को स्वीकार करता है। न्याय-वैशेषिक-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, सांख्य-योग-प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, मीमांसा दर्शन-प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को स्वीकार करते हैं। शंकर अपने भाष्यों में पांच प्रमाणों को स्वीकार करते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति औरशब्द।[62] वृहदारण्यक भाष्य के याज्ञवल्क्य-आर्तभाग संवाद के प्रारम्भ में शंकर तीन प्रमाणों का निर्देश करते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द।[63] छांदोग्य उपनिषद पर भाष्य लिखते हुए आचार्य शंकर इतिहास, पुराण और स्मृतियों को भी ज्ञान के साधन के रुप में स्वीकार करते हैं।[64] शंकर प्रमाणों की संख्या निश्चित करने में अधिक रुचि नहीं रखते। वे प्रमाणों की महत्ता उसके विषय के यथार्थ-ज्ञान में ही प्रतिष्ठित करते हैं।

क्या प्रमाणों के द्वारा ब्रह्म-ज्ञान संभव है? शंकर ब्रह्म-ज्ञान को प्रमाण का विषय नहीं मानते है। ब्रह्म-ज्ञान श्रुति एवं अपरोक्षानुभूति द्वारा ही संभव है। "वाक्यार्थ विचार द्वारा निश्चित तात्पर्य से ब्रह्मावगति (ब्रह्म-ज्ञान) निष्पन्न होती है, अनुमानादि अन्य प्रमाणों से निष्पन्न नहीं होती।"[65] क्योंकि अनुमानादि प्रमाण बुद्धि की अपेक्षा रखता है और 'वस्तु का यथार्थ ज्ञानबुद्धि की अपेक्षा नहीं करता।'[66] ब्रह्म-ज्ञान अतीन्द्रिय है और प्रमाण का विषय नहीं हो सकता।

जब यथार्थ-ज्ञान प्रमाण (शब्द को छोड़कर) का विषय नहीं है, तो इनका क्या महत्व है? शंकर अपने दर्शन में सत् की दो श्रेणियों को स्वीकार करते हैं-

1. व्यवहारिक सत्
2. पारमार्थिक सत्

व्यवहारिक सत् का ज्ञान हमे प्रमाणों द्वारा होता है। सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान हम इन्द्रियानुभव या प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर करते हैं। परन्तु अतीन्द्रिय, निरुपाधिक, निराकार होने से ब्रह्म-ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है और इसकी

पूर्णता के बाद न प्रमाण की आवश्यकता रहती है न तर्क की। शास्त्र भी पूर्ण-ज्ञान के बाद निरर्थक हो जाता है। यहां ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय की यह त्रिपुटी, विषय और विषयी का द्वैत समाप्त हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान की सारी प्रक्रियांए विकसित रुप में विज्ञान-स्वरुप होकर, प्रज्ञा रुप में एकमात्र यथार्थ सत् ब्रह्म में लीन हो जाती है।

परन्तु व्यावहारिक स्तर पर प्रमाण, बुद्धि, तर्क आदि की महत्ता एवं उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शंकर कहते हैं कि 'अपने-अपने विषय में सब प्रमाण श्रोतादि इन्द्रियों की तरह प्रबल होते हैं;'[67] तथा 'एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं होता। जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं जानी जाती, उसी को दूसरा प्रमाण बतलाता है।'[68]

अनुमानादिक प्रमाण अविद्या या माया निर्मित जगत् की वस्तुओं का ही ज्ञान कराने में समर्थ है। जैसा कि शंकर ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका में ही लिखते हैं- "प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण और श्रुति अविद्या निर्मित विषय को ही व्यवहृत करते हैं।'[69] ब्रह्म-ज्ञान तो श्रुति के श्रवण, मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता रखता है। ब्रह्म-ज्ञान होने के पूर्व मनुष्य को इसका अधिकारी होना चाहिये और इसके हेतु उसे -'नित्य और अनित्य वस्तुओं का विवेक होना चाहिए, इस लोक और परलोकस्थ विषय भोगों से विराग, शम दम आदि साधन सम्पत्ति और मुमुक्षता आदि विशिष्ट गुणों वाला होना चाहिए और इस प्रकार साधन चतुष्टय के अनन्तर्य ही मनुष्य ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी होता है। ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानने वाले नैयायिक प्रमाणों (अनुमानादि) के आधार पर ईश्वर के अस्त्तिव की सिद्धि करते हैं। परन्तु आचार्य शंकर अनुमानादि प्रमाणों को व्यवहार तक सीमित मानते हैं। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण ब्रह्म तो वेदान्त शास्त्र से ही अवगत होता है।[70] श्रुतिप्रमाण की प्रामाणिकता

आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान के अनन्तर असिद्ध नहीं होता। शंकर कहते हैं कि -'आत्मज्ञान को आत्म-साक्षात्कार फल पर्यन्त होने से ब्रह्म-विषयक शास्त्र की प्रमाणता का खंडन नहीं किया जा सकता।[71] और भी शास्त्र प्रामाण्य अनुमान गम्य नहीं है जिससे कि वह अन्य स्थलों में देखे हुये दृष्टान्तों की अपेक्षा करें। अत: शास्त्र की उपेक्षा कदाचित् नहीं किया जा सकता।[72]

आचार्य शंकर श्रुति भाष्यों के अनेक स्थलों में ज्ञान के लिये प्रमाणों की भी वैधता और उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। शंकर कहते हैं कि 'धर्म जिज्ञासा की तरह ब्रह्म जिज्ञासा में केवल श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं हैं, किन्तु श्रुति आदि तथा अनुभव आदि यथा संभव उसमें प्रमाण हैं।'[73] फिर आगे कहते हैं कि 'ज्ञान तो प्रमाण-जन्य है और प्रमाण-यथार्थ वस्तु विषयक होता है, इसलिये ज्ञान करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने के योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह केवल वस्तु के अधीन है। विधि के अधीन नहीं है और पुरुष के अधीन भी नहीं है।''[74] जब शंकर प्रमाणों की वैधता को स्वीकर करते है तो उनका तात्पर्य व्यावहारिक ज्ञान के लिये ही है। पारमार्थिक अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान बुद्धि, तर्क, प्रमाण आदि के परे अनुभूति द्वारा ही संभव है।

पुन: शंकर अनेक स्थलों पर जोर देकर कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान केवल श्रुति प्रमाण के ही आधार पर जाना जा सकता है, अन्य किसी प्रमाण जैसे अनुमानादि द्वारा नहीं। क्योंकि ब्रह्म रुप रंग लिंग आदि का अभाव होने से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा अनुमान का विषय नहीं हो सकता है। शंकर तर्क करते है ' जो यह कहा गया है कि सिद्ध वस्तु होने से ब्रह्म में अन्य प्रमाणों का संभव होगा। यह भी मनोरथ मात्र है, क्योंकि रुपादि का अभाव होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है, और लिंग आदि का अभाव होने से अनुमान आदि का विषय नहीं है यह तो धर्म के समान केवल आगम मात्र से अधिगम्य है।[75] तथा 'सिद्धवस्तु स्वरुप होने पर भी

ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है, क्योंकि 'तत्वमसि' इस वेदान्त-शास्त्र के बिना ब्रह्मात्मभाव अवगत नहीं होता।'[76] ब्रह्म को जो कि अविद्या या भ्रम के कारण हम नहीं जानते, इस चराचर जगत् को ही सही रुप में परमत्तव मानते हैं तथा जीव को कर्ता, भोक्ता आदि रुप में देखते हैं- इस प्रकार का हमारा ज्ञान जो अज्ञान ही है, सही मालूम होता है। यह सब अज्ञान के कारण होता है। हम वस्तु के यथार्थ रुप को बिना सही रुप में देखे उसके विवर्त रुप को ही यथार्थ मान लेते हैं। 'हम रस्सी को सर्प मान लेते हैं।' जब कि सर्प की स्थिति नहीं होती है, वास्तव में सर्प की न तो भूत में, न वर्तमान तथा न भविष्य में ही सत्ता है। उसी प्रकार ब्रह्म ही एकमात्र सत् ज्ञान है, परंन्तु अविद्या के कारण हम जीव को ब्रह्म से अलग देखते हैं और उसे कर्ता एवं भोक्ता के रुप में स्वीकार करते हैं। शंकर कहते हैं कि इस प्रकार के अज्ञान की समाप्ति वेदान्त शास्त्र के अध्ययन और मनन से ही संभव है। 'यह अति गम्भीर ब्रह्म-श्रुति से ही ज्ञातव्य तर्क, अनुमान आदि से अवग्राह्य नहीं है।'[77] 'ईश्वर के स्वरुप को न तो प्रत्यक्ष और न ही अनुमान प्रगट करता है, यह केवल वेद का ही विषय है।'[78]

एक दूसरे स्थान पर आचार्य शंकर ब्रह्म को श्रुति का भी विषय नहीं स्वीकार करते है।। हम श्रुति के द्वारा मात्र अविद्या निर्मित भेद द्वैत को दूर करते हैं। शंकर ब्रह्मसूत्र में कहते हैं कि 'यदि यह कहा जाय कि इन्द्रियादि का अविषय होने से ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण सिद्ध होगा,तो ऐसा नहीं है। क्योंकि शास्त्र तो अविद्या से कल्पित भेद की निवृत्ति के लिये है। शास्त्र इदं रुप से विषयभूत ब्रह्म का प्रतिपादन करना नहीं चाहता, किन्तु ब्रह्म प्रत्यगात्मरूप से अविषय है, ऐसा प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र अविद्या से कल्पित ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी की निवृत्त करता है।[79] इस प्रकार आचार्य शंकर शास्त्र को इस द्वैत के निराकरण में ही उपयोगी स्वीकार करते हैं। परन्तु यदि भेद समाप्त हो जाता है,

विषय-विषयी का द्वैत, ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय की व्यवहारिक त्रिपुटी समाप्त हो जाती है, तो हम प्रकारान्तर से विशुद्ध विज्ञान, स्वप्रकाश, अद्वैत-त्तव का यथार्थ ज्ञान करते हैं। अतः श्रुति अविद्या निर्मित नानात्व का निराकरण कर अद्वैत-त्तव ब्रह्म का ज्ञान कराती है। क्योंकि यह द्वैत तो व्यवहारतः है, पारमार्थिक दृष्टि से जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं; निर्गुण और सगुण, निर्विशेष और सविशेष, पर और अपर ब्रह्म में, ब्रह्म और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। आखिर अद्वैत में भेद कैसे? जब तक जीव अज्ञान में है, द्वैत प्रपंच में है तब तक अपने स्वरुप के ज्ञान से विमुख रहता है, परन्तु वेदान्त-शास्त्र की कृपा से ज्ञान होने पर वह स्वयं के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अपने अद्वैत स्वरुप को जान लेता है और अखण्ड आत्मानन्द में लीन हो जाता है।

इस प्रकार आचार्य शंकर अपने दर्शन में एक तरफ प्रमाणों (शब्द के अतिरिक्त) को ब्रह्म ज्ञान जो कि परमार्थ ज्ञान है, में अनुपयोगी स्वीकार करते हैं, परन्तु व्यवहारिक ज्ञान की यथार्थता के लिये अत्युपयोगी स्वीकार करते हैं। वस्तु की संभावना और असंभावना की सिद्धि के लिये प्रमाण की महत्ता को अप्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है। कोई भी वस्तु तभी संभव है जब हम उसका प्रत्यक्ष या अनुमान के आधार पर अनुभव करते हैं। व्यवहार का निराकरण नहीं किया जा सकता है। शंकर कहते हैं कि 'सैकड़ों श्रुति भी यदि अग्नि को शीतल और अप्रकाशत्व वाला स्वीकार करे तो हम अनुभव के आधार पर इसे प्रामाणिक नहीं मानेंगे।'[180] लौकिक अनुभव के विरुद्ध तर्क या श्रुति की कोई प्रतिष्ठा नहीं है।शंकर यथार्थ ज्ञान में अनुभव, श्रुति एवं तर्क में कोई विरोध नहीं मानते। सभी अपने-अपने क्षेत्र में प्रामाणिक ज्ञान देने में समर्थ हैं। परन्तु ब्रह्म-ज्ञान तो अपरोक्षानुभूति या साक्षात्कार पर्यन्त ही संभव है। प्रमाण, तर्क और बुद्धि की यहां प्रतिष्ठा नहीं है। श्रवण और मनन तो ब्रह्म ज्ञान की प्रक्रिया में एक कड़ी है,

वास्तविक ज्ञान तो निदिध्यासन में ही होता है जो श्रवण मननादि की पराकाष्ठा है।

श्रुति तथा लौकिक-अनुभव :

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से जो ज्ञान हम नहीं प्राप्त कर सकते हैं, वह हम श्रुति की सहायता से प्राप्त करते हैं। परमत्तव ब्रह्म चूंकि निर्गुण, निराकार और निर्विशेष है, यह रंग, रुप विहीन है, अतः यह इन्द्रिय-संन्निकर्ष का विषय नहीं है। यह केवल श्रुति के द्वारा जाना जा सकता है। प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण ब्रह्म ज्ञान में समर्थ नहीं है। श्रुति अद्वैत-ब्रह्म को एक यथार्थ, अबाधित सत्ता स्वीकार करती है, परन्तु साथ ही नानात्व जगत् को भी अस्वीकार नहीं करती है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है।यह दूसरे स्तर की सत्ता है। प्रथम स्तर या पारमार्थिक स्तर पर तो केवल ब्रह्म ही एकमात्र परमत्तव है। जगत् व्यावहारिक स्तर पर यथार्थ है। अतएव व्यावहारिक-ज्ञान की भी प्रमाणिकता है। श्रुति परमार्थतः व्यावहारिक जगत् एवं इसके ज्ञान को अयथार्थ ही सिद्ध करती है। यह जाग्रत अवस्था के पूर्व स्वप्न के अनुभव तथा 'रज्जु-ज्ञान' के पूर्व 'सर्प-ज्ञान' की भांति है। वास्तव में जब तक हम स्वप्न देखते हैं, उस समय स्वप्न-संसार बिल्कुल सही और व्यावहारिक लगता है उसी प्रकार यह जीव जब तक अज्ञान के बंधन में रहता है तब तक वह नानात्व का अनुभव करता है, परन्तु ज्यों ही वह अविद्या के बंधन से दूर हो जाता है वह अद्वैत-ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, जहां किसी तरह का भेद नहीं है। श्रुति-ज्ञान व्यावहारिक अनुभव को अस्वीकार नहीं करता अपितु उसे मिथ्या ज्ञान कहता है। श्रुति वास्तविक सत्ता के बारे में ज्ञान देता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष जगत् के आभास का अध्ययन करती है। सुरेश्वर कहते हैं कि 'प्रत्येक प्रमाणों में ज्ञान को प्राप्त करने की क्षमता है उनकी स्वतः प्रामाणिकता स्थापित नहीं की जा सकती है, क्योंकि वे एक दूसरे के सहयोगी है,उनका आपस में विरोध नहीं है।'[81]

मुण्डक उपनिषद् भी सम्पूर्ण ज्ञान को दो वर्गो में विभाजित करता है-[82] 1.परा ज्ञान 2. अपरा ज्ञान। प्रथम ज्ञान परम त्तव ब्रह्म का है, तो दूसरा नानात्व जागतिक वस्तुओं का। हम परा ज्ञान के माध्यम से जागतिक विशेष वस्नुओं के अस्त्तिव की, उसके मूल की सांकेतिक जानकारी कर लेते हैं जैसे मिट्टी के ज्ञान से हम मिट्टी से बने सभी पदार्थो का ज्ञान कर लेते हैं। अतएव मिट्टी के ज्ञान की तरह, जगत् के अस्त्तिव के मूल ब्रह्म का ही ज्ञान पूर्ण ज्ञान है। ब्रह्म-ज्ञान इसलिए पूर्णज्ञान है जिसे परा-ज्ञान या परा-विद्या भी कहते हैं। अतः यह अपरा ज्ञान से भिन्न है। परन्तु परा-ज्ञान और अपरा ज्ञान में कोई परस्पर विरोध नहीं है। एक पारमार्थिक या स्वरुप-लक्षण का ज्ञान देता है तो दूसरा व्यावहारिक या तटस्थ-लक्षण का ज्ञान देता है। यह दूसरा ज्ञान क्षणिक है- अयथार्थ है। यह ज्ञान केवल तभी तक सही है जब तक आत्मा के ब्रह्म से अभेद का ज्ञान नहीं होता ठीक वैसे ही जैसे स्वप्न तभी तक सत्य होता है जब तक आदमी जागता नहीं है।[83] परन्तु 'जगत् के पारमार्थिक मिथ्यात्तव के साथ उसके व्यावहारिक सत्यत्व का कोई परस्पर विरोध नहीं है।'[84]

आचार्य शंकर लौकिक अनुभव को ज्ञान की उत्पत्ति में यथार्थ प्रमाण स्वीकार करते हैं। अनुभव के प्रति शंकर की विशेष रुचि उनके ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रारम्भ में ही देखी जा सकती है, जब वे माया या अध्याय का विश्लेषण लौकिक अनुभव के आधार पर करते हैं। वे कहते हैं कि "स्मृति रुप पूर्व दृष्ट अन्य में अवभास ही अध्यास है।" वे उदाहरण देते हैं " कि जैसे लोक-व्यवहार में भी अनुभव है कि शुक्ति ही रजत के समान अवभासित होती है; एक ही चन्द्रमा दो चन्द्रमाओं के समान प्रतीत होता है।"[85] आचार्य शंकर कहते हैं कि अनुभव के विपरीत कल्पना अयथार्थ होती है।[86] हम दृष्ट से ही अदृष्ट की सिद्धि करते है।[87] अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है।[88] आचार्य शंकर प्रत्यक्ष अनुभव पर

आधारित ज्ञान को यथार्थ स्वीकार करते हैं- यद्यपि यह पारमार्थिक रुप से अयथार्थ ही है। हम इन अनुभवों का सहारा लेकर जगत् के असंगत एवं विरोध को जान सकते हैं, इस प्रकार इसकी अयथार्थता या मिथ्यात्व का ज्ञान होता है तथा परम त्तव ब्रह्म के ज्ञान की तरफ बुद्धि आकृष्ट होती है। आचार्य शंकर प्रत्यक्ष प्रमाण के विरोध में श्रुति प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि 'श्रुति प्रत्यक्षादि विषय में प्रमाण नहीं है।[89] क्योंकि 'सहस्र श्रुति वाक्य भी घड़े को कपड़ा नहीं बनाती है।'[90] श्रुति का उद्देश्य अतीन्द्रिय ब्रह्म का ज्ञान कराना है। श्रुति लौकिक अनुभवों को बाधित नहीं करती है। शंकर कहते हैं कि 'उत्कृष्ट दृष्टि का ही निकृष्टं में अध्यास करना चाहिए यह लौकिक न्याय है जैसे सारथी में राजदृष्टि। इस लौकिक न्याय का यहां अनुसरण करना चाहिये।[91] तथा 'शास्त्र के संदिग्ध होने पर उंसके निर्णय के प्रति आश्रीयमान लौकिक न्याय भी विरुद्ध नहीं है।[92]

संदभिक

1. उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण पृ0- 154
2. राधाकृष्णन-भारतीय दर्शन भाग-2,पृ0-438.
3. इन्ट्रोडक्शन टु ब्रह्मसूत्र-पृ0-14
4. सरचार्ल्स इलियट -हिन्दुइज्म और बुद्धिज्म, भाग-2, पृ0 208
5. एस्पेक्ट्स आफ वेदान्त, पृ0-120
6. वही पृ0-89,90.
7. वही पृ0-89
8. एस्पेक्ट्स आफ वेदान्त, पृ0-127
9. बेल्वल्कर, पृ0-18
10. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1, पृ0-431
11. ब्रह्मसूत्र-शांकर-भाष्य- 1-1-2.
12. शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादिकारणम् ब्रह्माधिगम्यते इत्यभिप्राय:।-(ब्रह्मसूत्र-शा0भा0)-1-1-3
13. वाक्यार्थविचारणार्थ हि अवसान निवृत्ता हि ब्रह्मावगति: न अनुमानादि प्रमाणान्तर निवृत्ता। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-1-1-2.

14. यदुक्तं परिनिरूपन्नत्वात् ब्रह्मणि प्रमाणन्तराणि सम्भवेयुरिति तदपि मनोरथमात्रं रुपाद्य भावधि नाऽयमर्थः प्रत्यक्षस्यगोचरः लिङ्ग.द्यभावाच्चनुमानादि संबंधिगम्यंव त्वयामर्थः धर्मवत्। -(ब्रह्मसूत्र-शां0भा0)-2-1-6.
15. दृश्यते तु अग्रया बुद्धया। -(कठोपनिषद शां0भा0)-3-12.
16. तदेव तर्केणाप्यमृत्तवसाधनं सन्यासमात्मज्ञानमधिगम्यते। -(वृ0उप0शा0भा0)-4-4.
(क) अद्वैत किमागगमात्रेण प्रतिपत्तव्यमाहोस्वित्तर्केणापीत्यत आह-शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्। -(गौ0 का0 शां0भा0)-3-1.
17. एतदपि तर्काणामप्रतिष्ठित्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते, सर्वतर्काप्रतिष्ठायाच्च लोकव्यवहारोच्छेद प्रसंगः। -(ब्रह्मसूत्र-शां0भा0)-2-1-11
18. अनुमानस्य श्रुत्यनुग्राहत्वेन तद्भावे तद्विरोचे वा श्रुत्यार्थसिद्धेः। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-1-1-2
19. तत्रोपपत्यापि द्वैतस्य वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुम्। -(गौ0का0शां0भा0)-2 प्रारम्भ
20. इदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यं पारम्पर्यैणानुगम्झमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति यदापि विषयप्रविलापेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदापि सा सत्प्रत्ययगर्भैवविलीयते। बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सद्सतोर्याथात्म्यावगमे। -(कठोपनिषद् शां0भा0)-2-3-12
21. मेधावी पुरुषो विद्वाननूहापोहविचक्षणः। अधिकार्यात्मद्वियायामुक्तं लक्षणलक्षितः।।-(वि0चू0)-16
22. भूत्तोऽभूत्तो वापि सूज्यमाने समाश्रुतिः। निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तभवति नेतरत। -(गौ0का0)-3
23. श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्ग्राभास निराकरणेन सम्यगनिर्धारणं तर्केणैव वाक्य प्रवृत्ति निरुपेण क्रियते। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-2-1-31
24. सांख्य-कणाद-बौद्धानां मीमांसाहत कल्पना, शास्त्र-युक्ति विहिनत्वान्नादर्तव्या कदाचन। -(उपदेश साहस्रि)-16-64,65
25. न ह्यभिलषित सिद्धिनिबन्धना व्यवस्थाशक्या विज्ञातुमुपपत्या तु कयाचिद् व्यवस्थाच्येद। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-2-3-50
26. सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना। तर्कज्ञानानां त्वन्योऽन्य विरोधात्प्रसिद्धविप्रतिपत्तिः यद्वि केनचित्तार्किकेणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति। प्रतिपदितं तदपरेण व्युत्थाप्यते इति प्रसिद्धं लोके नच शवयन्ते अतीतानागतवर्तमानास्ताकिका एकस्मिन्देशे कालेच समाहर्तुं येन तन्मतिरेक रुपैकार्थ-विषया सम्यङ मतिरिति स्यात् ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-1-11
27. नहि प्रतिष्ठित्तवंतर्काणां शक्यमाश्रयितं पुरुषमतिवैरुप्यात्। ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-1-11 तथा तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवति। -(केन वाक्य भाष्य)-1.3
28. निश्रितोऽनियतोऽव्यापी सांवृत्तः खेदवनपि। बालाश्रयो मतस्तर्कस्तस्यातो विषयो न तत्।। -(महायान सूत्रालंकार)-1-12
29. 'राम अतर्क्य बुद्धि मनबानी, मत हमार अस सुनहि सयानी' -रामचरितमानस-बालकांड
30. कठ उप0शा0भा0-1-2-8
31. नैषा तर्केण मतिरापनेया, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। कठोपनिषद्-1-2-9
32. नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। -(वही)-2-3-12
33. भगद्गीता-11-8

34. ब्रह्म, खलु त्वं न विजानासि, उपशान्तोऽयमात्मेति। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-3-2-17
35. विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। वृह0उप0-2-4-14
36. वृहउव-4-4-21
37. अव्यक्तोऽचिन्त्योऽयमविकार्यो मुच्यते। भगवतगीता-2-25
38. एवं हि सावधतर्क परित्यागेन निरद्वयस्तर्कः प्रत्तिपत्तव्यो भवति। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-1-11)
39. श्रुत्यनुग्राहीत एवं ह्यत्र तर्कोनुभवानगत्वेन स्रयते। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-2-1-6
40. श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेत्तवात्। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-1-1-2
41. श्रुतेर्वचनं न कुतर्कबुद्धया मृषा कुर्तं युक्तम। -(छा0उप0शां0भा0)-8-12-1
42. अहो अनुमानकौशलं दर्शितुमपुच्छश्रृंगैतार्किकबलीद्वैः। (वृह0उप0)-2-1-20
43. स्थाणुरयं भारहारं किलाभूत अधीहतं वेदं न विजानातियोऽर्थे।
-(बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ0 218)
44. वाक्य निरपेक्षः स्वतंत्रस्तदयुक्तिप्रतिषेधः क्रियते। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-2-2-1
45. नहि श्रुति- शतमपि शीतोऽग्निरप्रकाशो वेति बुवत प्रामाण्यमुपैति। -(गीताभाष्य)-18/66
46. बुद्धिहिनंः प्रमाणं सदसतोयाथात्म्यावगमें। -(कठ भाष्य)-6/12
47. न हि प्रतिष्ठितस्तर्क एवं नास्तीति शक्यते वक्तुं एतदपि हि तर्काणाम प्रतिष्ठित्तवं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-2-1-11
48. 'सत्सु वेदान्तवाक्येषुं जगतो जन्मादिकारणवादिषु- तदर्थग्रहणदाढ़र्यानुमानपि वेदान्त वाक्य विरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्याभ्यु पेत्तवात्। पुरुष बुद्धि साहाय्योत्मनो दशयति। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-1-1-1
49. आगमप्रमाणश्रयः तदविषयविवेकः तदविरोधि। -(भामती)-2.1.6
50. विवेक चूड़ामणि- 475
51. तर्को न प्रमाणसंगृहीतो, प्रमाणान्तरं, प्रमाणानामनुग्रहकस्तवज्ञानाय कल्पते।-(न्याय-भा0)-पृ032
52. विषयासंभवशङ्कायां तथानुभवफलानुत्पतौ त्तवसम्भ्व प्रदर्शन मुखेन फलप्रतिबन्धविगमे-(पंचपदिका पृ039)
53. प्रमाणादित्तवे सम्भवासम्भव प्रत्ययस्तर्को न निश्चयरुपः। -(भाष्य)-पृ0-503
54. युक्तिश्चार्थापत्तिरनुमानं-भामती शां0भा0
55. श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभंवाङ्त्वेनाश्रीयते। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-1-6)
56. वाक्यार्थविचारणाध्ववसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादि प्रमाणान्तर निर्वृता। सत्सु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदाढ़र्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्यविरोधिप्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेत्तवात्। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-1-1-2
57. दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्तीयुक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते, विप्रकृष्यतं तुश्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात्। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-1-4)
58. दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-2-2) और प्रत्यक्ष पूर्वकत्वादनुमानस्य
-(वृहदा0 उप0शां0भा0-1-2-1)
59. -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-2-2-28
60. श्रुत्यायुक्तया स्वानुभूत्वा ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः। क्वचिदाभासतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु।
-(वि0चु0)-282

61. प्रमाकरणं प्रमाणम्-(वेदान्त-परिभाषा-प्रत्यक्ष-परिच्छेद)
62. -(वृहदा0 उप0शां0भा0)-3. 3 भूमिका
63. -(वही) -3-2 भूमिका
64. -(छादो0 शां0भा0)-5.10.2
65. वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः न अनुमानादि प्रमाणान्तरनिवृत्ता। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-1-1-2)
66. न वस्तुयाथात्म्य ज्ञानं पुरुषबुद्धयपेक्षम्- -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-1-1-2)
67. स्वविषय शूराणिहि प्रमाणानि श्रोत्रादिवत्। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-1-20)
68. न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तर विषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0)-2-1-20
69. अद्वियावद्विषयाणि प्रत्यक्षादि प्रमाणानि शास्त्राणि च। ब्रह्मसूत्र शां0भा0 भूमिका।
70. तत् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिं जगदुत्पत्ति स्थितिलंयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवाबगम्यते। ब्रह्मसूत्र शां0भा0 भूमिका ।
71. आत्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तवान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। -(वही)-1-1-2
72. न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदशनमपेक्ष्यते। तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्र प्रमाणकत्वमृ। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-1-1-4)
73. न धर्म जिज्ञासायामिव श्रुत्यादव एव प्रमाणं ब्रह्म-जिज्ञासायां, किन्तु श्रुत्यादयों अनुभवादयश्य यथासंभवमिह प्रमाणम्। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-1-1-2)
74. ज्ञानं तु प्रमाण-जन्यं, प्रमाणश्च यथाभूतवस्तुविषयम्, अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमशक्यं, केवलं वस्तुतत्रमेवत्त्। न चोदनातन्त्रम्। नापि पुरुषतन्त्रम्। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-1-1-4)
75. यदुक्तं परिनिष्पन्नत्वाद्ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयुः इति तदपि मनोरथमात्रं, रुपाद्यभावाद् हि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः, लिंङ्गाद्यभांवाच्च नानुमानादीनां, आगममात्रसमधिगम्य एवं त्वयमर्थो धर्मवत्। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-1-6)
76. न च परिनिष्ठित वस्तुस्वरुपत्विऽपि प्रत्यक्षादि विषयत्वं ब्रह्मणंः, 'तत्वमसि' (छा0-6-8-7) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात्। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-1-6)
77. श्रुत्वगाह्यमेवेदमति गम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2.1.11)
78. नेन्द्रियाणि नानुमानं वेदा हि एवैनं वेदयन्ति-विष्णुत्तवविनिर्मय -(मध्वाचार्य)
79. अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्-नः अद्वियाकल्पित भेद निवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। नहि शास्त्रनिदंतयाविषयभूतं ब्रह्मप्रतिपिपादयिष्यति। कि तर्हि। प्रत्यगात्मत्वे नाविषयत्वा प्रतिपादयद्द्वियाकत्पियं वेद्य-वेदितृ-वेदनाहि भेदमप-नयति। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-1.1.4)
80. नहि श्रुतिशतमपि शीतोग्निर-प्रकाशों वेति ब्रुवश्रमाण्यमुपैति। -(गीता-भाष्य-866)
81. नैष्कर्म्य-सिद्धि-3-86
82. मुण्डकोपनिषद-1.1.4
83. ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2.1.14
84. डायसन-सिस्टम आफ वेदान्त. पृ0-55

85. ब्रह्मसूत्र शां0 भा0-1.1.1, भूमिका।

86. दृष्टविपरीत कल्पनाऽनुपपत्तेः। -(शां0 भा0ब्रह्मसूत्र-1.14.15)

87. दृष्टाच्चादृष्ट सिद्धिः। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2.2.2)

88. प्रत्यक्षपूवकत्वादनुमानस्य। -(वृहदा0 उप0शां0भा01.2.1)

89. श्रुतेः प्रामाण्यं न प्रत्यक्षादि विषये। -(गीताभाष्य)-18/66

90. न ह्यागमाः सहस्त्रमपि घटं पटयितुम इष्टे -(भामती-प्रस्तावना)

91. उत्कृष्ट दृष्टि हि निकृष्टेऽध्यतिव्येति लौकिकोन्यायः, यथा राजदृष्टिक्षत्तारि, स चाऽनुसतव्यः

92. संदिग्धे तु तस्मिन्निर्णयं प्रति लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते।
-(ब्रह्मसूत्र-शां0 भा0)-4.1.5

4

अद्वैत वेदान्त में ज्ञान-मार्ग (श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन)

अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल ज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है।[1] ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं की जा सकती है।[2] अब प्रश्न उठता है कि ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो सकती है? ज्ञान साधन है और मोक्ष साध्य है। अद्वैत वेदान्त औपनिषदीय प्रणाली से ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन करता है। ज्ञान-मार्ग के तीन सोपान हैं-

1. श्रवण
2. मनन और
3. निदिध्यासन।

'श्रवण' के लिए यह आवश्यक है कि साधक के अन्दर साधन-चतुष्टय विद्यमान हो। साधन-चतुष्टय साधक की योग्यताएं निम्नवत् हैं-

1. नित्यानित्य-वस्तु-विवेक :

प्रत्येक साधक के अन्दर नित्य तथा अनित्य वस्तुओं के बीच अन्तर का बोध होना चाहिए। नित्य वह है जो सदैव विद्यमान हो तथा एक रूप मे सर्वदा स्थित हो। जो पूर्ण हो तथा जिसका विभाजन सम्भव न हो वह नित्य है। जो इससे भिन्न है, वह अनित्य है। 'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है;' एंसी निश्चयात्मक बुद्धि नित्यानित्य-विवेक है।[3]

2. इहामु-ार्थभोग विराग :

इस संसार में देहधारण के अतिरिक्त विषय में माला, चन्दन एवं वनितादि-संभोग में, वान्त, भोजन, मलमूत्रादि के परित्याग में जैसे 'इच्छा नहीं है' ऐसी 'इच्छा का अभाव' ही 'इहलोक-विराग' है। स्वर्ग एवं ब्रह्मलोकादि में निवास करने वाली रम्भा, उर्वशी आदि के संभोगादि विषय में पूर्ववत् अनिच्छा 'अमुत्र विराग' है।

साधक के मन में इहलोक तथा परलोक के भोगों के प्रति वैराग्य होना चाहिए। लेकिन, हमारे मन में सांसारिक एवं पारलौकिक भोगों के प्रति वैराग्य तभी हो सकता है जब हम आत्मा को ही श्रेष्ठ समझें। आत्मा साध्य-मूल्य है।[4] आत्म-रूपी निःश्रेयस् को प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के प्रेयस् का परित्याग करना वैराग्य है।

3. शमदमादिसाधनसम्पत् :

शम,दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, तथा श्रद्धा- इन छः गुणों को साधक को अर्जित करना चाहिए। मानसिक नियंत्रण ही 'शम' है; इन्द्रियों का नियंत्रण 'दम' है; विषय-वासना से दूर हटना 'उपरति' है। सांसारिक द्वन्द्वो के प्रति सहिष्णुता 'तितिक्षा' है। शंकाओं का समन्वय समाधान है; ऐसा स्वाभाविक विश्वास जिसका तर्क द्वारा खण्डन न किया जा सके, श्रद्धा है।

4. मुमुक्षत्व[5] :

मोक्ष प्राप्त करने की उत्कट इच्छा को मुमुक्षत्व कहा जाता है। जब तक साधक के अन्दर मुमुक्षत्व का भाव नहीं हो पाता है तब तक उसे वेदान्त ज्ञान का लाभ नहीं मिल सकता है।

गुरु तथा वेदान्त के वचनों में अत्यन्त विश्वास का नाम 'श्रद्धा' है। यह शमदमादि षट सम्पत्ति के भीतर 'एक' कहा गया है। मुक्ति प्राप्ति के लिए अत्यन्त तीव्र उत्कण्ठा का नाम 'मुमुक्षा' है। यह साधन-चतुष्टय सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति जिसके पास है वह 'साधन-चतुष्टय सम्पन्न' कहलाता है। उसे ही आत्मा एवं अनात्मा सम्बन्धी विचार में विवेक का अधिकार प्राप्त होता है। जैसे; ब्रह्मचारी के लिए कोई अन्य कर्त्तव्य नहीं है, उसी प्रकार साधन-चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति के लिए कोई अन्य कर्त्तव्य नहीं है। साधन-चतुष्टय रूपी सम्पत्ति के अभाव में भी गृहस्थों के आत्म-विचार करने पर भी उसे पाप नहीं लगेता, वरन् उसका अत्यधिक कल्याण होता है तथा प्रतिदिन वेदान्त-विचार से, भक्ति संयोग से तथा गुरु की सेवा से प्राप्त अस्सी कृच्छ-व्रत का फल प्राप्त होता है।[6]

विवेक और विराग ये दो शक्तियां 'साधन-चतुष्टय' की सारी कार्य-प्रवृत्तियां की नियामिका है। एक है हमारी अपनी अभिज्ञता और दूसरी है- दूसरों से प्राप्त अनुभूति। ये दो शक्तियां हमारे चित्त में अनेकानेक शुभ्र तरंगे उत्पन्न करती रहती हैं। इन्द्रियां मन की ही विभिन्न अवस्था मात्र हैं। ये दो भागों में विभक्त हैं- ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। ये इन्द्रियां हमारी सभी संवेदनाओं एवं कार्यो का केन्द्र है। विवेकी जन सर्वप्रथम इन्हें नियंत्रित करने की चेष्टा करते हैं। विवेक शक्ति के द्वारा ये नियंत्रित इन्द्रियां जब पूरी तरह पराजित हो जाती है, तब एक-एक स्नायु, एक-एक मांसपेशी तक वशवर्त्ती हो जाते हैं। मनुष्य के सारे कार्य और समग्रभाव संयत हो जाते हैं। सारा शरीर अधीन बन जाता है। विवेक-शक्ति के द्वारा ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर ही कोई व्यक्ति मनुष्य-देह धारण करने में आनन्द अनुभव कर सकता है। तभी वह सत्यतापूर्वक कह सकता है- "मैं धन्य हूं जो मेरा जन्म हुआ।"

दूसरी शक्ति है वैराग्य- इस उच्चतम शक्ति का विकास तब संभव है जब मनुष्य गुणों के प्रति अपनी आसक्ति भी छोड़ देता है। गुण से तात्पर्य है- सत्व, रज और तम। विश्व की सारी वस्तुएं, सारा का सारा प्रयत्न ही तीनों शक्तियों के विभिन्न ताल-मेल से उत्पन्न हुआ है। संसारी लोगों का अनुभव बतलाता है कि विषय-भोग ही जीवन का चरम लक्ष्य है। ये भयानक प्रलोभन है। इन प्रलोभनों के प्रति पूर्णतया उदासीन हो जाना और उन सबों से प्रभावित होकर मन को तद्रूप वृत्ति के आकार में परिणत न होने देना ही वैराग्य है। स्वयं अपने अनुभव किये हुए और दूसरे के अनुभव किए हुए विषयों से हममें जो दो प्रकार की कार्य-प्रवृत्तियां उत्पन्न होती है, उन्हें दबाना ओर इस प्रकार चित्त को उनके वश में नहीं आने देना ही सच्चा वैराग्य है। वे सब मेरे अधीन रहें, मैं उनके अधीन न होऊँ - इस प्रकार के मनोबल को वैराग्य कहते हैं। यही वैराग्य मुक्ति- पथ का सच्चा सम्बल है।

लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक छः प्रकार के हैं : -उपक्रम, उपसंहार, अभ्यासफल, अपूर्वता, अर्थवाद ओर उपपत्ति।[7] प्रसंगवश प्रतिपाद्य अर्थ के आदि और अन्त में जो उपपादन है वह क्रमशः उपक्रम और उपसंहार है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरणप्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का अद्वितीय अर्थात् एक ही इत्यादि में 'ऐसे गुण युक्त' ऐसा अन्त में प्रतिपादित है। प्रसङ्गप्राप्त प्रतिपाद्य के बीच में उसका बार-बार प्रतिपादन अभ्यास अर्थात् आवृत्तिमात्र है। जैसे वहां ही 'अद्वितीय वस्तु' के बीच में 'त्तवमसि' का प्रतिपादन है। फलतः प्रकरण प्रतिपाद्य आत्मज्ञान का अथवा उसके अनुष्ठान का वहां भी श्रूयमाण प्रयोजन है। जैसे उन्हीं-उन्हीं स्थानों में 'आचार्यवान पुरुष जानते हैं' इसका तभी तक स्थायित्व है, जब तक मुक्ति न हो जाय। ऐसे अद्वितीय वस्तु का ज्ञान तथा उसी प्राप्ति का प्रयोजन

'फल' है। उसकी अपूर्वता प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय पदार्थ का प्रमाण मध्य में ही विषयीकृत है।

जैसे वहां ही उस अद्वितीय वस्तु के बीच में विषयीकरण है। प्रकरण प्रतिपाद्य का उन-उन स्थानों में प्रशस्ति कथन ही 'अर्थवाद' है। प्रकरण-प्रतिपाद्य के अर्थसाधन में यहां 'श्रूयमान तर्क' की उत्पत्ति है। जैसे सोम सम्बन्धी एक मिट्टी के खण्ड से 'सब कुछ मिट्टी की है'- ऐसा जाना जाता है। वाचारम्भण तो विकार नामधेय है, मिट्टी ही सत्य है, इत्यादि में अद्वितीय वस्तु के साधन में, विकार का वाचारम्भण मात्रत्व में युक्ति सुना जाता है।[8]

श्रवण का निरूपण

1. महादेवानन्द सरस्वती कहते हैं कि षड्विध तात्पर्य-लिंगों के द्वारा उपनिषद के वाक्यों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में निश्चित करना श्रवण कहा जाता है।[9] आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः[10] (अर्थात् मुमुक्षुओं के लिए यह आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने और निदिध्यासन के योग्य होता है।) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा श्रवण-विधि बतलायी गयी है । अतः प्रश्न है कि क्या श्रवण विधि स्वीकृत है ?

2. इस प्रश्न का उत्तर देते हुये महादेवानन्द सरस्वती ने 'अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ' में एक पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार श्रवण विधि-सम्मत नही है । इसके अनेक कारण हैं।

पहला, शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में विधि का निराकरण किया है । पुरूषप्रवर्त्तकों विधिः[11] (अर्थात् पुरूष को किसी प्रवृत्त (कर्म) में लगाना विधि है । शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य मे 'त्तु समन्वयात्' सूत्र के भाष्य में लिखा है कि

उपनिषद् के त्तव-ज्ञान में विधि का कोई योगदान नही है क्योंकि विधि कर्म प्रेरक है और उपनिषद् के वाक्य त्तवबोधक हैं तथा कर्म को सारहीन बताने वाले है ।

दूसरा, मुमुक्षु की फलेच्छा में प्रवृत्ति नही होती है, क्योंकि मुमुक्षु में प्रवृत्ति का अभाव देखा जाता है ।

तीसरा, श्रवण में विधि नही मानी गयी है। अद्धैतवेदान्त में श्रवण-विधि के द्वारा नही, किन्तु ध्यान-विधि के द्वारा आत्म-साक्षात्कार होता है[12], ऐसा माना जाता है।

3. परन्तु, उपर्युक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए महादेवानन्द सरस्वती ने निम्नलिखित तर्क दिये है :-

पहला, शंकराचार्य ने ज्ञान-विधि का निराकरण किया है, न कि श्रवण-विधि का क्योंकि ज्ञान में प्रवृत्ति का अभाव है । श्रवण में प्रवृत्ति का अभाव नही है। अत: श्रवण और ज्ञान में अन्तर है । यद्यपि ज्ञान में विधि नही है तथापि श्रवण में विधि है ।

दूसरा, आत्मा का विचार करने में श्रुति, स्मृति, पुराण आदि का विचार करना प्रवृत्ति है जो मुमुक्षुओं में देखी जाती है ।

तीसरा, ध्यान-विधि सहकारी विधि है और श्रवण-विधि प्रधान विधि है । यदि प्रधान विधि को न माना जाए और केवल सहकारी विधि को माना जाए तो यह व्यतिक्रम-दोष है जो सम्भव नही है । प्रधानविधि के अभाव में सहकारी विधि सम्भव नही है क्योंकि यदि मूल नही है तो शाखा कैसे हो सकती है ? अत: श्रवण में विधि मानना चाहिए । इसलिए श्रवण करना चाहिए ।

4. अब श्रवण-विधि का प्रकार क्या है? यह प्रश्न उठता है। मीमांसाशास्त्र में विधि के तीन प्रकार है-(1) अपूर्वविधि, (2) नियमविधि और (3) परिसंख्या विधि। 'ब्रीहीन्प्रोक्षति' (धान धोता है।) इस वाक्य से ही ब्रीही के प्रोक्षण का ज्ञान होता

है, किसी अन्य विधि से यह ज्ञान नही होता । अतएव 'ब्रीहीन्प्रोक्षति' इस वाक्य में अपूर्व विधि है । अप्राप्त का विधान जो करे वह अपूर्व विधि है । फिर पक्ष प्राप्त के अप्राप्त अंश का जो पूरक है वह नियम-विधि है । 'ब्रीहीनवहन्यात्' (धान को कूटना चाहिए), इस वाक्य में नियम-विधि हैं क्योंकि धान से भूसी निकालने (तुष-निवृत्ति) के दो उपाय हैं - (1) कूटकर तुष-निवृत्ति करना और (2) नख से द्विलन करके तुष-निवृत्ति करना । इन दोनों उपायों में से केवल कूटने से तुष-निवृत्ति करना प्राप्त (विहित) है। इसलिए यहां तुष-निवृत्ति के उपाय का नियमन है¨। अन्त में जहां दोनों विकल्प प्राप्त हों और उनमें से किसी एक की व्यावृत्ति हो वहाँ परिसंख्या-विधि होती है । उदाहरण के लिए, 'पंच पंचनखा भक्ष्या:' (पांच नखवाले पांच पशुओं को मांस भक्षण करना चाहिए), इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि जो पशु पांच नख वाले नहीं हैं उनका भक्षण नही करना चाहिए । फिर भी इस वाक्य का यह अर्थ नही है कि पांच नखवाले पांच पशुओं को मांस भक्षण करना कर्तव्य है । रागत: (By inclinati}) मांस-भक्षण प्राप्त है, किन्तु वह कर्तव्य (Obligati}) नही है । इसलिए इस वाक्य का अर्थ मांस-भक्षण के कर्तव्य का ज्ञान करना नही है, किन्तु जो पांच नखवाले पशु नही हैं उनके मांस के भक्षण का निषेध करना है। अर्थात् यहां वाक्य का अर्थ निषेधात्मक है ।

वेदान्त में इन तीनों विधियों को प्रयोग करते हुए महादेवाानन्द सरस्वती सुरेश्वराचार्य के मत का उद्धरण देते हुय कहते हैं कि श्रवण-विधि अपूर्व विधि नही है क्योंकि श्रवण-विधि का फल दृष्ट है जबकि अपूर्ण विधि का फल अदृष्ट होता है । अत: परिशेष से सिद्ध है कि श्रवण-विधि नियम-विधि अथवा परिसंख्या-विधि है। 'जिज्ञासुओं को केवल वेदान्त का श्रवण करना चाहिए,' ऐसी व्याख्या करना नियम-विधि है । फिर वेदान्त-श्रवण के अतिरिक्त कुछ नहीं। यह

परिसंख्या विधि है। सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि श्रवण-विधि का अर्थ नियम या परिसंख्या है । अनात्मा के अदर्शन में परमात्मा का ज्ञान हो जाता है :-

नियमः परिसंख्या वा विध्यर्थो हि भवेद्यतः ।

अनात्माऽदशनेनैव पराऽत्मानमुपास्महे ।।[13]

5. अब स्पष्ट है कि नियम-विधि या परिसंख्या-विधि के रूप में श्रवण-विधि वेदान्त में स्वीकृत है। श्रवण अंगी है । उसके दो अंग हैं (1) स्वरूपोपकारी अंग, जिसमें साधनचतुष्टय है जो निम्नलिखित है :- 1. नित्यं-अनित्य-वस्तु विवेक, 2. इहामुत्रार्थ भोग विराग, 3. शम, दम, उपति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा इन छः सम्पत्तियों का सम्पादन और 4. मुमुक्षा[14] दूसरा अंग आराद् (तुरन्त फल देने वाला) उपकारी अंग या फलोपकारी अंग है जिसमें मनन और निदिध्यासन आते हैं इस प्रकार साधनचतुष्टय से सम्पन्न जिज्ञासु को मनन और निदिध्यासन के साथ श्रवण करना चाहिए । यही सांगोपांग श्रवण है ।

6. सर्वज्ञात्ममुनि के मत का उद्धरण देते हुए महादेवानन्द सरस्वती कहते हैं कि शब्द शक्ति के विषय का युक्तिपूर्वक निरूपण करना श्रवण है । वस्तुतत्त्व का युक्तिपूर्वक निरूपण करना मनन और चित्त का चिन्मात्र ही शेष रह जाना निदिध्यासन है । इस प्रकार मनन और निदिध्यासन श्रवण के अन्तरंग अंग कह गये हैं। यथार्थ मनन और निदिध्यासन युक्ति श्रवण ज्ञान का अन्तरंग साधन है।[15]

वस्तुतः श्रवण से प्रमाणगत असम्भावना दूर होती है । मनन से प्रमेयगत असम्भावना दूर होती है और निदिध्यासन से विपरीत भावना दूर होती है । ऐसी होने पर ही 'त्तवमसि' आदि वाक्यों से 'अहं ब्रहास्मि' (मैं ब्रहा हू) ऐसा अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ।

7. विधि (Imperative Statement) के भेदों को और विशद करते हुए महादेवानन्द सरस्वती ने विधि के दो भेद किये हैं - 1. अभिधान विधि और 2.

अभिधेय विधि। अभिधान विधि लिंगादि घटितवाक्य है और अभिधेय-विधि लिंगार्थ है। अभिज्ञान विधि के चार भेद है - 1. उत्पत्ति विधि, 2. विनियोग विधि, 3. अधिकार विधि और 4. प्रयोग विधि । उदाहरण के लिए 'अग्निहोत्रं जुहोति,' 'सोमेन यजेत्' इत्यादि में उत्पत्ति-विधि है । उत्पत्ति-विधि कर्मस्वरूप का बोधक है। अर्थात् वह कर्म या यज्ञ का विधान करती है । 'दध्ना जुहोति,' 'पशुना यजेत' इत्यादि वाक्यों में विनियोग-विधि है जिसमें दधि, पशु आदि का यज्ञ में उपयोग बताया जाता है । उत्पन्न कर्म के फल सम्बन्ध का बोध कराने वाली अधिकार-विधि है । 'दर्शपूर्ण-मासाभ्यां स्वर्गकामो' यजेत अर्थात् स्वर्ग की कामना से दशपूर्णमास नामक यज्ञ करना चाहिए, 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों मे अधिकार-विधि है । अन्त में 'पौर्णमास्याम यजेत,' 'अमावस्याम् यजेत' इत्यादि वाक्यों मे प्रयोग विधि है जो कर्म के सभी अंगो के साथ अनुष्ठान का विधान करती है।

8. ज्ञानमार्ग में उपयुक्त विधियों का उपयोग निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है। 'पाडित्य निर्विद्यबाल्येन तिष्ठासेत्' अर्थात् "ब्राह्मण को ज्ञान प्राप्त करके बालक की तरह रहना चाहिए" - इस वाक्य में उत्पत्ति-विधि है क्योंकि यहां ज्ञान का स्वरूप बतलाया गया है । फिर 'मन्तव्य' इस वाक्य में विनियोग-विधि है क्योंकि यहां ज्ञान में मनन का उपयोग बतलाया गया है। 'तद विजिज्ञासस्व' (ब्रहा को जानने की विशेष इच्छा करो), इस वाक्य में अधिकार-विधि है क्योंकि यहां ब्रहा-ज्ञान का फल बतलाया गया है । सांगवेदान्त-श्रवणं कुर्यात्' (अंग सहित वेदान्त का श्रवण करना चाहिए), इस वाक्य में प्रयोग-विधि है क्योंकि यहां ज्ञान की उत्पत्ति की समस्त प्रक्रिया बतलायी गयी है। इस प्रकार जैसे मीमासंक कर्मपरक वाक्यों का अर्थ करते है, वैसे वेदान्ती मीमांसा के सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए ज्ञानपरक वाक्यों का अर्थ करते हैं ।

पुनश्च वेदान्ती मीमांसा के द्वारा कहे गये कर्म-परक अर्थ को ज्ञान का वहिरंगसाधन और श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को ज्ञान का अन्तरंग साधन मानते हैं । यज्ञादि को ज्ञान को बहिरंग साधन मानने के पक्ष में महादेवानन्द सरस्वती ने निम्नवत् श्रुति का उद्धरण दिया है- 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राहाणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'[16] (ब्राहमण लोग अनश्चर वेदानुवचन, यज्ञ, दान और तप से जानने की इच्छा करते हैं)

9. श्रवण करणगत असम्भावना का निराकरण करता है । वेदान्त (उपनिषद) ज्ञान के करण (साधन) हैं । उनके विषय में संशय उठता है कि वे अद्वितीय ब्रहा में प्रमाण के अद्वितीय ब्रहा में प्रमाण है कि नही ? इस संशय का निराकरण करना और सिद्ध करना कि वे वेदान्त के अद्वितीय ब्रहा में प्रमाण है अर्थात् उपनिषद का तात्पर्य ब्रहमवाद है, ऐसा सिद्ध करना श्रवण है । अन्वय एवं व्यतिरेक विधि से ऐसा सिद्ध किया जाता है । जो वेदान्त श्रवण करता है उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और जो वेदान्त नही करता उसे ब्रह्म साक्षात्कार नही होता। इस प्रकार अन्वय और वयतिरेक से सिद्ध होता है कि ब्रहासाक्षात्कार श्रवण से होता है और वेदान्त-श्रवण के अतिरिक्त उसके लिए और कोई दूसरा प्रमाण नही है।

10. श्रवण प्रमाणगत असम्भावना (संशय) का निराकरण करता है । इसलिए वेदान्त श्रवण करनेवाले को असम्भावना का पूरा बोध होना चाहिए ।उसे जिज्ञासु ही नही, अपितु व्युत्पन्न भी होना चाहिए । जो व्युत्पन्न है उसे 'त्तवमसि' आदि का श्रवण करते हुए ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है और जो व्युत्पन्न नही है उसमें असम्भावना शेष रहती है। इस कारण उसके लिए ध्यान-निष्ठा आवश्यक है, परन्तु ज्ञानी के लिए ध्यान-निष्ठा की कोई आवश्यता नहीं है । मनन और निदिध्यासन

से परिशोषित चित्त जब वेदान्त-श्रवण करता है तब उसे श्रवण का फल अर्थात् ब्रह्मा का साक्षात्कार सद्यः हो जाता है ।

11. श्रवण का एक अर्थ गुरूमुख से सम्पूर्णशास्त्र का अध्ययन करना है- 'अन्ये तु गुरूमुखात् सम्पर्णशास्त्रपठनं श्रवणं।'[17] उसकी पुनः पुनः आवृत्ति करना निदिध्यासन है। इस प्रकार गुरुमुख से वेदान्त-ज्ञान प्राप्त करना और उसका अनुसंधान करना श्रवण है, परन्तु यह मत महादेवानन्द सरस्वती को इष्ट नही है । इसलिए वे इसे एकदेशी वेदान्ती का मत कहते हैं । 'अन्य तु' कहकर उन्होंने यहाँ यह सिद्ध किया है कि यह मत कुछ वेदान्तियों का है । किन्तु, इसके विपरीत ऊपर जो श्रवण का अर्थ किया गया है उसको उन्होंने सम्प्रदायिकों की रीति कहा है।[18] स्पष्ट है कि वे स्वयं अपने वेदान्त सम्प्रदाय की रीति को मानते हैं जिसके अनुसार शब्दशक्ति और 'तात्पर्य लिंग' के द्वारा वेदान्त का तात्पर्य-निश्चय करना श्रवण है ।

12. श्रवण का अधिकार किसे है? इस विषय को उठाते हुए महादेवाननद सरस्वती ने कहा है कि मुख्य रूप से सन्यासियों को ही श्रवण का अधिकार है क्योकि जो साधन - चतुष्टय से सम्पन्न है वह विरक्त है और जो विरक्त है वही संन्यासी है । विहित कर्मो को विधिपूर्वक परित्याग संन्यास है और संन्यास वैराग्य का हेतु है । वैराग्य साधन-चतुष्टय में से एक साधन है । इसलिए ब्रहाचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में रहनेवाले मनुष्य भी श्रवण के अधिकारी हैं । महादेवाननद सरस्वती ने याज्ञवल्क्य और तुलाधार को भी परम्परा के अनुसार जीवन्मुख माना है और इस कारण कहा है कि वेदान्त श्रवण में ऐसे गृहस्थों का भी अधिकार है । यही नही, वे जनक आदि राजाओं[19] और मैत्रेयी आदि स्त्रियों को भी संन्यास तथा वेदान्त श्रवण में अधिकारी मानते हैं । सुरेश्वराचार्य के नैष्कर्म्यसिद्धि का उदाहरण देते हुए वे पिचास को भी वेदान्त श्रवण में अधिकारी

मानते है।[20] इससे सिद्ध होता है कि वे स्त्री-पुरूष, बालक-वृद्ध, ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ब्रहाचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी सभी को वेदान्त-श्रवण को अधिकारी मानते हैं । याज्ञवल्क्य ब्राहमण थे, जनक क्षत्रिय थे, तुलाधार वैश्य थे, मैत्रेयी स्त्री थी और धर्माव्याध जिसका उल्लेख शंकराचार्य ने किया है. शूद्र थे। इन सबका वेदान्त-श्रवण में अधिकार था ।

किन्तु सबका वेदान्त-श्रवण में अधिकार होने पर भी श्रवण संन्यासियों के लिए नित्यकर्म है और गृहस्थ आदि के लिए 'काम्य-कर्म' है । यदि सन्यासी नित्य श्रवण नही करता तो प्रत्यवाय होता है और वह पत्ति होता है । परन्तु गृहस्थ आदि को के लिए ऐसा नियम नही है। यदि वे भक्तिपूर्वक गुरू की सेवा करते हुये वेदान्त-श्रवण करते हैं तो उन्हे महान पूण्य-लाभ होता है ।

13. यहां पर श्रुति-प्रमाण का विवेचन अपेक्षित है । महादेवाननद सरस्वती श्रुति-प्रमाण को सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं और श्रुति से विरूद्ध अन्य प्रमाणों को आभास (प्रमाणाभास या अप्रमाण) मानते हैं । यदि श्रुत्यर्थ का प्रत्यक्ष से विरोध हो तो श्रुति का अर्थ अन्य प्रकार से संमत दिखाया जा सकता है । इस प्रकार श्रुत्यर्य का प्रत्यक्ष से विरोध नही है- दृष्टि-विरोधे श्रुतेरर्थान्तर सभवात्।[21] पुनश्च यदि श्रुत्यर्य मे कोई बाधा या विरोध दिखलायी पडे तो उपक्रम-उपसंहार आदि षड्विध तात्पर्य-लिंगों के द्वारा श्रुत्यर्थ का निर्णय किया जा सकता है और समान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा श्रुत्यर्थ विरोध को असंभवित दिखाया जा सकता है - 'सामान्यतोदृष्टानुमानेन श्रुत्यर्थबाधायोगात्'।[22] उदाहरण के लिए. उपनिषदों में ब्राहमण का जो वर्णन मिलता है उससे जाना जाता है कि ब्रहम जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। किन्तु, लोक में निमित्त-कारण ओर उपादान कारण का भेद देखा जाता है। जैसे मिट्टी घट का उपादान कारण है और कुम्भकार घट का निमित्त कारण है। इससे लोकानुभव से श्रुत्यर्थ का विरोध दिख पड़ता है।

किन्तु, इस विरोध को निम्नवत् सामान्यतोदृष्ट अनुमान से दूर किया जा सकता है। लोक में मकड़ी अपने जाले के अभिन्नानिमित्तोपादानकारण के रूप में देखी तो जाती है, अतः ऐसे ही ब्रह्म को भी जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण माना जा सकता है। यही नही, न्यायदर्शन में लोकानुभव के आधार पर माना जाता है कि जीवात्मा ज्ञान का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। इसी प्रकार ब्रह्म को भी ब्रह्मज्ञान का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना जा सकता है ।[23]

श्रुति एवं मनन

निर्गुण निराकार अतीन्द्रिय परमसत्ता के विषय में श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। न निर्गुण सगुण ब्रह्म और न धर्म व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित अनुमान और तर्क द्वारा स्थापित किया जा सकता है। मनन या तर्क स्वतंत्र रूप में न तो धर्म का ही ज्ञान देता है और न अतीन्द्रिय सत्ता के विषय में ही ज्ञान देता है। परन्तु श्रुति के तात्पर्य को संशय और विपर्याय से परे होकर, समुचित रूप से जानने तथा उसे निष्ठापूर्वक एकाग्रचित्त होकर अनुभव करने की प्रक्रिया में तर्क पूर्ण रूप से सहायक है। तर्क श्रुति प्रतिपादित ज्ञान की प्राप्ति के लिये एक महत्वपूर्ण निर्देशक का काम करता है। तर्काभ्यास या चिन्तन के अभाव में केवल श्रवण तथा अध्ययन मात्र से श्रुति का यथार्थ विषय, प्रयोजन नहीं जाना सकता है। श्रुति के श्रवण से सर्वप्रथम उसके तात्पर्य की झलक मात्र प्राप्त होती है। फिर उस पर मनन करके निश्चित अवधारणा बनानी चाहिए और इन दोनों कार्यो में तर्क अत्युपयोगी है। श्रुति विरोधी मतों का खंडन तथा औपनिषदिक सिद्धान्तों के मंडन में तर्क की उपयोगिता अकथनीय है।

यद्यपि ज्ञान का पर्यवसान अपरोक्षानुभूति में ही होता है। परन्तु हम प्रारम्भ में ही लक्ष्य की प्राप्ति नही कर लेते। श्रवण, मनन और निदिध्यासन के समन्वित

प्रयत्न से ही यह संभव है। श्रुति वाक्यों की परस्पर असंगतियों एवं संशयपूर्ण मतों के निराकरण के लिए तर्क की उपयोगिता है। 'सत्यं जिज्ञासितव्यं' अर्थात् 'सत्य का अन्वेषण होना चाहिए' ऐसा शंकर का मत है। श्रुति प्रमाण इन्दियों की साक्षी अथवा तर्कसम्भव निर्णयों से कहीं श्रेष्ठ है, तथापि उन क्षेत्रों में जहां प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय है, श्रुतियां अनुपयुक्त हैं। सैकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को शीतल नही बना सकते हैं । श्रुति का उद्देश्य ऐसा ज्ञान है जो साधारण साधनो के द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता, हमें प्रदान करना हैं। श्रुति का तात्पर्य परमत्तव आत्मा के एकत्व की शिक्षा देना है। अज्ञान या अविद्या को दूर करना है तथा इस प्रकार प्रकारान्तर से सत्य को प्राप्त करना है। जैसे रस्सी का ज्ञान होने का तात्पर्य है- 'सर्प रूपी भ्रान्त ज्ञान का दूर हो जाना।' शंकर कहते हैं कि "वेदान्त की इस बीज में हम अविद्या से मुक्ति नहीं प्राप्त करते हैं क्योंकि यह सारी खोज तथा ज्ञान, जहां ज्ञाता और ज्ञान विषयी और विषय का द्वैत लगा हुआ है, ब्रह्म-साक्षात्कार में बाधा उत्पन्न करती है। इस प्रकार हम अज्ञान मे फंस जाते है, सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नही कर सकते।[24] वास्तव में श्रुतियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के ग्रहण के लिए किसी दूसरे साधन या ज्ञान की प्रक्रिया की आवश्यकता नही पड़ती है । शंकर कहते हैं कि 'पुरुष और प्रकृति, विषयी और विषय, जीव और जगत् आदि द्वैत की समाप्ति के तुरन्त ही अद्वैत का ज्ञान हो जाता है' । जब भ्रान्त-विचार प्रकाश में आ जाते हैं तो हम यथार्थ सत्ता तक पहुंच जाते हैं। इस प्रकार सही ज्ञान श्रुति या अनुश्रुति के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। डॉ0 राधाकृष्णनन कहते हैं कि – 'श्रुति की उपेक्षा करना मनुष्य जाति के अनुभव के अत्यन्त सजीव भाग की उपेक्षा करना है।' तथा 'वेद ज्ञान के स्रोत रूप में नित्य है, इनका परिपाद्य धर्म- विषय परिपक्व है और इनके द्वारा प्राप्त पूर्ण ज्ञान भूत, वर्तमान तथा भविष्य की समस्त कल्पनाओं द्वारा

भी विपरीत नही ठहराया जा सकता है।"[25] फिर आगे लिखते हैं कि श्रुति में आत्म-सम्बन्धी सत्यों का प्रतिपादन किया गया है। इसके अन्दर मनुष्य जाति के परम्परागत परिपक्व विचारों का समावेश है जिनमें विचार की अपेक्षा आत्मा के जीवन का वर्णन अधिक है और हमने उन व्यक्तियों के लिए जो उस जीवन में भाग नही लेते ये अभिलिखित अनुभव बहुत महत्व के हैं।[26] श्रुति अनुभव से प्राप्त परमत्तव का ज्ञान करने में पूर्णत: समर्थ हैं। आध्यात्मिक अनुभूति ही लिखित संहिता ग्रन्थ है, जिसे श्रुति कहते हैं। इसीलिए श्रुति का कथन अर्थविहीन केवल शब्द मात्र लगता है जब तक कि इसे तर्क एवं बुद्धि से पहले अनुभव की पृष्ठभूमि में लाकर न साधा जाय।

श्रुति में बाह्य रूप से विरोधी दृष्टियों का आभास प्राप्त होता है । इसीलिये गौड़पाद, युक्ति के आधार पर श्रुति के तात्पर्य को निश्चित करने की छूट देते हैं। ये कहते हैं कि – "पारमार्थिक अथवा अपारमार्थिक किसी भी प्रकार के उत्त्ज्ञपत्ति में श्रुति तो समान ही होगी। अत: उसमें जो निश्चित और युक्ति-युक्त मत हो, वही श्रुति का अभिप्राय है, अन्य नही ।"[27] अद्वैत-वेदान्ती यद्यपि यथार्थ ज्ञान में श्रुति को ही एकमात्र प्रमाण स्वीकार करते हैं फिर भी वे तर्क से विश्लेषण के उपरान्त ही उसे ब्रह्म ज्ञान में प्रामाणित होना स्वीकार करते हैं। श्रुति जो तर्क द्वारा संगत है वही सत्य को परिभाषित करती है।' श्रुति वाक्यों के चुनाव और उन पर व्याख्या के लिए तर्क (मनन) की सहायता की आवश्यकता है। धर्म के स्थापना में भी कोई श्रुति वाक्यों को अंधा-धुंध स्वीकार नही करता। मनु लिखते है - 'वह जो तर्क के आधार पर श्रुति और स्मृति की व्याख्या करता है तथा वेद-वाक्यों का अनादर नही करता, वही धर्म को जानता है और इसके विपरीत धर्म को नही जानता।'[28]

कोई भी वैदिक वाक्य जो तर्क के विरूद्ध या विपरीत है उसका मात्र शाब्दिक अर्थ नहीं लगाया जाता । तर्क के आधार पर उसकी छान-बीन की जाती है । तर्क ही ऐसे वाक्यों के सही अर्थ को प्रकट करता है । यह भी सत्य है कि श्रुति वाक्यों में कहीं द्वैतवाद कहीं बहुत्तववाद तो कहीं अद्वैतवाद के मत जैसे प्रगट होते हैं पर इन वाक्यों की सही व्याख्या के बाद ही इनके यथार्थ को समझना चाहिए। आचार्य शंकर सभी विरूद्ध मतों को असिद्ध करते हैं तथा अद्वैत की प्रतिष्ठा ही श्रुतियों का यथार्थ तात्पर्य निश्चित करते हैं। गौड़पाद कहते हैं कि उपनिषदों में जो मृत्तिका, लोहखंड और विस्पुर्लिङ्गादि दृष्टान्तों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से सृष्टि का निरूपण किया गया है, वह ब्राह्मात्मैक्य में बुद्धि का प्रवेश कराने का उपाय है, वस्तुतः उनमें भेद नही है ।[29] शंकर लिखते हैं कि- "शास्त्र और युक्ति से निश्चित होने के कारण अद्वितीय आत्म-दर्शन ही सम्यगदर्शन है, उससे बाह्य होने के कारण अन्य सभी दर्शन मिथ्या हैं । द्वैतवादियों के दर्शन इसलिए मिथ्या हैं, क्योंकि वे राग-द्वेषादि दोषों के आश्रय हैं।[30]

शंकर के अनुसार तर्क और श्रुति दोनों मिलकर ही निर्णायक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, स्वतंत्र रूप से तर्क व्यर्थ है, क्योंकि तर्क करने के लिए विषय चाहिये और वह विषय श्रुतियों से ही संभव है तथा श्रुतियों में अन्तर्निहित विरोध, संशय को दूर करने के लिये तर्क की आवश्यकता है । वास्तव में किसी सत्य को सार्वभौम होने के लिये उसे श्रुतिवाक्यों एवं तर्क दोनों के आधार पर निश्चित होना चाहिये । 'विवेक चूड़ामणि' में शंकर कहते हैं कि 'अपने अज्ञानरूप बंधन का संसर्ग छूट जाने से जो सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा की प्राप्ति होती हे, उसमें शास्त्र, युक्ति, गुरू-वाक्य और अन्तःकरण से सिद्ध होनेवाला अपना अनुभव प्रमाण है।[31] 'श्रुति, युक्ति और अपने अनुभव से आत्मा की सर्वात्मता को जाना जाता है और तभी अज्ञान से प्राप्त अध्यास का त्याग किया जा सकता है।[32]

आचार्य शंकर श्रुत्यनुग्राहित तर्क की प्रतिष्ठा अपने अद्वैत-मत की विवेचना में करते हैं। वे लिखते है कि 'श्रवण से भिन्न मनन का विधान करती हुई श्रुति रूपी तर्क का आदर करना चाहिए, ऐसा दिखलाती है। इस मनन विधि के वहाने से यहां शुष्क-तर्क का होना सम्भव नही है। यहाँ श्रुति से अनुगृहीत तर्क अनुभव के सहायक रूप से ग्रहण किया गया है। स्वप्नावस्था और जाग्रवस्था इन दोनों में परस्पर व्यभिचार होने से आत्मा इससे असंस्पृष्ट है और सुषुप्ति अवस्था में प्रपंच के त्यागपूर्वक सत्स्वरूप के साथ एक होकर आत्मा निष्प्रपंच ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। प्रपंच ब्रह्म से उत्पन्न होता है, अतः कार्य-कारण से अभिन्न है। इस न्याय के अनुसार ब्रह्म से प्रपंच अभिन्न है, इस प्रकार का तर्क अंगीकृत होता है ।[33] श्रुति तथा युक्ति से विहीन दर्शन अनपुयोगी है, उसकी प्रतिष्ठा संभव नहीं है। शंकर कहते हैं सांख्य, कणाद, बौद्ध आदि आदर के योग्य नही हैं क्योंकि ये शास्त्र और युक्ति से विहीन है।[34]

वेदान्त-वाक्य ही एक मात्र ब्रह्म-ज्ञान देने में समर्थ है। परन्तु मात्र वेदान्त वाक्यों के श्रवण से ही यथार्थ-ज्ञान संभव नही है। श्रवण के उपरान्त वेदान्त वाक्यों के मनन की आवश्कता है जो तर्क की सहायता से ही संभव है, जिससे संशय और परस्पर विपरीत मतों का समाधान हो सके ।[35] मनन के द्वारा ही जीव और ब्रह्म के तादात्म्य की असंभावना को समाप्त किया जाता है।[36]

इस प्रकार तर्क अपने सीमित क्षेत्र में पूर्णतः वैध और प्रामाणिक है । इसकी उपयोगिता है - श्रुति के अर्थ को समझने में। एक प्रकार से मनन या तर्क की उपयोगिता को दो रूपों में देखा जा सकता है- प्रथम रचनात्मक रूप में- जिसके द्वारा हम श्रुतियों के अर्थ को ठीक ढंग से समझते हैं और ब्रह्म को ही यथार्थ ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं। जीव और ब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध है। जगत आत्मा या ब्रह्म का विवर्त मात्र हैं। शंकर के अनुसार निष्प्रपंच ब्रह्म

ही एक मात्र यथार्थ सत्ता है, यही उपनिषदों का सार है । मनन का दूसरा रूप है- खंडनात्मक - इस अर्थ में मनन को युक्ति कहा जाता है- हम इसके द्वारा विरोधी मतों का खंडन करते हुए उसमें अन्तर्निहित व्याघात सम्बन्ध को दिखाते हैं। इस तरह उस सिद्धान्त को मिथ्या घोषित करते हैं। ब्रह्म-सूत्र के तर्क-पाद में शंकर ने इस विशेष नकारात्मक युक्ति का ही सहारा लिया है। श्रुति की सही व्याख्या के लिए यह जरूरी है कि उसकी गलत एवं भ्रान्त व्याख्याओं का निराकरण किया जाय। मात्र अपने मत की पुष्टि से ही श्रुति के तात्पर्य का ठीक रूप से अवधारणा नहीं होता। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा, बौद्ध आदि सभी अपने सिद्धान्तों को यथार्थ बताते हैं। सभी अपनी-अपनी दृष्टियों से दुःख तथा बंधन से छुटकारा पाने की घोषणा करते हैं। निर्दोष तथा अज्ञानी व्यक्ति इनके बहकावे में फंसकर उलझ जाता है। अतः मनन द्वारा इस बात को बताना होगा कि अद्वैत-वेदान्त के अतिरिक्त सभी मत मात्र वाग्जाल हैं, अयथार्थ हैं, उनसे हम युक्ति नही प्राप्त कर सकते हैं। अतः तर्कपूवर्क अद्वैत-वेदान्त की विवेचना करके इसे ग्रहण किया जाय जिससे मोक्ष की प्राप्ति संभव हो सके। आचार्य गौड़पाद सत्य की स्थापना में तर्क की सहायता पर अत्यधिक जोर देते हैं । माध्यमिक और ब्रैडले की तरह वे अपने दार्शनिक मत को तर्क के आधार पर स्थापित करते हैं। माण्डूक्य-कारिका में ऐसा लगता है कि तर्क का स्थान श्रुति की अपेक्षा बढ़कर है। परन्तु यह सत्य नही है। गौड़पाद श्रुति और तर्क के आधार पर दर्शन को प्रतिष्ठित करते हैं। विधुशेखर भट्टाचार्य लिखते हैं कि 'एक वेदान्ती के रूप में गौड़पाद अपने विषय को श्रुति के अनुसार ही प्रतिपादित करते हैं, परन्तु बिना तर्क-बुद्धि का सहारा लिए ऐसा नहीं करते। परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप से उनका तर्क श्रुफति पर आधारित है।

माण्डक्य कारिका-भाष्य के प्रारम्भ में ही शंकर अद्वैत-वेदान्त के विषय एवं प्रयोजन को बताते हुये कहते हैं कि - द्वैत का विनाश और अद्वैत-सिद्धि ही इसका प्रयोजन है जो युक्ति या तर्क के आधार पर स्थापित किया जाता है। शंकर कहते हैं कि द्वैत-प्रपंच अविद्याजनित है, उसकी निवृत्ति विद्या से ही हो सकती है। तर्क की उपयोगिता मान्डूक्य-कारिका के शंकर-भाष्य में देखा जा सकता है । माण्डक्य-कारिका के भाष्य में शंकर कहते हैं कि इसके चारो प्रकरणों में पहला प्रकरण ओंकार के स्वरूप का निर्णय करने के लिये है । वह आगम प्रधान और आत्मत्तव की प्राप्ति का उपायभूत है । रज्जु में सर्पादि विकल्प की निवृत्ति होने पर जिस प्रकार रज्जु के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार जिस द्वैत प्रपंच की निवृत्ति होने पर अद्वैत तत्व का बोध होता है उसी द्वैत का युक्तिपूर्वक मिथ्यात्व प्रतिपादन करने के लिए (वैतथ्य नामक) द्वितीय प्रकरण है। इस प्रकार अद्वैत के भी मिथ्यात्व का प्रसंग उपस्थित न हो जाय इसलिए युक्ति द्वारा उसका सत्यत्व प्रतिपादन करने के लिये तृतीय (अद्वैत) प्रकरण है तथा अद्वैत के सत्यत्व निश्चय के विपक्षी जो अन्य अवैदिक मतान्तर है वे परस्पर विरोधी होने के कारण मिथ्या है, अतः उन्ही की युक्तियों से उनका खंडन करने के लिए चतुर्थ (अलातशान्ति) प्रकरण है ।[37] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर चाहे विरोधी मतो के खंडन करने के लिए उद्यत हों या स्वमत अद्वैत-वेदान्त का मंडन करने-दोनों ही अवस्थाओं मे वे मनन की सहायता लेते हैं।

जेनो, ब्रैडले तथा नागार्जुन की तर्क-पद्धति की तरह आचार्य शंकर भी अपने दर्शन में युक्ति को अपनाते हैं। इसी युक्ति के आधार पर शंकर बौद्धों के अनात्मवाद, क्षणभंगवाद तथा सांख्य के द्वैतवाद आदि मतों का खंडन करते हैं। तर्कपाद इसका स्पष्ट उदाहरण हैं। शंकर विरोधी मतों में स्वयं-व्याघात दिखाते हैं और इस प्रकार निष्कर्ष निकालते है कि वे मिथ्या हैं। सत्य का स्वरूप तो अबाध

होता है। शंकर सत् की परिभाषा देते हैं, 'त्रिकालाबाधित सत्' - अर्थात् जो भूत वर्तमान और भविष्य में एक ही हो, उसका बाध न हो वह सत् है ।

इस प्रकार शंकर जब तर्क का खंडन करते हैं तब तर्क को परमार्थ की परिधि तक पहुंचने में ही असमर्थ बताते हैं। जब वे कहते हैं कि 'शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम'- तो उनका तात्पर्य व्यवहार-जगत् के ज्ञान से है। व्यावहारिक जगत् जो गौण सत्ता है, का ज्ञान तर्क द्वारा अच्छी तरह से संभव है। तर्क जब 'शुष्क तर्क' अथवा 'वाग्जाल' मात्र रहता है तो वह अप्रतिष्ठित है, सुतर्क ही यथार्थ ज्ञान कराने में समर्थ है। तर्क जब श्रुत्यनुग्राहित रहता है तब वह ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होता है। याज्ञवल्क्य-कांड के प्रारम्भ में शंकर कहते हैं- 'जब शास्त्र और युक्ति दोनों ही आत्मैकत्व प्रदर्शित करने के लिए प्रवृत्त हों तो वे उसका हथेली पर रखे हुए विल्वफल के समान साक्षात्कार करा सकते हैं।[38] शंकर के अनुसार ज्ञान के लिए श्रुति और युक्ति दोनों की आवश्यकता है। शंकर अमृत्तव के साधन सन्यासयुक्त आत्म-ज्ञान को शास्त्र और तर्क दोनों से ही निश्चित मानते हैं।[39] श्रुति ज्ञान के विषय को प्रदान करता है और तर्क उस पर व्याख्या करके संशय और विपर्यास को दूर करता है। तर्क और श्रुति दोनों के आधार पर ही दर्शन की नीव खड़ी होती है। कान्ट भी बुद्धिवाद और अनुभववाद के गुण-दोष दिखाकर यह घोषित करते हैं कि दोनों पूर्ण और सही ज्ञान अलग-अलग नहीं प्राप्त कर सकते। हमारा ज्ञान इन्द्रिय-संवेदन तथा बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से बनता है। प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के लिए द्रव्य तथा स्वरुप की आवश्यकता होती है जिनको उपादान और स्वरुप कारण कहा जाता है। घट का द्रव्य या उपादान है- मिट्टी तथा उसका स्वरुप है-विशिष्ट आकृति। केवल मृत्तिका से घड़ा का काम नहीं चल सकता और यदि मृत्तिका न हो तो भले ही कुम्हार के पास घड़े का सांचा हो, घड़ा नहीं बन सकता। अतः ज्ञान

के लिए इन्द्रिय-संवेदन रुपी उपादान तथा बुद्धि-विकल्प रुपी स्वरुप देने वाले सांचे की आवश्यकता है। इसी प्रकार कान्ट कहते हैं- 'इन्द्रिय-संवेदना के बिना बुद्धि-विकल्प पंगु या शून्य हैं और बुद्धि-विकल्पों के बिना इन्द्रिय-संवेदन अंध है।' (Concept without percepts are empty and percepts without concept are blind)

इस प्रकार आचार्य शंकर यथार्थ ज्ञान के लिए श्रुति और तर्क दोनों की वैधता स्वीकार करते हैं। श्रुति ब्रह्म के बारे में हमारे मन को उन्मुख करती है और 'अद्वैत-ब्रह्म ही एक मात्र यथार्थ विषय है' ऐसी घोषणा करती है। तर्क श्रुति वाक्यों में अन्तर्निहित तर्क असंगतियों को दूर करता है और अद्वैत-ब्रह्म का ही यथार्थ त्तव के रुप में गृहीत करता है। अब श्रुति के तात्पर्य निश्चित होने के उपरान्त उस पर मनन और अंत्तोगत्वा निदिध्यासन की आवश्यकता होती है और इस अन्तिम स्तर पर हम ब्रह्म-साक्षात्कार करते हैं। इस तरह शंकर ब्रह्म को अनुभूति का विषय स्वीकार करते हैं। श्रुति मात्र से ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती, और अकेले तर्क से भी ब्रह्म ज्ञान संभव नहीं। यह तो श्रुति, युक्ति और अनुभूति के द्वारा ही संभव हैं। अत: श्रवण, मनन और निदिध्यासन के सम्मिलित प्रक्रिया से ही ब्रह्म ज्ञान संभव है। मध्व भी अणुव्याख्या लिखते हुए इन श्रुति-युक्ति और अनुभूति का परस्पर सहयोग लेते हैं।[40]

क्या शंकर का परमत्तत्व ब्रह्म श्रुतियों का सही एवं आलोचनात्मक निष्कर्ष है ?-

जर्मन दार्शनिक कान्ट के दर्शन को 'आलोचनात्मक अतीन्द्रिय विज्ञानवाद' कहा गया है। कान्ट को आलोचनात्मक दार्शनिक इसलिए कहा गया क्योंकि उन्होंने अपने पूर्व के दो भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रणालियों-बुद्धिवाद एवं अनुभववाद के दीर्घकालीन संघर्ष को समाप्त किया तथा इनकी स्वतंत्र व्याख्या के उपरान्त दोनों को एकांगी तथा आत्म-विरोधी घोषित किया। बुद्धिवाद के अनुसार बुद्धि ही सम्पूर्ण

ज्ञान का स्रोत है। ज्ञान जन्मजात-प्रत्ययों के रुप में पहले ही बुद्धि में निहित है। बुद्धि अपने स्वत:सिद्ध और सार्वभौम नियमों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है। अनुभववादियों के अनुसार ज्ञान इन्द्रियानुभव के द्वारा प्राप्त होता है। बुद्धि के कोई भी नियम अनुभव-निरपेक्ष और सहज नहीं है। मन या बुद्धि एक कोरे कागज या अंधेरे कमरे के समान है जिसमें सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रिय-संवेदनाओं के द्वारा ही अंकित किया जाता है। कान्ट इन दोनों मतों की आलोचना करते हैं। कान्ट कहते हैं कि ज्ञान इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से बनता है। प्रत्येक ज्ञान की उत्पत्ति के लिए द्रव्य और स्वरुप की आवश्यकता होती है जिन्हें उपादान और स्वरुप कारण कहा जाता है। ज्ञान में उपादान इन्द्रिय-संवेदनाओं से प्राप्त है तथा उसका स्वरुप बुद्धि-विकल्पों से बनता है। इन्द्रिय-संवेदनाओं से प्राप्त ज्ञान की सामग्री अस्त-व्यस्त विश्रृंखल एवं असम्बद्ध होती है, इसको नियमित रुप प्रदान करने के लिए बुद्धि-विकल्प के सांचे में ढलना जरूरी है। इस प्रकार कान्ट के अनुसार दोनों के सम्मिश्रण से ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। स्वतंत्र रुप से न तो बुद्धि-विकल्प और न इन्द्रियानुभव ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। कान्ट ने बुद्धिवाद का पर्यवसान अंधविश्वास में तथा अनुभववाद का पर्यवसान संदेहवाद बताया। इस प्रकार दोनों दार्शनिक मतों की बौद्धिक व्याख्या करने के बाद यथार्थ ज्ञान के लिए दोनों के परस्पर सम्मिश्रण से ही संभव होना स्वीकार करते हैं। यही कान्ट का आलोचनात्मक दर्शन है।

क्या कांट की तरह भारतीय दर्शन में आचार्य शंकर का भी दर्शन आलोचनात्मक है? क्या शंकर उपनिषदों की आलोचनात्मक व्याख्या करते हैं? यह सही है कि उपनिषद् ही शांकर-वेदान्त का स्रोत है। परमत्तव आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान वेदों से ही जाना जा सकता है, जैसा कि पाल डायसन लिखते हैं "On the tree of Indian wisdom there is no fairer flower than the upanisads and no fairer

fruit than the Vedant Philosophy. This System grew out of the teachings of the upanisads and was brought to its consummate from by the great Shankara."[41] परन्तु प्रश्न उठता है कि क्या शंकर श्रुतियों के अंधविश्वासी मात्र हैं?

आचार्य शंकर अद्वैत-वेदान्त की रचना में आलोचनात्मक पद्धति को स्वीकार करते हैं। श्रुति की सही व्याख्या एवं उसके यथार्थ तात्पर्य को समझने के लिए बौद्धिक गवेषणा की गयी है। श्रुति के श्रवण के उपरान्त मनन की आवश्यकता होती है जिसे शंकर अपने दर्शन में स्थान देते हैं। जहां शंकर अपने दर्शन को 'औपनिषद-दर्शन' कहते है, वही गौतम, कपिल, कणाद जैसे दार्शनिक भी उपनिषदों पर ही आधारित परन्तु विभिन्न स्वतंत्र दार्शनिक मतों की स्थापना करते हैं। शंकर इन विरोधी दार्शनिक-सिद्धान्तों का खंडन करते हैं और अद्वैत-ब्रह्म को ही एकमात्र उपनिषदों का यथार्थ त्तव सिद्ध करते हैं। निर्गुण ब्रह्म ही उपनिषदों का निष्कर्ष है। यही जगत् का उपादान और निमित्त कारण है। ब्रह्म अपरोक्षानुभूति का विषय है, इसे जानने वाला ब्रह्म हो जाता है- 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

आचार्य शंकर अद्वैत-ब्रह्म की स्थापना करने के पूर्व उन सभी विरोधी सिद्धान्तों का खंडन बौद्धिक स्तर पर करते हैं तथा उन्हें अनौपनिषद् दर्शन घोषित करते हैं। वे सांख्य दर्शन के पुरुष-प्रकृति की द्वैत की अप्रतिष्ठित करते हैं। सांख्य-दर्शन की आलोचना करते हुए शंकर कहते हैं कि चूंकि प्रकृति और पुरुष दो स्वतंत्र और परस्पर विरुद्ध धर्मवाले त्तव हैं, अत: उनका कोई सम्बन्ध संभव नहीं है। प्रकृति जड़ है और पुरुष निष्क्रिय है; प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन है; प्रकृति सक्रिय है और पुरुष उदासीन है। 'दोनो विरुद्ध धर्मवाले हैं' ऐसी दशा में अंधकार और प्रकाश की तरह उनमें सम्बन्ध संभव नहीं हो सकता है तथा प्रकृति जो जड़ है वह जगत का कारण नहीं हो सकती। अचेतन प्रकृति कारण बनने में नितान्त असमर्थ है, क्योंकि ईट, पत्थर और चूना स्वयं मिलकर मकान नहीं बना सकते। अत: चेतन ब्रह्म ही एक भाग अद्वैत त्तव है जो जगत् का उपादान और निमित्त कारण है।

पुनश्च, शंकर न्याय-वैशेषिक के परमाणु का भी आलोचनात्मक विश्लेषण करते हैं और उसे जगत् के कारण होने में असमर्थ बताते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार सूक्ष्म परमाणुओं से ही इस विचित्र जगत् की उत्पत्ति सिद्धि होती है। परमाणुओं के संघात से द्वयणुक, त्रयणुक आदि के क्रम से यह संसार उत्पन्न बतलाया जाता है, परन्तु परमाणु अचेतन होते हैं। अतः ये इस नियत संसार के कारण होने में बिल्कुल समर्थ नहीं हैं। अब यदि परमाणु को जगत् का कारण मान भी लें तो प्रथम यदि ये गतिशील हैं तो कभी विराम न होगा, सदा गति ही विद्यमान रहेगी। इस प्रकार जगत् की स्थिरता बनी रहेगी तो कभी प्रलय नहीं होगा। यदि ये स्थिर हैं, तो सृष्टि संभव नहीं है। स्थिर और गतिमान एक साथ होना संभव नहीं है। इन सब दोनों से जगत् के कारण रुप में परमाणुओं की प्रतिष्ठा संभव नहीं है।

जैन-स्याद्वाद का भी शंकर खंडन करते हैं। एकत्व और नानात्व, नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों एक साथ एक ही वस्तु में प्रकाश और अंधकार के समान कदापि संभव नहीं है। स्याद्वाद मत के अनुसार स्वयं स्याद्वाद मत भी संभवतः असत्य हो सकता है। आचार्य शंकर इसे विक्षिप्त पुरुष के प्रलाप की भांति स्वीकार करते हैं। स्याद्वाद प्रत्येक वस्तु को संभवतः सत्, असत्, सदसत् और सदसत् विलक्षण होने से अव्यक्त घोषित करता है। किन्तु, सही रुप में प्रत्येक व्यावहारिक वस्तु न तो सत् है न असद् और न सदसत् है। सत्, असत्, सदसत् तथा इससे विलक्षण होने से प्रत्येक त्तव अनिर्वचनीय है और वह अनिर्वचनीय होना ब्रह्म का लक्षण है। अतः अद्वैत विशुद्ध विज्ञान ब्रह्म ही एकमात्र परमत्तव है।

इस प्रकार आचार्य शंकर सभी दृष्टियों की आलोचनात्मक व्याख्या करते हैं और सबको असिद्ध ठहराते हैं और अपने सिद्धान्तों को बौद्धिक गवेषणा के आधार पर ही स्थापना करते हैं। श्रुति में उनका विश्वास पूर्णतः अंधविश्वास नहीं है। श्रुति के श्रवणोपरान्त मनन का प्रयोग वांछनीय है।

सन्दर्भिका

1. ज्ञानादेव मुक्ति।
2. ऋते ज्ञानात् मुक्ति।
3. आत्मानात्मविवेकः 'विमला' व्याख्योपेतः, 12 पृ0-17
4. आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।
5. 'मोक्षम् इच्छुः मुमुक्षुः तस्य भावतः मुमुक्षुत्वम्।
6. आत्मानात्म विवेकः - 'विमला व्याख्योपेतः, श्लोक सं0 18-20 चौखम्बा, वाराणसी, पृ0 24
7. षड् विधलिङ्गानि तु उपक्रमोपसंहाराभ्यास- फलापूर्वतार्थवादोपपच्याख्यानि।
8. यथा तत्र सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकंत्येव सत्यमित्यादौ अद्वितीय वस्तुसाधनं वाचारम्भणमात्रत्व युक्तिः श्रूयते।
   -(आत्मानात्मविवेकः विमला व्याख्योपेत, 15)
9. त्तवानुसन्धान, महादेवानन्द सरस्वती, पृष्ठ 21 ।
10. बृहदारण्यकोपनिषद् 2,5,4 ।
11. अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ, महादेवानन्द सरस्वती, पृष्ठ 190 ।
12. -(वही), पृष्ठ 189 ।
13. नैष्कर्म्यसिद्धि, सुरेश्वराचार्य, 1,88 ।
14. पाण्डेय संगमलाल : भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद 1976, पृ. 379
15. वही, पृष्ठ 21 और संक्षेपशारीरिक 3, 344-345
16. बृहदारण्यकोपनिषद 4,4,23
17. वही, पृष्ठ 37
18. वही, पृष्ठ 37
19. वही, पृष्ठ 23
20. वही, पृष्ठ 38 और नैष्कर्म्यसिद्धि 2,3 ।
21. वही, पृष्ठ 14
22. अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ, पृष्ठ 14 ।
23. किं च यथा नेयायिकादिर्गािर्जीवात्मनो ज्ञानादिकं प्रति उपादानत्वं ।
    निमित्तत्वं च अभ्युपगम्यते तथा ब्रहाणस्तदुपपतेन कोऽपि दोषः ।।
    -(अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ), पृष्ठ 15 ।
24. ब्रह्म-सूत्र शां0भा0-2.1.4, 37; 2.2.4;2.4.12
25. भारतीय दर्शन भाग-2, पृष्ठ - 511
26. भारतीय दर्शन भाग-2, पृष्ठ - 511-512
27. गौ0का0-3,23
28. मनुस्मृति - 12, 106
29. गौ0 का0 - 3-15

30. शास्त्रोपपत्तिभ्यामवधारित्वाद द्वयात्मदर्शन सम्यग्दर्शनं तद्वह्यत्वान्मिथ्यादर्शनम्न्यत्।
इतश्च मिथ्यादर्शनं द्वैतिना रागद्वेषादिदोषास्पदत्वात्। -(गौ0का0शां0भा0- 3-17 (भूमिका))
31. वि0चू0-475
32. श्रुत्या युक्त्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सर्वात्म्यमात्तन: ।
क्वचिदाभासत: प्राप्त स्वाध्यासानपयं कुरू । -(वि0चू0)-282
33. ब्रह्म-सूत्र, शां0भा0 - 2.1.6.
34. सांख्य-कणाद-बौद्वानां मीमांसाहतकल्पना:, शास्त्रयुक्तिविहीनत्वान्नादर्तव्या उपदेश कदाचन-
सह-16, 64-65
35. वेदान्तवाक्य मीमांसा तदविरोधितर्कोपकारणा-(ब्रह्मसूत्र-शां0भा0)-1.1.1
36. मननात्मकेन तर्वेण जीवब्रह्मैकलक्षणस्य विषयस्य संभावना निरस्यते। -(वि0प्रमेय सं0) - 1.1
37. गौ0का0शां0भा0-पृ0 1, 4
38. आगमोपपत्ती ह्यात्मैकत्वप्रकाशनाय प्रवृत्ते शक्नुत: करतलगतविल्वमिव दर्शयितुम।
-(वृह0उप0शां0भा0- 3.1.1)
39. तस्माच्छास्त्रतर्काभ्यां निश्चितमेत्त्-यदेतदात्मज्ञानं ससंन्यासमम्त्तवसाधनमिति। तथा
आबमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थ: श्रद्धेयो भवति। -(वृ0उप0शां0भा0)- 4.5.1
40. आत्म-वाक्यतया तेन श्रुतिमूलतया तथा । युक्तिमूलतया चैव प्रमाण्यं त्रिविधं महत् ।।
-(अणु-व्याख्या - 1.1)
41. आउट लाइन्स ऑफ द वेदान्त सिस्टम ऑफ फिलासफी, भूमिका। द्रष्टव्य-नौलखा ब्रह्मस्वरूप- शांकर ब्रह्मवाद पृ0 37 प्रो0 मैक्समूलर - थ्री लेक्चर ऑन दी वेदान्त- पृ0 135-136

5

अद्वैत वेदान्त में मनन (तर्कणा) की प्रणाली

वैदिक काल के ऋषियों का चिन्तन मुख्य रुप से दार्शनिक नहीं कहा जा सकता, लेकिन उनकी दृष्टि दर्शन की कुछ महत्वपूर्ण मान्यताओं से प्रभावित हुई है। वे प्रपंच जगत् के मूल में एक परम सत् का दर्शन करते थे। उस सत् तक पहुंचने में उन्होंने जिस तर्कणा-पद्धति का प्रयोग किया है उसे द्वन्द्वन्याय कहा जा सकता है। वस्तुतः द्वन्द्वन्याय हमें अनेकता से एकता की ओर अग्रसर करता है और फिर अनेकता को एकता पर आश्रित करता है अथवा अनेकता का निषेध कर देता है। पुरुष-सूक्त और नासदीय-सूक्त में वही प्रणाली अपनायी गयी है। पुरुष-सूक्त में इसका प्रयोग स्थूल और दृष्टान्त रुप में हुआ है। परमतत्त्व की कल्पना एक पुरुष में की गयी है और सम्पूर्ण जगत् का नानात्व उस पुरुष के अंग स्वीकार किये गये हैं। यहां एकत्व और नानत्व के मध्य अंग और अंगी का संबंध है। अंग जैसी अंगी पर आश्रित है और अंगी में एकत्व का ज्ञान रहता है वैसे ही पुरुषसूक्त के रचनाकार के अनुसार जगत के नानात्व के मूल में एक परमतत्व हैं जो अमृतस्वरूप अर्थात् सत् है। "पादोस्य विश्वा भूतानि मृतं दिविः।"[1] इसके चतुर्थांश में समस्त विश्व और प्राणियों का नानात्व है और उसके शेष तीन अंश अमृतस्वरूप या सत् और दिव्य हैं।

नासदीय-सूक्त में द्वन्द्व-न्याय का प्रयोग सबसे अधिक विकसित रूप में हुआ है। इसमें परमतत्व की एकता और विशिष्टता का अधिक सफलतापूर्ण निरूपण हुआ है। उसके रचनाकार का मत है कि "नासदासीन्नोसदासीत्तदानी"[2] अर्थात् तब वहां न असत् था और न सत् ही था तथा वह पुनः इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि "अनीदवातं स्वधया तदेकं"।[3] अर्थात् तव केवल एक था जो वायु के बिना अपने में स्वयं श्वांस लेता था - "तस्माद्धान्यत्र परः किं चनास"।[4] अर्थात उससे पृथक् और परे कुछ भी नहीं था।

वैदिक सूक्तों के ऋषियों की अपेक्षा उपनिषदों के ऋषि अधिक स्पष्ट मनन करने वाले थे और सूक्ष्मरूप से परमतत्व का निरूपण कर सकते थे। उनकी उद्घोषणाओं का आधार उनकी आन्तरिक अनुभूतियां थी। उनके मनन में तर्क का स्थान दूसरे स्तर पर था। डा0 दास गुप्ता के अनुसार तर्क का कार्य मात्र अनुभूत सत्य को व्यक्त करना था। उपनिषदों का दार्शनिक मनन-विधि का अध्ययन करते हुए प्रो0 आर0डी0 रानाडे ने यह निष्कर्ष निकाला कि उसमें दस प्रकार की मनन प्रणाली का प्रयोग किया जाता है।[6] ये दस प्रकार निम्नवत् हैं-

1. कूट-प्रणाली (Enigmatic Method) :

जैसे श्वेताम्बर उपनिषद् के ऋषि ने ध्यान-योग का अनुवर्णन कर उस परमात्मा को देखा जो एक नेमि, तीन वृत, सोलह अन्न, पचास अरों, बीस पत्थरों, छ:अष्टकों, विश्वरूप एकपाश, तीन मार्गो तथा पाप-पुण्य दोनों के निमित्तभूत एक मोह वाला कारण है।[7]

2. सूत्र-प्रणाली (Formulla Method):

उपनिषद् में महावाक्यों के माध्यम से सम्पूर्ण सत्य को व्यक्त कर दिया गया है। जैसे- 'तत्त्वमसि'।

3. धात्वर्थ-प्रणाली (Etymological Method) :

जैसे -स्वपिति का, तात्पर्य 'सत्ता संपन्नो भवति' अथवा "स्वम पींतो भवति" सत् से सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।[8]

4. पौराणिक-प्रणाली (Mythical Method) :

जैसे केनोपनिषद् में यक्ष की कहानी के द्वारा वताया गया है कि विनम्रता के बिना कोई ब्रह्म का ज्ञान नहीं पा सकता।

5. दृष्टान्त-प्रणाली (Analogical Method) :

जैसे-जिस प्रकार समस्त नदियां समुद्र में नामरूप त्याग कर एक हो जाती है उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से मिलकर एक हो जाता है।[9]

6. द्वन्द्वन्याय-प्रणाली (Dialectical Method) :

यह प्रश्नोत्तर की विधि है। जैसे- राजा जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्प आदि की सभा में वाद-विवाद।[10]

7. समन्वय-प्रणाली (Synthetic Method) :

महाराज कैकय ने यही विधि अपनाकर सृष्टि-विज्ञान के छः मतों में समन्वय किया।

8. स्वतःसम्वाद-प्रणाली (Monological Method) :

जैसे, अन्तर्यामी याज्ञवल्क्य के मतों की अभिव्यक्ति।

9. यथावसर-प्रणाली (Adhoc Method) :

जैसे-इन्द्र और विरोचन को प्रजापति एक-एक अंश में आत्मज्ञान कई बार देते हैं।[11]

10. प्रतिगमन-प्रणाली (Regressive Method) :

एक प्रश्न के समाधान के साथ अनेक प्रश्नों की उत्पत्ति होती है। जैसे- जनक और याज्ञवल्क्य के संवाद।[12]

प्रो0 रानाडे के अनुसार उपनिषदों में तत्त्व विवेचन की अनेक प्रणालियां स्वीकार की गयी हैं; लेकिन उन्होंने द्वन्द्वन्याय की प्रणाली को सम्बाद मात्र मानकर न्याय नहीं किया है। उपनिषदों की तर्कणा-पद्धति एक विशेष प्रकार के द्वन्द्वन्याय का प्रयोग करती है। यद्यपि प्लेटों और हेगेल के द्वन्द्वन्याय से साम्य न हो तथापि उसमें द्वन्द्वन्याय के तत्व अवश्य विद्यमान हैं।

नासदीय-सूक्त का तदेकं उपनिषद् के ऋषियों के सामने एक पक्ष के रूप में विद्यमान था। उसके विपरीत उन्हें विपक्ष के रूप में जगत् का नानात्व प्राप्त हुआ। यह एक और नानात्व का भाव सापेक्ष है। दोनों में से एक भी निरपेक्ष परमसत् नहीं हो सकता है। इसलिए इसे दोनों के मूल में विद्यमान अद्वैत परमसत् निर्धारित किया गया है। यह अद्वितीय एक और अनेक की सापेक्षता से मुक्त और दोनों का आश्रय है।

उपनिषद् वैदिक-सूक्तों के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। अतः वे उस अद्वितीय वस्तु को ''एकमेवाद्वितीय'' भी कहते हैं। प्रो0 संगमलाल पाण्डेय के अनुसार, यह द्वन्द्वन्याय अगली सीढ़ियों पर अद्वैत और द्वैत से अनन्त पर, अनन्त और सान्त से भूमा पर, भूमा और अन्य से ब्रह्म पर, ब्रह्म और अहं से तत्व पर और तत्व तथा विषय-विषयी मात्र से आत्मा पर पहुंचा है। उसी को सम्बोधित कर 'एतद्वैतद्', 'सोऽहमस्मि', 'तत्त्वमसि', 'अयम् आत्मा ब्रह्म' आदि उद्घोषणाएं की गयी हैं।[13]

उपनिषदों के द्वन्द्वन्याय की सबसे बड़ी विशेषता परम सत् में विरोधी लक्षणों का आरोप या निषेध करना है। इस प्रकार के द्वन्द्वन्याय का अन्वेषण और विकास

नासदीय-सूक्त के "न सत्-न असत्" निर्वचन से हुआ है और सफलतापूर्वक विकसित होकर अनिर्वचनीय सत् के निर्वचन में समर्थ हुआ है। जैसे ईशोपनिषद में कहा गया है कि "वह अर्थात् परमसत् अपने स्वरूप से विचलित न होनेवाला, किन्तु मन से तीव्र गतिवाला है। इसे इंद्रियां ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि यह उन सबसे पहले विद्यमान है। वह स्थिर होने पर भी अन्य सब गतिशीलों को अतिक्रम कर जाता है।[14] पुनः वह चलता है और नहीं भी चलता है। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और वही सबके बाहर भी है।[15]

स्पष्ट है कि उपनिषदों का द्वन्द्वन्याय परमतत्व के निरूपण में ही प्रयुक्त रहा है। उसकी प्रवृत्ति खण्डनात्मक नहीं है अथवा बहुत कम है, लेकिन उनके बाद की रचनाओं में इसका खण्डनात्मक रूप उग्रता धारण करता गया। प्राचीन दार्शनिकों में गौडपाद आदि और आधुनिक दार्शनिकों में श्रीहर्ष, चित्सुख आदि इसे खण्डन का तीक्ष्ण अस्त्र बना देते हैं।

बादरायण-ब्रह्मसूत्रों में जो तर्कणा-पद्धति प्रयोग में लाते हैं, वह उपनिषदों से भिन्न है। इसे 'परिश्रांति-निरूपण प्रणाली'[16] कह सकते हैं। इस विधि में समस्त सम्भावित विपरीत मतों का खण्डन कर प्रतिपाद्य विषय को प्रामाणिक मान लिया जाता है। सांख्य के अचेतन-कारणवाद का खण्डन करके ब्रह्मसूत्र में चेतनकारणवाद की स्थापना इसी विधि से की गयी है। उसके अनुसार अचेतन वस्तु से जगत् की उत्पत्ति इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि श्रुतियों के अनुसार जगत् का कारण ईक्षण-कर्ता है (सूत्र 1.1.5)। उसके लिए आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है (सूत्र 1.1.6)। उसके ज्ञान से मोक्ष का उपदेश है (सूत्र 1.1.7)। उसे हेय नहीं कहा गया है (सूत्र 1.1.8)। वह सत् शब्दवाच्य है (सूत्र 1.1.9)। सब वेदान्तों का कारण ज्ञान समान है (सूत्र 1.1.10)। इसप्रकार चेतनकारणवाद का यह प्रतिपादन शंकर की दृष्टि में न्यायपूर्वक प्रतिपादन है।

1. गौड़पादाचार्य की तर्कणा-पद्धति :

गौड़पाद के जीवन-काल तक दर्शन की प्रणाली यही है कि प्रतिवादी तर्क के जिस अस्त्र का प्रयोग करे उसके द्वारा उसी के मत का खण्डन कर दिया जाय। जैसे परमाणुवाद पर शंकर के द्वन्द्वन्याय का प्रयोग। 'परमाणु' प्रवृत्तिस्वभाववाले, निवृत्तिस्वभाववाले, उभयस्वभाववाले अथवा अनुभयस्वभाववाले माने जा सकते हैं। इन चारों के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं हो सकती। इन चारों में कोई प्रकार उत्पन्न नहीं होता है। प्रथम, प्रवृत्तिस्वभाव होने पर परमाणु नित्यप्रवृत्त रहने से प्रलय का अभावप्रसंग होगा। दूसरे, निवृत्ति स्वभाव के होने पर परमाणुओं से सृष्टि का अभावप्रसंग होगा। तीसरे; प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों स्वभाव युगपाद होने पर परस्परविरुद्ध होने के कारण असंगत है। चौथे, यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति उभय स्वभाव न माने तो किसी अन्य कारणवश प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वीकार करने में अदृष्ट आदि निमित्त के नित्य सन्निहित होने पर भी नित्य अप्रवृत्ति प्रसंग उपस्थित होगा। इसमें भी परमाणु कारणवाद अनुत्पन्न है।

2. शांकरोत्तर अद्वैतवेदान्त :

शंकर के उपरान्त उनके कुछ शिष्यों में द्वन्द्वन्यायात्मक तर्कणा-पद्धति विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। शंकर के शिष्यों में मण्डन मिश्र अद्वितीय है। उनसे आनन्दबोध, श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान, चित्सुख, नृसिंहाश्रम आदि प्रायः विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(क) मण्डन मिश्र :

'ब्रह्मसिद्धि' मण्डन मिश्र की सबसे महत्वपूर्ण कृति है। इसमें उन्होंने अपनी द्वन्द्वन्यायात्मक तर्कपद्धति का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। ग्रन्थ के दूसरे अध्याय का नाम ही उन्होंने 'तर्ककाण्ड' रखा है। इसमें उन्होंने प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाले भेद का बलपूर्वक निषेध किया है। तर्ककाण्ड का प्रारम्भ इस आपत्ति से होता है

कि 'भेद', प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है और 'प्रत्यक्ष' प्रमाण ही मुख्य है, अतः श्रुतियों के अर्थ की कल्पना उसी के अनुसार करनी चाहिए।[22] इसके समाधान में मण्डन मिश्र सिद्ध करते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा भेद सिद्ध नहीं होता। इसलिए उपनिषदों का एकत्व जैसे-'एकमेवायमद्वितीयम्' प्रत्यक्ष का विरोधी नहीं है। प्रत्यक्ष के तीन विकल्प सम्भव हैं-(1) वस्तुस्वरूप विधि (2) वस्त्वन्तस्य व्यवच्छेदः (3) उभयथा।[23]

वस्तु स्वरूप विधि का अर्थ है, 'प्रत्यक्ष के द्वारा किसी वस्तु का अस्तित्व ज्ञात होना। जैसे यह घर है। अन्य वस्तु से व्यवच्छेद का तात्पर्य है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भिन्न होना ज्ञात होता है। जैसे यह पट नहीं है। उभय का तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु का अस्तित्व और अन्य वस्तुओं से भिन्नता। ये दोनों ज्ञान होते हैं।

तीसरे विकल्प 'उभयथा' के पुनः तीन विकल्प हो सकते हैं- (1)युगपत्, (2) व्यवच्छेदपूर्वक विधि (3) विधिपूर्वक व्यवच्छेद। प्रत्यक्ष यदि युगपत् हो तो वस्तु 'घट' के होने और 'पट' से भिन्न होने का ज्ञान होगा। यदि व्यवच्छेदपूर्वक विधि का प्रत्यक्ष होता है तो पहले वस्तु 'घट' का ज्ञान होगा। पुनः 'पट' से उसके भिन्न होने का ज्ञान होगा। यदि विधिपूर्वक व्यवच्छेद का प्रत्यक्ष होता है तो पहले 'पट' से भिन्न होने का ज्ञान और 'घट' का ज्ञान होगा। इसका निरूपण मण्डन मिश्र इसलिए करते हैं कि प्रत्यक्ष में यदि अन्य वस्तु से व्यवच्छेद गोचर होता है अथवा वस्तु और उसका अन्य वस्तु से व्यवच्छेद दिखाई देता है तब तो भेद प्रत्यक्ष गोचर हुआ और उसका उपनिषद् के एकत्व से विरोध होगा। किन्तु, इसके विपरीत यदि यह सिद्ध हो कि प्रत्यक्ष से वस्तुस्वरूप ही गोचर होती है और वह समस्त व्यवच्छेद से रहित होती है, तो प्रत्यक्ष के द्वारा भेद का ज्ञान

होना प्रमाणित नहीं होगा। व्यच्छेद के बिना भेद सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए एकत्ववादी शास्त्र से प्रत्यक्ष का कोई विरोध न होगा।

मण्डन मिश्र दूसरे विकल्प को सिद्ध करते हैं। "न तावद्व्यवच्छेद मात्रं प्रत्यक्षं व्यापार:"। अर्थात् व्यवच्छेद मात्र प्रत्यक्ष का व्यापार नहीं है। ऐसा सम्भव नहीं है कि वस्तु का ज्ञान न हो और केवल भेद ही प्रत्यक्ष गोचर हो। जिस वस्तुसे भेद का ज्ञान हो वह वस्तु विशेष पहले ज्ञात होनी चाहिए। 'न युगपदुभयम्।' अर्थात् व्यवच्छेद और विधि का एक साथ भी ज्ञान नहीं हो सकता है। यह दूसरा विकल्प भी संभव नहीं है इसलिए मण्डन मिश्र ने इसे भी निरस्त कर दिया है क्योंकि प्रत्यक्ष की क्रिया में एक बार में एक ही बोध हो सकता है, न कि विधि के पूर्व व्यवच्छेद के प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष हो सकता है- "न व्यवच्छेदपूर्वकं विधानम्।" ऐसी परिस्थिति में प्रथम विकल्प का ही तर्क लागू होता है। यदि पहले क्षण में व्यवच्छेद का बोध हो और दूसरे क्षण में वस्तु का बोध हो, तो यह मानना पड़ेगा कि वस्तु का बोध हुए बिना ही व्यवच्छेद का बोध हो सकता है।

उपर्युक्त तीनों विकल्पों का निषेध करने के उपरान्त मात्र यही दो विकल्प शेष रहते हैं कि प्रत्यक्ष में केवल वस्तु गोचर होती है, अथवा वस्तु गोचर होने के बाद भेदगोचर होता है। इन दोनों विकल्पों में प्रत्यक्ष के प्रथम एक क्षण में वस्तु का बोध होता है, यही मनन है और यहीं सत्य भी है। मण्डन मिश्र यही सिद्ध करना चाहते थे कि प्रत्यक्ष में मात्र वस्तु का बोध होता है। वस्तु के बोध के उपरान्त भेद का भी बोध होता है।

भेद द्विविध वस्तुओं के मध्य का संबंध है। जैसे गाय और घोड़े में भेद या किसी वस्तु के होने का भेद, जैसे घट नहीं है। दोनों ही प्रकार के भेद में प्रतिषेध विद्यमान है। 'यह गाय है घोड़ा नहीं' अथवा 'यहां घट नहीं है।' घोड़ा

नहीं है, घट नहीं है- इस प्रकार का प्रतिषेध कैसे सम्भव है? मण्डन मिश्र इस पर विचार करते हुए कहते हैं- ''न प्रतिषेध्यात् प्रतिषेध विषयाच्च बिना प्रतिषेधोऽवकल्पते।''[24] अर्थात् प्रतिषेध्य और प्रतिषेध- विषय के विना प्रतिषेध की कल्पना नहीं हो सकती। सिद्ध रूप वस्तु का ही निषेध होता है- ''सिद्ध रुपमेव निषिध्यते।''

यहाँ एक समस्या उत्पन्न होती है कि क्या आकाश कुसुम जैसी अत्यन्त असत् वस्तुओं का निषेध नहीं हो सकता है? मण्डन मिश्र का मत है कि आकाश और कुसुम दोनों सिद्ध वस्तुएं हैं। मिथ्या केवल दोनों का संबंध है इसलिए आकाश-कुसुम का निषेध हो सकता है? अत्यन्त असत् वस्तु की सिद्धि ही नहीं होती है।अत: उसके निषेध का प्रश्न भी नहीं उठता है।

कुछ लोग अपनी बुद्धि में किसी वस्तु का रूप प्राप्त करके उसका बाहर निषेध करते हैं यहां भी वस्तु बुद्धि-लब्ध है। तभी उसका निषेध सम्भव है। यदि वस्तु बिल्कुल असत् है तो वह शून्यता प्राप्त कर लेगी और उसका किसी अन्य वस्तु से भेद नहीं हो सकता है। उसका सर्वत्र सभी वस्तुओं से भेद एक सामान निषिद्ध रहेगा। अत: यदि दो वस्तुओं में एक दूसरे से पृथक होने का भेद है तो जिन वस्तुओं के बीच भेद है, वे पहले से ज्ञात होनी चाहिए ।

(ख) श्रीहर्ष :

'खण्डनखण्डखाद्य' में श्रीहर्ष ने मुख्य रूप से न्याय-सूत्रों का ही खण्डन किया है। नैयायिकों के अनुसार 16 पदार्थ माने गये हैं, जिन्हें वे परमार्थ सत् स्वीकार करते हैं। उनमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि भी है। श्रीहर्ष इनकी सत्ता नहीं मानते। ग्रन्थ का प्रारम्भ इसी विचार से होता है। श्रीहर्ष कहते हैं कि 'प्रमाणादि की सत्ता न स्वीकार करना विचारणीय विषय के साधन-बाधन की अयोग्यता का हेतु नहीं है, किन्तु सद्वचनाभास लक्षण से युक्त तत्व ही उस

अयोग्यता का हेतु हैं। अतः सद्वचन के आधार पर वाद-विवाद हो सकता है। विचारात्मक दृष्टि से देखा जाय तो प्रमाणादि के सत्व को माननेवाले को ही प्रमाणादि के सत्वार्थक सभी नियमों के भार की महती पीड़ा उपस्थित होती है।

श्री हर्ष बौद्ध और अद्वैत वेदान्त का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं- "दोनों में यह विशेषता है कि बौद्ध सब कुछ अनिर्वचनीय मानते हैं। ब्रह्मवादी कहते है कि विज्ञानस्वरूप ब्रह्म से भिन्न यह विश्व सद्सद् से विलक्षण है। अनिर्वचनीयता दो प्रकार की हो सकती है- एक तो वक्ता के दोष से अनिर्वचनीयता कही जाती है और दूसरी प्रमेय से स्वभावानुगामिनी। विश्व सदसद् से विलक्षण है, अतः वह स्वयं अनिर्वचनीय है। कोई भी उसका निर्वचन नहीं कर सकता है।

श्री हर्ष ने अपनी तर्कणा-पद्धति का प्रयोग लक्षण, प्रमाण, करण, व्यवहार आदि में सर्वत्र किया है। सामान्यतः लक्षण के द्वारा लक्ष्य की व्यवस्था की जाती है और लक्षण से लक्ष्य रूप अधिकरण के ज्ञात होने पर अन्य भेद निरुपित किये जाते हैं। पृथिवीत्व पृथिवी का लक्षण है। इसलिए जहां पृथिवीत्व देखने में आये उसे पृथिवी मानेगें। जहां पृथिवीत्व नहीं है वहां पृथिवी भी नहीं है। जलत्व जल का लक्षण है और वह जल का ज्ञान कराता है। पृथिवी में जलत्व न होने के कारण पृथिवी जल से भिन्न है। इस प्रकार भेद ज्ञान होता है। इसका श्रीहर्ष खण्डन करते हैं। लक्षण के ज्ञान से लक्ष्य का ज्ञान होता है। भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के पृथक् लक्षण है। इसीलिए उनका भेद ज्ञान होता है, किन्तु यह भी सत्य है कि लक्षणों का भेद भी लक्ष्यों की पृथकता से ही होता है। अतः लक्षण से लक्ष्य आदिलक्ष्य से लक्षण का ज्ञान होने में आत्माश्रय दोष है। दो में से प्रथम कौन है? प्रथम लक्षण के द्वारा इतरव्यावृति का ज्ञान होता है या लक्षणान्तर के द्वारा। यदि प्रथम लक्षण के द्वारा मानें तो स्व में स्व की अपेक्षा से आत्माश्रय दोष होगा। यदि लक्षणान्तर के द्वारा इतरव्यावृत्ति का ज्ञान मानें तो अन्योंन्याश्रय

दोष होगा। यदि अन्योन्याश्रय दोष की निवृत्ति के लिए तृतीय लक्षण के द्वारा मानें तो 'चक्रक दोष' होगा। यदि इसकी निवृत्ति के लिए चतुर्थलक्षण मानें तो 'अविश्रांति दोष' होगा। इसलिए लक्ष्य-लक्षण की व्यवस्था त्रुटिपूर्ण और असम्भव है।

परमत में 'प्रमा' की अनके परिभाषाएँ हैं। 'तत्वानुभूतिः प्रमा', 'यथार्थानुभव प्रमा,' 'सम्यक् परिच्छिति प्रमा,' 'अव्यभिचारी अनुभव प्रमा,' आदि कई परिभाषाओं का श्री हर्ष ने उनका खण्डन किया है। ''प्रमाकरणं प्रमाणम्'' इस परिभाषा के अनुसार प्रमा का कारण प्रमाण होता है। यदि प्रमा ही सिद्ध नहीं होती तो प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता।

'शब्द' प्रमाण पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि यदि शब्द-प्रमाण आप्तवाक्य है, तो यह युक्तियुक्त नहीं है। प्रश्न है कि आप्त क़िसे माना जाय? भ्रान्त पुरुष भी अपने वचन को आप्त समझता है। यथार्थ ज्ञान भी पूर्णरूपसे सत्य होना सम्भव नहीं है। उनकी कुछ बात सत्य और कुछ असत्य हो सकती है। यदि जितना यथार्थ ज्ञान है उतना ही प्रमाण मानें तो यह निश्चय नहीं हो सकता है कि उसका कितना ज्ञान यथार्थ है।

(ग) चित्सुख :

अद्वैत-वेदान्त को समृद्ध बनानेवाले चित्सुखाचार्य की सबसे महत्वपूर्ण कृति 'तत्वप्रदीपिका' या 'चित्सुखी' है। उन्होंने द्वन्द्वन्याय का प्रयोग किया है। चित्सुख ने कारणत्व का खण्डन किया है। कारण के विषय में सात प्रकार की मान्यतायें हो सकती हैं-

(1) पूर्वकाल-भातित्व

(2) नियत प्राक्काल सत्व

(3) सहकारि वैकल्पप्रयुक्त कार्याभाववत्व

(4) अन्वय व्यतिरेकवज्जातीत्वं

(5) सामग्री का एकदेशत्व

(6) व्यापारवत्त्व

(7) जिसको न मानने से कार्य की नित्य सत्ता का नित्य असत्ता प्राप्त हो।

यदि उपर्युक्त सातों कारणों के विकल्पों पर विचार किया जाए तो सभी का खण्डन हो जाता है। दूसरे पक्ष में, ''नियत प्राक्कालसत्व'' का तात्पर्य है- 'कार्य से पूर्वकाल में कारण का विद्यमान रहना।' इस स्थिति में काल की अहेतुता की उत्पत्ति होगी, क्योंकि कारण एक ही है। यदि उपाधि के कारण काल का भेद करें तो 'अन्योन्याश्रय दोष' होगा। कालस्वयं अपने में नहीं रह सकता। नियतत्व का भी निर्वचन नहीं किया जा सकता। यदि नियत का अर्थ कार्य के पूर्व कारण को सदा रहना चाहिए तो गर्दभ को भी धूम-विशेष के प्रति नियत कारण मानना पड़ेगा, क्योंकि गर्दभ के रहने पर ही धूल उत्पन्न होता है। यदि गर्दभ तथा धोबी के चले जाने पर धूल नहीं होता है। यदि नियत की अर्थ अन्यथासिद्धत्व मानें तो भी गर्दभ और आकाश आदि में अतिशय बना रहता है। यदि यह कहा जाये कि नियत कारण वह है जिसके रहते कार्य अवश्य हो, तो बीजादि में अकारणता की उत्पत्ति होगी, क्योंकि बीज के रहने पर अंकुर का नियमित रूप से होना नहीं देखा जाता है।

तीसरे पक्ष में, ''सहकारिवैकल्पप्रयुक्त कार्याभावत्व'' का तात्पर्य यह है कि कारण वह है जो सहकारी तत्वों के मध्य विद्यमान हो और जिसके होने से कार्य उत्पन्न हो। कारण का यह लक्षण भी उचित नहीं है। हेतु-साकल्य रूपसामग्री में यह लक्षण नहीं घटता है। इसके अतिरिक्त कारणत्व का निर्वचन न होने से सहकारी पदार्थ का निरुपण नहीं हो सकता है। सहकारी-साकल्य का नाम ही सामग्री हैं। उसके रहने पर सहकारी-वैकल्प सम्भव नहीं है। सहकारी कारण का

अर्थ है दूसराकारण। जब एक कारण ही निश्चित नहीं है, तो अन्य कारण कैसे निश्चित होगा?

चौथे पक्ष में, "अन्वय व्यतिरेकवजज्जीयतत्वम्" का तात्पर्य यह है कि कारण के होने पर कार्य का होना और कारण के न रहने पर कार्य का न होना। यह भी कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक न होने पर भी तृण, अरणि और मणि में अग्नि की हेतुता मानी जाती है। तृणादि में से एक न हो तो भी दूसरे अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती है। यदि तृण आदि में भिन्न प्रकार की अग्नि माना जाए तो भी यह दोष दूर नहीं होता। उस भेद का कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही नहीं। इन्द्रियसन्निकर्ष से कोई निपुण व्यक्ति भी तृण आदि में अव्यक्त अग्नियों का भेद नहीं जान सकता।

पांचवे पक्ष में, '[illegible] देशत्व' का तात्पर्य है कि सामग्री की एकदेशता का होना ही कारण है। यह भी उचित नहीं है। वस्तु-साकल्य को सामग्री मानने में अतिव्याप्ति दोष और कारण-साकल्य को सामग्री मानने में आत्माश्रय दोष होता है। साकल्य पदार्थ को कारणों से भिन्न या अभिन्न मानना संभव नहीं है। यदि कार्य अपने कारणों से सिद्ध हो जाता है, तो साकल्य की कल्पना व्यर्थ है। साकल्यन्यजन्य कारणों से ही मुख्य कार्य की उत्पत्ति हो जायेगी, तो मध्य में साकल्य नामकी व्यर्थ वस्तु मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

छठे पक्ष में, 'व्यापारवत्व' का तात्पर्य है जो कारण से जन्य हो एवं कारण से जन्य का जनक हो। चित्सुख व्यापार में अव्याप्ति दोष मानते हैं। अग्रिम व्यापार में व्यापारान्तरवत्ता न होने से सकारणत्व की अव्याप्ति होती है। व्यापार का जनकत्व के विना निरूपण न हो सकने के कारण 'आत्माश्रय-दोष' है। पुनः, व्यापारत्व का निर्वचन भी नहीं हो सकता है। वह व्यापार समवायित्व है अथवा व्यापार-जनकत्व? प्रथम पक्ष में यज्ञ आदि से स्वर्ग की कारणता नहीं बनेगी और दूसरा पक्ष मानने से जनकत्व में जनकत्व की अपेक्षा होने से 'आत्माश्रय दोष' होगा।

सातवें पक्ष में, कारण वह है जिसके न मानने से कार्य की नित्य सत्ता या नित्य असत्ता प्राप्त हो। यह भी युक्तिसंगत नहीं है। कारणनम्युपगम (कारण का न मानना) की और नित्य सत्व या नित्य असत्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। कारणानभ्युपगम को भावरूप मानने से कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता। प्राग्भाव में अहेतुकत्व रहने पर भी नित्य सत्व या नित्य असत्व नहीं रहता है। 'कारण' अनभ्युपगम अर्थात् बिना हेतु के शशविषाणवत् भी हो सकता है, किन्तु उसमें नित्य सत्व नहीं रहता है। यदि यह कहा जाय कि केवल अहेतुकत्व की व्याप्ति न होने पर भी भावरूप अहेतुकत्व की व्याप्ति नित्य सत्व के साथ हो सकती है, जैसे आकाश आदि, तो इस पर चित्सुख का मत है कि इस दृष्टान्त को लोकायत भी स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि वे आकाश की सत्ता को नहीं मानते हैं।

इस प्रकार चित्सुख द्वारा खण्डन कर देने से समस्त भेद, अभेद या भेदाभेद निरस्त हो जाते है। उनके अनुसार यह सकलप्रपंच अनादि अविद्या का विकास मात्र हैं। इस प्रकार के प्रपंच के ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध न रहने से वेदान्त वाक्य अबाधित होकर अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान करते हैं, यह निर्दोष सिद्धान्त है।

(घ) मधुसूदन सरस्वती :

श्रीहर्ष और चित्सुख की तार्किक-परम्परा में मधुसूदन सरस्वती का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति 'अद्वैतसिद्धि' है जिसमें उन्होंने व्यासतीर्थ रचित 'न्यायामृत'[18] का खण्डन किया है। अद्वैतसिद्धि सम्भवतः वेदान्त की अन्तिम श्रेष्ठ रचना है।'न्यायमृत' ग्रन्थ न्याय-दर्शन के समर्थन में अद्वैत-वेदान्त का खण्डन करता है। मधुसूदन ने इस ग्रन्थ का खण्डन करके पुनः अद्वैत की रक्षा की। इसलिए इसका नाम ''अद्वैत-सिद्धि रखा। अद्वैतसिद्धि में तर्कणा-पद्धति का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

व्यासतीर्थ ने मिथ्यात्व के पांच लक्षण प्राचीन अद्वैत वेदान्त से किया। पद्मपादाचार्य से सत्तवासत्तवानधिकरणत्व, प्रकाशात्म मुनि से 'त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व' एंव 'ज्ञाननिवर्त्यत्व,' चित्सुख ने 'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ता भाव प्रतियोगित्व' और आनन्द बोध से 'सिद्धि-विक्तत्व' को ग्रहण करते हुए प्रपंच के मिथ्यात्व के पाँच लक्षण मानते हैं। मधुसूदन सरस्वती ने व्यासतीर्थ के इन पांचों मतों का खण्डन किया है जो निम्नवत् है-

पद्मपाद की 'पंचापादिका' के अनुसार 'मिथ्या शब्दोऽनिर्वचनीयता वचनः'-अर्थात् शब्द अनिर्वचनीयता का वाचक है। इसे व्यासतीर्थ सत्व-असत्व का अनधिकरणत्व मानकर आलोचना करते हैं। उनके अनुसार इसके तीन अर्थ हो सकते है-

(1) सत्त्व-विशिष्ट असत्व का अभाव

(2) सत्त्व का अत्यन्ताभाव और असत्त्व का अत्यन्ताभावरूप धर्मद्धय

(3) सत्त्वात्यन्ताभाव-विशिष्ट असत्त्वात्यन्ता भाव रूप एक धर्म की आधारता।

प्रथम पक्ष में, 'सत्त्व-विशिष्ट असत्त्व का अभाव' मानने से सिद्ध-साधकता का दोष आता है, क्योंकि प्रपंच को मात्र सद्रूप माना गया है। असत्त्व का अभाव होने से और सत्त्व की विशिष्टता होने से जगत् सत्य सिद्ध होता है। यह आलोचना उचित है और इसका मधुसूदन विरोध नहीं करते हैं। अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्व की यह परिभाषा अभिप्रेत नहीं है।

दूसरे पक्ष में, 'सत्त्व का अत्यन्ता भाव और असत्त्व का अत्यन्ताभावरूप' दो धर्मो की आधारता से मिथ्यात्व के यह दोष हो सकता है, कि दोनों का एकत्र रहना विरुद्ध पड़ता है। सत्त्वाभाव का नाम असत्त्व और असत्त्वाभाव का नाम सत्त्व होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सत्त्व और असत्त्व दो विरोधी भाव एक-साथ रहते हैं। लेकिन यह सम्भव नहीं है। इसके समाधान में मधुसूदन

सरस्वती का मत है कि सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म एक दूसरे के अभाव नही हैं। वे दोनों ही स्वतंत्र भावरूप धर्म है। सत्त्व का स्वरूप है त्रिकालाबाध्यत्व। अर्थात् जिसका तीनों काल में बाध न हो। किसी भी आधार में अर्थात् उपाधि किसी भी सद्रूप से प्रतीत न होनेवाले पदार्थ को असत् कहते है। ब्रह्म सत्त्व का और आकाश-कुसुम असत्त्व के उदाहरण हैं। प्रपंच में सत्त्व और असत्त्व दोनों का अभाव है।

तीसरे पक्ष में, व्यासतीर्थ को व्याघात दोष वैसे ही दिखाई देता है, जैसे दूसरे पक्ष में। जब सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव एकत्र रह ही नहीं सकते, तो सत्त्वाभाव विशिष्ट-असत्त्वाभाव कैसे सम्भव होगा? इसके उत्तर में मधुसूदन का मत है कि त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व प्रपंच में सिद्ध नही हो सकता, इसलिए वहां सत्त्वाभाव के रहने में कोई आपत्ति नहीं है। शुक्ति और रजत में असत्त्वाभाव के रहने पर भी सत्त्व नहीं माना जाता है। ब्रह्म की सद्रूपता प्रपंच में प्रतिभासित होती है।

मिथ्यात्व की दूसरी परिभाषा 'त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व' है। इस परिभाषा में त्रैकालिक निषेध के तीन विकल्प हो सकते हैं-

(क) ब्रह्म में प्रपंच का त्रैकालिक अभाव यदि ब्रह्म के समान तात्त्विक है, तब अद्वैत की हानि होती है।

(ख) प्रपंच का वास्तविक अभाव न मानकर प्रातिभासिक अभाव मानने से सिद्धसाधन दोष है।

(ग) प्रपंच का व्यावहारिक अभाव भी वस्तुतः बाधित ही होता है। इसलिए बाधित अभाव की प्रतियोगिता प्रपंच में मान लेने से वास्तविक सत्त्व का उपहार नहीं होता, इसलिए सिद्ध-साधनता और अर्थान्तररता दोष रहते हैं।

यह आक्षेप द्वैतवादियों का है। इसका 'मधुसूदन सरस्वती' विरोध करते हुए कहते हैं कि यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि प्रपंचनिषेध अधिकारणीभूत ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण निषेध तात्विक होने पर भी अद्वैत-घाती नहीं है। तात्त्विक निषेध के प्रतियोगी प्रपंच में तात्विकत्व प्रसक्त न होकर कल्पित ही होता है। जैसे रजतादि में। साथ ही साथ प्रपंच का निषेध अतात्त्विक ही है। ऐसा होने पर भी वह प्रतिभासिक नहीं है अपितु वह व्यावहारिक ही माना जाता है।

द्वैतवादियों का यह विचार भी उचित नहीं है कि व्यावहारिक निषेध बाधित होने के कारण प्रपंच की पारमार्थिक सत्ता का विरोधी नहीं है, अतः 'अर्थान्तरता दोष' है। इसका कारण यह है कि स्वप्नारोपित गजादि पदार्थो का स्पप्न-निषेध के द्वारा बाध देखा जाता है। प्रपंचगत पारमार्थिकता का भ्रम दूर करने के लिए ही मिथ्यात्व-साधक अनुमान प्रयोगों की सर्जना हुई है।

मिथ्यात्व की तीसरी विचारणीय परिभाषा **'ज्ञाननिवर्त्यत्व'** है। विवरणाचार्य के अनुसार, अपने वर्तमान या प्रविलीन कार्य के सहित अज्ञान की ज्ञान से निवृत्ति बाध है- **'अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्तमानेन प्रविलीनेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिवधिः'**। इस दृष्टि से ज्ञान-निवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व का लक्षण सिद्ध होता है। व्यासतीर्थ के अनुसार मिथ्यात्व का यह लक्षण उस ज्ञान में अतिव्याप्ति है जिसकी निवृत्ति अपने उत्तरवर्ती ज्ञान के द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त, ज्ञानमत निवर्तकता ज्ञानहीन विवक्षित है या ज्ञानत्व-व्याप्त धर्मेण? यदि हम पक्ष के अनुसार ज्ञानत्वेन मानें तो शुक्ति-रजकादि में उसकी अव्याप्ति है क्योंकि उनकी शुक्ति ज्ञान में निवर्तकता अधिष्ठान-साक्षात्कार के द्वारा होती है, न कि ज्ञान के द्वारा। द्वितीय पक्ष के अनुसार संस्कारों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उसकी निवर्तकता स्मृति ज्ञान में ज्ञानात्व-व्याप्य स्मृतिरूप से होती है।

उपर्युक्त आक्षेपों का समाधान करते हुए मधुसूदन सरस्वती का मत है कि ज्ञानंनिवर्त्यत्व का तात्पर्य ज्ञान-प्रयुक्त अवस्थिति सामान्य के अभाव की प्रतियोगिता है। निवृत्ति का अर्थ अत्यन्ताभाव होता है। उसके प्रतियोगी को निवर्त्य कहते हैं। ज्ञान और अत्यन्ताभाव का व्याप्य-व्यापकभाव विवक्षित है। इसलिए ज्ञान का निवर्त्यत्व मिथ्यात्व है। इसमें कोई दोष नहीं है। कार्य की अवस्थिति दो प्रकार की होती है- (क) कार्यरूप में और (ख) कारणरूप में। उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के पश्चात् भी कार्य की स्थिति कारण में तबतक मानी जाती है, जबतक कारण बना रहता है। कारणरूपेण अवस्थिति का अभावं तो ब्रह्मज्ञान के पश्चात् ही होता है। इसलिए विनष्ट घट में ज्ञान-निवर्त्यत्व या अधिष्ठानसाक्षात्कार प्रयुक्त अवस्थिति सामान्य विरह-प्रतियोगित्वलक्षण अतिव्याप्त नहीं होता। अधिष्ठान साक्षात्कार आदि भी ज्ञान की कक्षा में ही आ जाते हैं। उत्तर ज्ञान के द्वारा पूर्वज्ञान की जो निवृत्ति होती है, वह निवृत्ति सामान्य या आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं है, क्योंकि संस्कार आदि रूप से ज्ञान की अवस्थिति बनी रहती है। अतः उनमें भी अतिव्याप्ति नहीं है।

चौथे, अपने आश्रय में रहनेवाले अत्यन्ताभव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। इसका तात्पर्य यह है कि मिथ्या वस्तु का अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमानत्व है। व्यासतीर्थ इसे पूर्वोक्त द्वितीय लक्षण के समान ही मानकर इसे भी निरस्त मान लेते हैं। मधुसूदन सरस्वती का मत है कि द्वितीय और चतुर्थ परिभाषायें एक समान नहीं हैं, फिर भी यदि विरोधी कोई नये आक्षेप नहीं करता और पुराने की ही पुनरावृत्ति करता है तो वे भी उन्हीं उत्तरों की पुनरावृत्ति करते हैं।

मिथ्यात्व का पांचवा लक्षण सद्विक्तित्व कहा गया है। प्रमाणसिद्ध वस्तु को सत् कहते हैं। अतः प्रमाणसिद्ध वस्तु से भिन्न होने के कारण प्रपंच मिथ्या सिद्ध हो जाता है। न्यायामृतकार ने सत्ता के अधीन विकल्प को मान लिया हैं और उनमें दोष दिखाया है। सत्त्व का अर्थ सत्ता-जाति की अधिकरणता हो सकता है, अबाध्यात्व हो सकता है और ब्रह्मरूपत्व भी हो सकता है। सत्ता-जाति न होने पर सद्विविक्त होगा और न्यायामृतकार के अनुसार अद्वैतवादी भी घटादि में

अविद्या-प्रयुक्त जाति मानते हैं। इसलिए विरोध उत्पन्न होता है। मधुसूदन सरस्वती का मत है कि घटादि में सत्ता-जातिं का भाव अविद्या के कारण अवश्य है, किन्तु वस्तुतः सत्ता में घट है, घट में सत्ता नहीं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि अद्वैतवेदान्त पर किये गये आक्षेपों का खण्डन करके अपने मत की रक्षा में मधुसूदन सरस्वती ने अपनी तर्कणा-शक्ति का प्रयोग किया।

संदर्भिका

1. पुरुष सूक्त-3
2. नासदीय सूक्त-1
3. वही-2
4. वही-2
5 History of Indian Philsophy, Vol I Page 41, Dr. S N Dasgupta "Reason had only to unravel it in the light of Exeperinece"
6 "A Costructive Survey of upnishadic Philisophy, Page 23 - Prof R.D Ranade
7. श्वेताश्वेतर-उपनिषद्-1.4.
8. छान्दोग्य-उपनिषद्-6.8.1
9. वही-6.10.1
10. वृहदारण्यक-उपनिषद्-3.9.26
11. छान्दोग्य-उपनिषद्-8.8.1
12. वृहदारण्यक-उपनिषद्-4.3.1
13. Pre- Shanker Advaita Philosophy, Page -103, Prof Sangam Lal Pandey
14. ईशउपनिषद्-4
15. वही-5
16. Pre- Shanker Advaita Philosophy, Page -103, Prof Sangam Lal Pandey
17. ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य, सूत्र 1.1.12 की प्रस्तावना में
18. The Critical Philosphy of Kant, Vol I, Page-7, Dr Edward Caird
19. गौडपादकारिका- 2-10.
20. वही-1.6
21. ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य-2.2.14
22. मण्डन मिश्र, 'ब्रह्मसिद्धि,' तर्कखण्ड, पृष्ठ 39 (मुख्या हि प्रत्यक्षादयः............यदनुसावेण वार्थकल्पनाभर्हति)
23. वही-पृ0 40
24. मण्डन मिश्र 'बक्र सिद्धि', तर्ककाण्ड, पृ0 44, पंक्ति 19

6

अद्वैत वेदान्त में मनन के अनुप्रयोग

(Applications of Manan in Advait Vedant)

(विरोधी दर्शनों के समीक्षार्थ)

1. अद्वैत वेदान्त में पूर्व दर्शनों के विभिन्न मतों का मनन (तर्क) द्वारा खण्डन :

निर्गुण, निर्विशेष, अद्वैत-ब्रह्म ही एक मात्र त्रिकालाबाधित सत् है। ब्रह्म सगुण रुप में जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। वह अपनी माया शक्ति से इस नानात्व जगत् की रचना करता है। अविद्या के कारण ही जीव सांसारिक पदार्थो का कर्ता, धर्ता, भोक्ता बन जाता है, वह बंधन-ग्रस्त होकर अपने यथार्थ स्वरुप को भूल जाता है। अविद्या की निवृत्ति के पश्चात् जीव को अपने यथार्थ स्वरुप का ज्ञान होता है। यथार्थ ज्ञान होते ही वह ब्रह्म हो जाता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही अविद्या के निराकरण में यथार्थ साधन हैं। यही औपनिषद-दर्शन है, जो श्रुतियों का मूल तत्व है। यही शंकर का अद्वैत-वेदान्त है। आचार्य शंकर श्रुति एवं युक्ति के आधार पर अपने सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं। परन्तु किसी मत की स्थापना तब तक पूर्ण नहीं होती है जब तक उस पर लगाए गए सभी विरोधी आक्षेपों का समुचित ढंग से निराकरण न किया जाय। सांख्यादि दर्शन भी

श्रुति की व्याख्या करते हुए भिन्न-भिन्न निष्कर्ष का प्रतिपादन करते हैं तथा अपने बताए हुए मार्ग को ही एक मात्र मुक्ति का यथार्थ साधन बताते हैं। अतएव मंदमति पुरुष इनके बहकावे में आकर भ्रान्ति में फंस जाते हैं। अतः अद्वैत-वेदान्त की सिद्धि के लिए परपक्ष का खण्डन आवश्यक है। अद्वैत-वेदान्त की स्थापना पूर्णतः तभी संभव है जब श्रुति-निरपेक्ष केवल युक्ति के द्वारा पर पक्ष के आक्षेपों का खंडन किया जाय तथा उनमें असंगति एवं परस्पर-विरोध दिखाकर उसे भ्रान्त सिद्ध किया जाय। यद्यपि अद्वैत-वेदान्त का तत्व-निर्णय ही मुख्य प्रयोजन है, परन्तु इसकी सिद्धि पूर्णतः विरोधी मतों के मिथ्या-सिद्धि के बाद ही संभव है। भ्रान्तिमूलक परपक्ष का खण्डन उचित ही है।[1]

आचार्य शंकर द्वारा परपक्ष का खण्डन पाश्चात्य ग्रीक दार्शनिक जेनों तथा नागार्जुन की युक्ति पद्धति से मिलता-जुलता है। विरोधी-सिद्धान्तों में असंगति दिखाकर वे उन्हें मिथ्या घोषित करते हैं। सर्वप्रथम विपरीत मतों को पूर्व-पक्ष में रखकर उसका खण्डन किया जाता है और फिर सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना की जाती है। ब्रह्म-सूत्र का तर्कपाद-प्रकरण इसी उद्देश्य का सूचक है। सांख्यादि सिद्धान्तों के खण्डन के पश्चात् अद्वैत-वेदान्त की सिद्धि करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है। तर्कपाद-भाष्य को दृष्टि में रखकर यदि शंकर को संसार का सबसे बड़ा तार्किक कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। उनका दर्शन पूर्णतः बौद्धिक है, क्योंकि शंकर तर्क एवं युक्ति के द्वारा ही वेदान्त वाक्यों के तात्पर्य का निश्चय, संशय एवं विपर्यय के निराकरण पूर्वक करते हैं। भ्रान्तिमूलक सिद्धान्तों का खण्डन पूर्णतः युक्ति द्वारा ही संभव है। अतः परपक्ष की युक्ति-पूर्वक समीक्षा आवश्यक है।

(क) सांख्य-दर्शन की समीक्षा :

सांख्य के प्रधान-कारणवाद का निराकरण आचार्य शंकर साधिकार करते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। वे कहते हैं कि 'चूंकि मंदमतियों को सांख्य द्वारा बताये

गये सिद्धान्तों के कुछ लिंगाभास वेदान्तों में आपाततः प्रतीत होते हैं, तथा उसका कार्य-कारण का अभेद सिद्धान्त वेदान्तवाद के अति निकटवर्ती है,[1] अतः उसके प्रतिषेध में अत्यधिक प्रयत्न किया गया है।[2] वे सांख्य को प्रधान-मल्ल समझते हैं। शंकर कहते हैं कि सांख्य-मत के निराकरण के पश्चात् अन्य दूसरे सिद्धान्तों का स्वतः निराकरण हो जाता है क्योंकि सांख्य ही वेदान्त का प्रधान-मल्ल है।[3]

प्रकृति-परिणामवाद का खण्डन :

सांख्य सत्कार्यवाद-सिद्धान्त को स्वीकर करता है। सत्कार्यवाद का तात्पर्य है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में पहले से विद्यमान रहता है। सद् से सत् की उत्पत्ति होती है।[4]

शंकराचार्य सत्कार्यवाद को स्वीकार करते हैं। वे सांख्य की तरह यह मानते हैं कि असत्कार्यवाद को मान लेने पर 'निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की उत्पत्ति होती है'[5] इसे सिद्ध करना असंभव होगा। शंकराचार्य असत्कार्यवाद के विरोध में तर्क देते हैं कि 'उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता सिद्ध होती है क्योंकि कार्य की अभिव्यक्ति होती है।[6] वही उस आवरण का प्रकाशादि से तिरस्कार होने पर विज्ञान की विषयता को प्राप्त होकर अपनी पूर्व-कालिक सत्ता का त्याग नहीं करता।[7] "भूत और भविष्यत्-प्रतीतियों के भेद से भी कार्य की सत्ता सिद्ध होती है। भूत घट्, भविष्यत् घट् इन प्रत्ययों का वर्तमान घट प्रत्यय के समान विषय-शून्य होना उचित नहीं है क्योंकि भविष्यत् घट को इच्छा वाले पुरुष की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। असत्पदार्थ की इच्छा से लोक में किसी की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । इसके सिवाय योगियों का भूत और भविष्यत् सम्बन्धी ज्ञान तो सत्य ही होता है। यदि भावी घट असत् माना जाय तो ईश्वर का भावी घट् सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान भी मिथ्या होगा, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता।"[8] असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती, सत् की उत्पत्ति तो सत् से ही होती है।

यदि अभाव से ही घट की उत्पत्ति होती तो घट बनाने वाले की इच्छावाले को मृत्तिका का पिण्ड लेने की आवश्यकता न होती तथा घटादि में 'अभाव' शब्द और अभाव-बुद्धि की अनुवृत्ति का भी प्रसंग उपस्थित होता। किन्तु ऐसा नहीं है। अतएव असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[9]

इस तरह सांख्य की तरह अद्वैत वेदान्त भी सत्कार्यवाद को स्वीकार करता है और असत्कार्यवाद या आरम्भवाद का खण्डन करता है। परन्तु सांख्य और अद्वैत-वेदान्त में गहरा भेद है। सांख्य कार्य को सत्य या परिणाम मानता है, परन्तु अद्वैत वेदान्त कार्य को विवर्त मानता है। सांख्य परिणामवादी है। इसके अनुसार दूध का दधि रुप में उत्पन्न होना ही प्रमाण है। यह सम्पूर्ण जगत प्रकृति का परिणाम है। रामानुज भी परिणामवादी हैं, वे जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। इसके विपरीत शंकर विवर्तवादी हैं। यह सारा जगत् आभास-मात्र है जैसे कि रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत।

शंकर परिणामवाद में तार्किक-दोष प्रदर्शित करते हैं जिनका विवर्तवाद में समाधान हो जाता है। शंकर कहते हैं कि सत्कार्यवाद सिद्धान्त को सांख्य ने ठीक से समझा ही नहीं सांख्य के अनुसार कार्य अपने उपादान-कारण में पूर्व निहित है और उपादन कारण का सत्य परिणाम ही कार्य है। उत्पत्ति के बाद कार्य एक नया स्वरुप धारण करता है। एक नया स्वरुप जो उत्पत्ति के पहले कारण में नहीं था, उत्पत्ति के बाद आया जबकि सत्कार्यवाद का अर्थ है कि असत् से सत् की उत्पत्ति असंभव है। इस प्रकार शंकर सांख्य के सत्कार्यवाद में विरोध दिखाते हैं। शंकर कहते हैं कि सांख्य का यह मानना वस्तुतः गलत है कि स्वरुप का परिवर्तन भी एक तरह से वस्तु सत् में परिवर्तन होता है। आकार के परिवर्तन मात्र से वस्तुतः पदार्थ में परिवर्तन नहीं होता। "कार्य का आकार भी कारण का आत्मस्वरुप भूत ही है क्योंकि जो कार्य कारणात्मक नहीं होता वह

उससे निःसृत भी नहीं होता। विशेष दर्शन मात्र से कोई पदार्थ अन्य दूसरा नहीं हो जाता। संकुचित-हस्तपाद और प्रसारित-हस्तपाद देवदत्त कुछ विशेष रुप से दृश्यमान होने पर भी अन्य वस्तु नहीं हो जाता है।"[10] और यदि आकार को पदार्थ से अलग मान लिया जाय तो दो स्वतंत्र पदार्थो में सामंजस्य होना असंभव होगा और इन दो स्वतंत्र पदार्थो के सम्बन्ध के लिए एक तीसरे पदार्थ की आवश्यकता होगी। फिर तीसरे से सम्बन्ध जोड़ने के लिए चौथै की। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।[11] अतः आकार को एक भिन्न सत्ता के रुप में नहीं लिया जा सकता है और आकारगत परिवर्तन यथार्थ परिवर्तन के रुप में नहीं लिया जा सकता है।

शंकर कहते हैं कि कारण से कार्य में वस्तुतः में कोई परिवर्तन होता ही नहीं। परिवर्तन का अनुभव तो अध्यास मात्र है, जो अविद्या के कारण है। इस तरह सांख्य का परिणामवाद खंडित हो जाता है। सांख्य के सत्कार्यवाद की नींव ही हिल जाती है। सांख्य का यह कहना कि कार्य उपादनकारण में अव्यक्त रुप से निहित है और कार्य अनिवार्य एवं अभेद रूप से कारण से सम्बन्धित रहता है, दोषरहित है, परन्तु सांख्य इस सिद्धान्त से हट जाता है जब वह कहता है कि कार्य कारण का यथार्थ परिवर्तन है।

सांख्य के परिणामवाद में गंभीर दोष यह है कि एक तरफ तो वे कार्य और कारण में अनिवार्य तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ते हैं और दूसरी तरफ कार्य और कारण में भेद भी दिखाते हैं। प्रथमतः यह वेदान्त को स्वीकार करता है, दूसरे स्तर पर न्याय-वैशेषिक को। सत्कार्यवाद को तार्किक आधार देने पर न तो सांख्य का द्वैतवाद ही सिद्ध होता है और न असंख्यतत्ववाद, बल्कि अद्वैत-वेदान्त का एकमात्र अद्वैत तत्व ही सिद्ध होता है। सांख्य का अव्यक्त या प्रधान तथा व्यक्त

(जगत्) यद्यपि अनिवार्य रुप से अभिन्न हैं तो भी वे दो भिन्न सत्ताएं हैं। इसके विपरीत अद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार जगत् अनिवार्य रुप से ब्रह्म से अभिन्न है और ब्रह्म का विवर्त मात्र है। दोनों में कोई भेद नही है।

गौड़पाद का अजातिवाद सिद्धान्त विवर्तवाद का एक दूसरा रुप है। गौड़वाद कहते है कि "कोई सद्वस्तु उत्पन्न नहीं होती" और 'असद्वस्तु का जन्म नही होता' इस प्रकार ये विभिन्न मत परस्पर विपरीत होकर प्रकारान्तर से अद्वैतवादी अजाति (अजातिवाद) को ही प्रकाशित करते हैं।[12] "कोई भी भूत अर्थात् विद्यमान वस्तु विद्यमान होने के कारण ही, उत्पन्न नहीं होती, जैसे कि आत्मा"-ऐसा कहकर असत्कार्यवादी सांख्य के सद्वाद का खण्डन करता है तथा सांख्य भी 'अमृत अविद्यमान वस्तु अविद्यमान होने के कारण ही शशश्रृंग के समान उत्पन्न नहीं हो सकती'- ऐसा कहकर असद्वादी के पक्ष असत् की उत्पत्ति का प्रतिषेध करता है। इस प्रकार परस्पर विवाद करने वाले ये एक-दूसरे के पक्ष का खण्डन करते हुए अजातिवाद को ही प्रकाशित करते हैं। गौड़वाद अजातिवाद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती।[13] शंकर कहते हैं यदि वस्तु सत् (विद्यमान) है तो मृत्तिका आदि के समान सत् होने के कारण उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि असत् है तो शशश्रृंगादि के समान असत् होने के कारण उत्पन्न नहीं हो सकती और यदि सदसत् है तो भी उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि एक ही वस्तु एक साथ विरुद्ध-स्वभाववाला होना असंभव है। अतः यह सिद्ध हुआ कि कोई भी वसतु यथार्थ रुप में उत्पन्न नहीं है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कोई घड़ा उसी घड़े से उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार कोई भी वस्तु स्वयं अपने अपरिनिष्पन्न रुप से स्वतः ही उत्पन्न नहीं हो सकती और न किसी अन्य से ही अन्य की उत्पत्ति संभव है (शक्तस्यशक्यकरणात् सां0का0-9) घट से पट की तथा पट से पटान्तर की

उत्पत्ति नहीं होती तथा दोनों में विरोध होने से दोनों से भी किसी की उत्पत्ति संभव नहीं है।

जब सांख्य 'कार्य अपने उपादान कारण से अनिवार्य रुप से सम्बन्धित है' ऐसा स्वीकार करता है, और साथ ही यह भी मानता है कि 'कार्य की सदुत्पत्ति होती है' तो वह दोषपूर्ण हो जाता है। 'कार्य स्वयं को उत्पन्न करता है' ऐसा कहना अर्थहीन होगा तथा सांख्य दूसरी तरफ प्रधान को अनादि और अनन्त मानता है। अब प्रश्न है कि यदि तत्व अनादि और अनन्त है तो उससे बहुत-से तत्वों की यथार्थ उत्पत्ति की कल्पना भी दोषपूर्ण ही है। शंकर कहते हैं कि 'सत् या विद्यमान कारण से यथार्थः कार्य की उत्पत्तिं नहीं होती, कार्य के आभास मात्र की ही उत्पत्ति होती है। वह श्रुति के 'अज्ञायमानो बहुधा विजायते;' वाक्य के आधार पर सिद्ध करते हैं कि अनादि, अनन्त कारण ही अनेक रुपों में होकर आभास रुप से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार शंकर सांख्य के प्रकृति परिणामवाद का तर्क पूर्वक दोष दिखाकर खंडन करते हैं। अद्वैत-वेदान्त का विवर्तवाद ही श्रुति समर्थित एंव तार्किक रुप से निर्दोष सिद्धान्त सिद्ध होता है।

प्रकृति कारणवाद का खण्डन :

सांख्य का प्रकृति-कारणवाद उसके सत्कार्यवाद का तात्विक विश्लेषण है। प्रत्येक कार्य उत्पन्न होने के पूर्व उपादान कारण की आवश्यकता रखता है जिसमें वह पूर्व निहित है। यह जगत् भी एक कार्य है अतएव अपनी उत्पत्ति के लिए इसे भी किसी-न-किसी कारण की आवश्यकता हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति ही इस जगत् का कारण है। सांख्य वैशेषिक के भौतिक अणु को कारण नहीं मानता क्योंकि वे बुद्धि-तत्व की उत्पत्ति नहीं कर सकते हैं। ब्रह्म भी जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरुप है, वह जड़-तत्व की उत्पत्ति कैसे

करेगा? चेतन से चेतन की ही उत्पत्ति संभव है। अतः प्रधान प्रकृति ही जगत् का कारण हो सकती है?

सांख्य के इस प्रकृति कारणवाद का शंकर खंडन करते हैं। वे सांख्य से सहमत हैं कि जगत् का कारण नित्य, अपरिच्छिन्न और एक है, परन्तु वे जड़ प्रकृति को कारण नहीं मानते हैं। चेतन ब्रह्म ही जगत् का कारण होने में समर्थ हैं। शंकर दो प्रकार से प्रकृति कारणवाद का खण्डन करते हैं- एक श्रुति के आधार पर, दूसरे स्वतंत्र रुप से युक्ति द्वारा। प्रथम प्रकार से सांख्य के प्रकृति-कारणवाद का खण्डन शंकर इस प्रकार करते हैं- ''सांख्यादि अपने पक्ष की स्थापनां के लिए वेदान्त वाक्यों का उदाहरण देकर स्वपक्ष के अनुसार ही उनकी योजना करते हुए व्याख्या करते हैं, परन्तु उनकी जो व्याख्या है, वह व्याख्याभास है, सम्यक् व्याख्या नहीं है।''[14]

शंकर का निश्चित मत है कि प्रधान कारणवाद श्रुतियों द्वारा प्रमाणित नहीं है। छांदोग्य उप0 6,2,3, एत्तरेय उप0 11,1, प्रश्न उप0 6,3 तैत्तरीय उप0 2,6 आदि श्रुतियों ने चेतन को ही जगत् का मूल कारण माना है। अचेतन प्रकृति जगत का कारण नहीं हो सकती है। अचेतन प्रकृति से चेतन जीव की उत्पत्ति कैसे संभव है? श्रुतियों में जगत् के कारण को श्रोता, द्रष्टा और ज्ञाता के रुप में कहा गया है।[15]

शंकर के विपरीत सांख्य का कथन है कि प्रकृति जगत् के कारण रुप में श्रुतियों द्वारा समर्थित है। मुण्डक उप0 (1,1,6-7) में वर्णित अक्षर प्रकृति के लिये ही आया है। ''यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम गोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोतं तद्पाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद्व्ययंयद्भुतयोनिं---- तदक्षरमधिगम्यते------तथाक्ष्रात्सम्भवतीह विश्वम्।'' मुण्डक उप0 (उप0 1,1,15'6-6) - इस वेदान्त वाक्य के आधार पर अक्षर की प्रकृति है। य अचेतन प्रकृति ही भूतयोनि (सम्पूर्ण भेतों का कारण)

तथा अक्षर रुप से वर्णित है। सांख्य इसकी पुष्टि मुण्डक उप0 के अगले श्लोक में दिये हुए सभी अचेतन दृष्टांतों के आधार पर करते हैं।" जिस प्रकार मकड़ी जाल को बनाती है और निगल जाती है, जैसे पृथ्वी में औषधियां उत्पन्न होती हैं और जैसे शिर से केस और लोभ उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार इस अक्षर से यह विश्व प्रगट होता है।" मुण्डक उप0 1,1,7,। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति से यह जगत् उत्पन्न होता है।

आचार्य शंकर के अनुसार उपनिषद् में 'अक्षर' शब्द परमेश्वर या ब्रह्म के लिये प्रयुक्त है न कि अचेतन प्रकृति के लिये क्योंकि मुण्डक उप0 में कहा गया है कि वह अक्षर या भूत योनि सर्वज्ञ तथा सर्वविद्य है, अचेतन नहीं।[16] इस प्रकार शंकर श्रुति द्वारा सांख्य के प्रकृति कारणवाद का खण्डन करते हैं।

स्मृतियों के आधार पर भी शंकर सांख्य के प्रकृति कारणवाद का खण्डन करते हैं। स्मृतियां ब्रह्म को ही जगत् का कारण स्वीकार करती हैं। उदाहरणस्वरुप भगवत्गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि "मै (परमात्मा) ही सम्पूर्ण जगत का उत्पत्ति एवं प्रलय रुप हूँ अतएव सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ।"[17]

आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रकृति के जगत् के कारणरुप को तर्क द्वारा भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि अचेतन प्रकृति कभी भी चैतन्य जीव की उत्पत्ति नहीं कर सकती है।

सांख्य प्रधानकारणवाद को लौकिक दृष्टांतों के द्वारा भी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। जैसे, लोक में घट कसवादि कार्य मृत्तिका रूप सामान्य कारण से प्राप्त होते हैं वैसे ही यह नानात्व जगत् जो दु:ख-सुख आदि मोहों से पूर्ण है। इसका कारण अचेतन परन्तु त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही है। शंकर कहते हैं कि यह दृष्टांत भी अनुपयुक्त है क्योंकि लोक में स्वतन्त्र रूप से अचेतन विशिष्ट कार्य का सम्पादन नही देखा जाता है। लोक में गृह, महल, शयन, आसन, बिहार, भूमि

आदि समय के अनुसार बुद्धिमान शिल्पियों के द्वारा सुःख-प्राप्ति एवं दुःख-परिहार के लिये निर्मित किये जाते है। अतः इस बाह्य जगत् एवं आध्यात्मिक जगत् की रचना जड़ प्रकृति कैसे कर सकती हैं? फिर आगे शंकर कहते हैं कि अचेतन प्रकृति में कार्य की स्वतन्त्र प्रवृत्ति कैसे संभव है क्योंकि मृत्तिकादि रथादि में स्वतंत्र प्रवृत्ति नही देखी. जा सकती हैं। मृत्तिकादि तथा रथादि तो चेतन कुलाल आदि तथा अश्वादि से अधिष्ठित होकर ही विशिष्ट कार्य के संपादन में प्रवृत्त होता है। अतः प्रवृत्ति की अनुपपत्ति रूप कारण से भी अचेतन प्रकृति जगत् का कारण संभव नही है।[18] इस प्रकार शंकर सिद्ध करते हैं कि सर्वज्ञ ब्रह्म को कारण मानने पर प्रवृत्ति संभव है, किन्तु अचेतन प्रकृति को कारण मानने में नही। शंकर कहते हैं कि सांख्य के इन दृष्टांतो के आधार पर कि जिस प्रकार दूध बछड़े के पोषण के लिये स्वयं प्रवृत्त होता है और जल स्वयं बहता है, उसीप्रकार अचेतन प्रकृति भी स्वयं प्रवृत्त होता है तो भी प्रकृतिकारणवाद को निर्दोष सिद्ध नही किया जा सकता है क्योंकि चेतन द्वारा अधिष्ठित होने से ही दूध और जल की प्रवत्ति होती है। चेतन गौ स्नेह-इच्छा से ही दूध का प्रवर्तक होती है और जल भी अदृश्य सत्ता द्वारा गतिमान होता है।शास्त्र भी कहता है कि 'योऽप्सु तिष्ठन् योऽपोऽन्तरो यमयति' (वृ0उप0 3,7,4) तथा 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी प्राच्यो अन्या नद्य: स्पन्दने' (वृ0उप0 3,8,9,) अर्थात् 'जो जल में रहता हुआ, जल के भीतर रहकर, उसका नियमन करता है' तथा 'हे गार्गी! इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियां श्वेत-पर्वतों में रहती है' अतः जल भी ईश्वर से अधिष्ठित होकर ही नियमन करता है।[19] इस प्रकार सांख्य प्रकृतिकारणवाद की स्थापना लौकिक दृष्टान्तों के आधार पर भी पुष्ट नही कर पाता है। शंकर सांख्य के खण्डन में युक्ति एवं श्रुति दोनों का प्रयोग

करते हैं। दूध के स्वत: प्रवर्तक होने का सांख्य के दावे का खंडन युक्ति के द्वारा किया गया है और जल के स्वत: प्रर्वतक होने का निराकरण श्रुति के आधार पर किया गया है ।

सांख्य अन्त में पुरूष-सान्निध्य को स्वीकार करता है। अचेतन प्रकृति में स्वत: और स्वतन्त्र रूप से तबतक प्रवृत्ति संभव नही है जबतक उसे चेतन पुरूष का सान्निध्य प्राप्त नहीं होता । सांख्य के अनुसार, जैसे दृक्शक्ति सम्पन्न किन्तु प्रवृत्तिगमन शक्तिरहित कोई पंगु पुरूष प्रवृत्तिशक्तिसम्पन्न किन्तु दिकशक्ति विहीन अंध-पुरूष को कंधे पर बैठाकर प्रवृत्त करता है अथवा जैसे अयस्कान्तमणि स्वयं अप्रवृत्ति होती हुई भी लोहे को प्रवृत्ति करती है, वैसे ही पुरूष अचेतन प्रधान को प्रवृत्त करता है। आचार्य शंकर इसका खंडन करते हुये कहते हैं कि पुरूष निष्क्रिय और प्रकृति जड़ है; तथा दोनों स्वतन्त्र हैं अत: दोनो में किसी तरह का सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता है । इस दृष्टान्त मे भी पंगु और अंध दोनों ही चेतन तथा सक्रिय प्राणी है तथा पंगु पुरूष अंध-पुरूष को वाणी से प्रवृत्त करता है और इसप्रकार का कोई प्रवृत्तिजनक व्यापार नही है क्योंकि वह निष्क्रिय और निर्गुण है तथा अयस्कान्तमणि का भी दृष्टांत उपयुक्त नही है क्योंकि यदि पुरुष सन्निधि मात्र ही प्रकृति को प्रवृत्त करती है, तो पुरूष के सर्वदा प्रकृति के समीप रहने के कारण प्रकृति को निरन्तर गतिशील रहना पड़ेगा तब प्रकृति की सहज साम्यावस्था असिद्ध हो जायेगी। सृष्टि का आदि और अन्त भी असिद्ध होगा तथा पुरुष का मोक्ष भी असंभव हो जायेगा क्योंकि प्रकृति का परिणाम कभी समाप्त नही होगा अयस्कान्त मणि को भी लोह-खंड के सम्मुख सीधा और निश्चित दूरी में रखना होता है। इसके लिये तीसरे चेतन व्यक्ति की

अवश्यकता होती है । उसी प्रकार प्रधान को अचेतन तथा पुरूष को उदासीन होने के कारण दोनों का सम्बन्ध कराने के लिये तीसरी सत्ता की आवश्यकता होगी और फिर तीसरी के लिये चौथी, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा ।[20]

इस प्रकार शंकर सांख्य के प्रकृतिकारणवाद का निराकरण करते हैं। प्रकृति को जगत् का कारण नही माना जा सकता है। कारण तो सर्वज्ञ, सर्वविद्य, साक्षी और चेतन ब्रह्म ही हो सकता है। प्रकृतिपरिणामवाद के विरूद्ध ब्रह्म विवर्तवाद ही जगत् की व्याख्या करने में समर्थ है ।

सांख्य के पुरुष-बहुत्व मत का खंडन :

आचार्य शंकर सांख्य से सहमत हैं कि पुरुष साक्षी, द्रष्टा तथा अकर्ता है, परन्तु वे इससे असहमत हैं कि पुरुष अनेक हैं । अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद सांख्य के पुरूष-बहुत्व का खंडन करता है। शंकर कहते हैं कि जब सभी पुरूषों का सारतत्व एक और समान है तो वे अनेक कैसे होंगे? शंकर कहते हैं कि अनेक आत्माओं का सर्वगत होना युक्त नही है, क्योंकि इसमें दृष्टान्त नही है।[21] सांख्य के पुरूष-बहुत्व में कोई युक्ति नही है। दु:ख, सुख के भेद के आधार पर आत्मा में भेद कतिपय नही किया जा सकता है। दु:ख-सुख तो प्रकृति के गुण हैं। फिर दु:ख-सुख के आधार पर पुरूष में भेद कैसे किया जाता है ?

शंकर कहते हैं कि सांख्य में यह दोष परमार्थ एवं व्यवहार में भेद न करने के कारण उत्पन्न हुआ है । सांख्यकारिका में पुरुष की प्रधान के तीनों गुणों में परे तथा केवल अगुण, विवेकी चेतन कहा गया है और इस प्रकार उसे मात्र साक्षी, मध्यस्थ, द्रष्ट तथा अकर्ता कहा गया है ।[22] यह पुरुष का परमार्थ या अतीन्द्रिय स्वरूप है। दूसरी तरफ पुरुष को जन्म, मृत्यु तथा इन्द्रियों की वैभिन्यता के कारण अनेक मानलिया गया है, यही पुरुष का व्यवहार पक्ष है। इस तरह

सांख्य दर्शन में दोष उत्पन्न होता है जिसको समुचित रूप से सिद्ध नही किया जा सकता है। वह इन दो पक्षों का ठीक से समन्वय नही कर पाता और संशय में पड़कर पुरूष-बहुत्व की सिद्धि करता है।

एकतरफ सांख्य पुरूष को अकर्ता घोषित करता है, परन्तु दूसरी तरफ उसे भोक्ता मान बैठता है । इस तरह सांख्य कर्म-सिद्धान्त का उल्लंघन करता है। कार्य तो प्रकृति करती है और फल पुरुष भोगता है। शंकर कहते हैं कि पुरुष व्यावहारिक स्तर पर ही कर्ता और भोक्ता है, परन्तु परमार्थ स्तर पर वह न भोक्ता है और न कर्ता ही है। शंकर कहते हैं कि "बंध-मोक्षादि शास्त्र के व्यवहार के लिए ही आत्मा का अविद्याकृत नाम-रूप-उपाधिमूलक विशेष माना गया है, परमार्थतः तो अनुपाधिकृत एक अद्वितीय तत्व ही मानना चाहिए जो सम्पूर्ण तार्किकों के बुद्धि का अविषय, अभय और शिवस्वरूप है। उसमें कर्तव्य, भोक्तृत्व अथवा क्रियाकारक या फल कुछ भी नही है क्योंकि सभी भाव अद्वैत रूप है।"[23] इस तरह आत्म-बहुत्व सिद्धान्त में ही बहुत-सी असंगतियाँ हैं, आत्मा के एकत्व पक्ष में सभी दोषों का अभाव है ।[24]

इस तरह शंकर सांख्य दर्शन में अनेक दोषों को युक्तिपूर्वक दिखाकर अद्वैतवाद की स्थापना, सत्कार्यवाद का खंडन करके विवर्तवाद की स्थापना, प्रकृति-कारणवाद के बजाय ब्रह्म-विवर्तवाद की पुष्टि तथा अनेक पुरूषों एवं पुरूष-प्रकृति द्वैत के स्थान तत्व सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा करते हैं ।

न्याय-वैशेषिक दर्शन की समीक्षा :

शंकर सांख्य और योग-दर्शन की समीक्षा को अत्यधिक महत्व नही देते हैं। न्याय के प्रमाण-मीमांसा को शंकर अपने दर्शन में भी स्थान देते हैं तथा योग के अष्टांग-मार्ग को भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार शंकर इनके ज्ञान के साधनों

को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनके तत्व-मीमांसा का खंडन करते हैं। शंकर का मानना है कि सांख्य-दर्शन ही प्रधान-मल्ल है जिसके खंडन के उपरान्त सभी मतों का खंडन हो जाता है ।[25] योग के खंडन के लिए शंकर कहते हैं कि 'सांख्य मत के निराकरण से योग मत का निराकरण हुआ समझना चाहिए।'[26] परन्तु सांख्य-दर्शन के निराकरण के बाद भी शंकर अन्य विपरीत दर्शनों का खंडन 'तर्कपाद' में करते हैं।

असत्कार्यवाद या आरम्भवाद का खंडन :

असत्कार्यवाद या आरम्भवाद न्याय-वैशेषिकों का मुख्य सिद्धान्त है। असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में निहित नही है तथा कार्य का कारण से एक नयी उत्पत्ति है। इसका अर्थ है कि कार्योत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का अभाव है। कार्य का लक्षण ही है - कार्य **प्रागभावप्रतियोगि** (तर्क-संग्रह-18)। अर्थात् कार्य वह है जो प्रागभाव का प्रतियोगी हो । प्रागभाव का नियम है कि वह सर्वदा कार्योत्पत्ति के पूर्व कारण में ही रहता है । अतः इससे कार्य का लक्षण स्पष्ट निकलता है जो नियम से कारण सामग्री के उत्तरकाल में उत्पन्न हो वह कार्य है ।

न्याय-वैशेषिक कार्य कारण से एक नयी उत्पत्ति मानते हैं । वे तर्क करते हैं कि यदि वस्त्र (कार्य) धागे (कारण) में पूर्वनिहित है तो हम धागे से ही वस्त्र का कार्य क्यों नही करते हैं? शंकर इसके उत्तर में कहते हैं कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व अनुभवगम्य नही है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति के पूर्व अभिव्यक्ति नही है और उपादान कारण की अभिव्यक्ति ही कार्य का लिंग है । इस प्रकार कार्य की उत्पत्ति के पूर्व अनुभवगम्य न होना उसकी कारण में अन्तर्निहित सत्ता के कारण है न कि असत् होने के कारण । शंकर न्याय-वैशेषिक के विरुद्ध यह मानते हैं

कि यदि कार्य को असत् माना जाय तो शशश्रृंग और बन्ध्यापुत्र के समान तुच्छ होना चाहिए और तब उसकी उत्पत्ति असंभव हो जायेगी ।

न्याय-वैशेषिक कहते हैं कि यदि कारण और कार्य एक ही हैं तो हम उन्हें दो विभिन्न नामों से क्यों पुकारते हैं और दोनों से एक ही तात्पर्य की सिद्धि क्यों नही करते हैं ? शंकर कारण और कार्य में भेद को स्वीकार करते हैं, परन्तु यह भेद आभास मात्र ही है । शंकर न्याय के विपरीत यह स्वीकार करते हैं कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में विद्यमान है. उसकी नयी उत्पत्ति नही होती।

असत्कार्यवादी कहते हैं कि यदि आकार का भेद स्वीकार किया जाता है तो सत्कार्यवाद सिद्धान्त का खंडन होता है, परन्तु शंकर कहते हैं कि वह केवल सांख्य और रामानुज के सत्कार्यवाद के लिए लागू होता है विवर्तवाद के लिए नही क्योंकि शंकर आकार को भी यथार्थ परिणति नही मानते हैं वे तो इसे विवर्तमात्र मानते हैं। आकार का द्रव्य से भेद नही है अपितु आकार द्रव्य पर निर्भर रहता है। 'देवदत्त बैठा हो या खड़ा हो' वह देवदत्त ही है ।

शंकर कारण और कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध निर्धारित नही किया जा सकता है । यह सम्बन्ध न तो संयोग का ही है और न समवाय का क्योंकि कारण-कार्य से सम्बन्धित होने के लिए इस समवाय को अन्य समवाय की अपेक्षा होगी और इस दूसरे समवाय को तीसरे समवाय की, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा ।[27] समवाय स्वयं असिद्ध होगा, क्योंकि कारण और कार्य में सम्बन्ध के अभाव में समवाय का आधार क्या होगा ?

पुनः न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद के आधार पर कारण और कार्य का परस्पर कोई भी सम्बन्ध निश्चित नही हो सकता है क्योंकि शंकर कहते हैं कि

"दो सत् पदार्थो का ही सम्बन्ध संभव है, सत् और असत् अथवा दोनों असत् का सम्बन्ध संभव नही है । अभाव के असत् तुच्छ होने से उसमें "उत्पत्ति के पूर्व" ऐसी मर्यादा करना युक्त नही है, क्योंकि लोक में सत् क्षेत्र, गृह आदि पदार्थो की (उत्पत्ति के पूर्व या अनन्तर) मर्यादा देखी जाती है, किन्तु अभाव की नहीं।[28]

शंकराचार्य कारण और कार्य में अभिन्न सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। कारण और कार्य में कदापि और कथमपि भेद नही स्वीकार किया जा सकता है। उत्पत्ति के पूर्व और पश्चात् कभी भी कार्य की अनपेक्ष सत्ता नही हो सकती। इसका मतलब यह नही है कि कार्य-कारण रूप से विद्यमान नही रहता। कार्य सत् है, किन्तु कारण रूप में नहीं। दूसरे शब्दों में, कार्य की कारण से भिन्न कोंई सत्ता नही है। कारण ही सत् है। कार्य उसका आभास मात्र है। कोई भी कार्य जो उत्पत्ति के पूर्व कारण में असत् है उसकी उत्पत्ति संभव नही है । कोई भी कार्य कारण से भिन्न नहीं हो सकता है।[29]

इस प्रकार शंकर का विवर्तवाद सांख्य के सत्कार्यवाद तथा न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद का तार्किक निष्कर्ष है । सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों स्वीकार करते हैं कि 'कारण कार्य में परिवर्तित होता है', परन्तु आचार्य शंकर परिवर्तन को व्यावहारिक स्तर पर ही बैध स्वीकार करते हैं । कान्ट के शब्दों में परिवर्तन तो बुद्धि का विकल्प है वह व्यवहार तक सीमित है । इसका परमार्थ का ज्ञान करना मात्र आभास है । परमार्थ के ज्ञान में बुद्धि तमाम दोषों एवं असंगतियों का शिकार हो जाती है । परिवर्तन तो व्यवहार में ही उपयुक्त है । परमार्थ स्तर पर यह वैध नही है । यही शंकर का विवर्तवाद है जो सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद के निराकरण के उपरान्त सिद्ध हुआ है ।

परमाणु-कारणवाद का खंडन :

न्याय-वैशेषिक का मत है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार परमाणु हैं, जो अमूर्त, नित्य, स्थिर और अचेतन हैं । जीवों के अदृष्ट (धर्माधर्म कार्य) से प्रेरित होकर ईश्वर परमाणुओं में गति का संचार करते हैं । गतिशील होकर दो परमाणु मिलकर एक 'द्वयणुक' बन जाते हैं । तीन द्वयणुक मिलकर एक 'त्रयणुक' बनाते हैं । चार 'द्वयणुक' एक 'चतुरणुक' बनाते हैं । इसी प्रकार इस क्रम से जगत् के स्थूल पदार्थों की सृष्टि होती है । परमाणु जगत् के कारण हैं।

शंकराचार्य परमाणु-कारणवाद का खंडन करते हुए कहते हैं कि कारण अपने सभी गुणों को कार्य मे प्रगट करता है यह आवश्यक नही है । न्याय-वैशेषिक भी अत्यन्त सूक्ष्म और परिमण्डल परमाणु से अणु और द्वयणुक को उत्पन्न हुआ स्वीकार करते हैं तथा अणु और द्वयणुक महत् और दीर्घत्रयणुक को उत्पन्न करता है। अतः न्याय-वैशेषिक के ही मत से यह सिद्ध है कि चेतन ब्रह्म जगत् का कारण हो सकता है। चेतन से अचेतन की उत्पत्ति में आपत्ति की कोई जगह नही है।[30]

परमाणु-कारणवाद के खंडन में शंकर उसी युक्ति का प्रयोग करते हैं जिसका प्रयोग सांख्य-खंडन में किया है । सांख्य का प्रधान अचेतन होने के कारण जगत की रचना में प्रवृत्त नही हो सकता । वैशेषिक के परमाणु भी अचेतन होने के कारण जगत की रचना नही कर सकते हैं । हम लौकिक जीवन में अनुभव करते हैं कि कोई कार्य बिना प्रवृत्ति के संभव नही है । चेतनता के अभाव में प्रवृत्ति भी असंभव है। अतः अचेतन पदार्थ में गति लाने के हेतु चेतन जीव द्वारा निर्देश मिलना चाहिए। परमाणु भी प्रलय की स्थिति में एकदम तितर-बितर रहते हैं। जगत् की उत्पत्ति में उन्हें संयुक्त होने की आवश्यकता है।

संयुक्त होने में प्रवृत्ति की आवश्यकता है जिसका कि उनमें अभाव है। अत: परमाणु जगत् का कारण होने में अनुपपन्न है।

वैशेषिक के मत में विभागावस्था में स्थित परमाणुओं का संयोग कर्म की अपेक्षा से स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि कर्मयुक्त तन्तु आदि का संयोग अनुभव में मिलता है । परन्तु कर्म कार्य है । शंकर कहते है कि कर्म का कोई निमित्त कारण होना चाहिए । निमित्त के अभाव में तो परमाणुओं में आद्य कर्म नही होगा, उस अवस्था में आत्मा के गुण-प्रयत्न का भी अभाव है, क्योंकि उस समय शरीर ही नही है । शरीर स्थित हुए मन के साथ आत्मा का संयोग होने पर आत्मा का गुण-प्रयत्न उत्पन्न होता है । अट्टष्ट भी कर्म का निमित्त नही है क्योंकि वह अचेतन है । इस प्रकार परमाणुओं में संयोग के अभाव होने से सृष्टि संभव नहीं है, अत: परमाणु-कारणवाद अनुपपन्न है ।[31]

वैशेषिक परमाणुओं में समवाय सम्बन्ध की स्थापना करते हैं । यहां समवाय को नित्य सम्बन्ध माना गया है । समवाय ही द्वैत-जैसे अंश-अंशी में, गुण और द्रव्य में, सामान्य और विशेष में, विषय और विषयी में सम्बन्ध स्थापित करता है। शंकराचार्य समवाय सम्बन्ध का खंडन करते हैं । समवाय जिन दो वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करता है, उनसे तो भिन्न है । पुन: समवाय को इन दो समवेत् वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक तीसरे समवाय की आवश्यकता होगी, लेकिन इस प्रकार अनवस्था दोष होगा । इस प्रकार आचार्य शंकर सभी प्रकार के संयोग (सम्बन्ध) का खंडन करते हैं ।[32] अत: परमाणुओं में समवाय सम्बन्ध की असिद्धि होने से, दो परमाणुओं से द्वयणुक आदि की उत्पत्ति असंभव सिद्ध होती है। इस प्रकार परमाणुकारणवाद का निराकरण किया गया ।

शंकर पुनश्च तर्क करते हैं कि परमाणु प्रवृत्ति-स्वभाव वाले या निवृत्ति स्वभाव वाले अथवा उभय स्वभाववाले या अनुभय-स्वभाववाले माने जाते हैं क्योंकि इन चार प्रकार के अतिरिक्त कोई गति नही है । अब परमाणुओं क प्रवृत्ति स्वभाव का होने पर नित्य ही प्रवृत्ति होने से प्रलय का अभाव प्रसंग उपस्थित होगा। निवृत्ति-स्वभाव होने पर भी नित्य की निवृत्ति होने से सृष्टि का अभाव प्रसंग उपस्थित होगा । प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों स्वभाव होने पर प्रकाश और अंधकार के समान परस्पर विरूद्ध होने के कारण असंगति है । यदि परमाणु स्वभावतः न प्रवृत्ति स्वभाववाले हैं न निवृत्ति-स्वभाववाले, तो उनमें गति या परिस्पन्द बाहर से आने चाहिए । अब यह बाह्य कारण क्या दृष्ट है या अदृष्ट? यदि दृष्ट है तो असंभव है क्योंकि सृष्टि के पूर्व दृष्ट पदार्थ की कल्पना असंभव है । यदि अदृष्ट है तो यह परमाणु के समीप है या दूर? यदि समीप है तो प्रलय का अभाव प्रसंग होगा, यदि, दूर है तो सृष्टि का अभाव प्रसंग होगा। अतः इन सभी दोषों से यह सिद्ध है कि परमाणु जगत् के कारण नही हो सकते।[33]

न्याय-वैशेषिक के पदार्थ का खंडन :

न्याय-वैशेषिक अपने दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नाम के छ. पदार्थो की सत्ता स्वीकार करते है ।[34] ये पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न लक्षण वाले हैं। जैसे मनुष्य, अश्व और शशक में भिन्नता है वैसे इन पदार्थो में भी है। परन्तु, वैशेषिक गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय को द्रव्य के आश्रित स्वीकार करते हैं।[35] शंकर कहते हैं कि यह असंगत है ।या तो सभी पदार्थ पूर्णतः भिन्न होकर द्रव्य पर निर्भर नही रह सकते हैं या द्रव्य पर निर्भर रहकर वे उससे पूर्णतः भिन्न नही हो सकते हैं। शंकर कहते हैं कि जैसे व्यवहार में शशक, कुश, पलाश आदि अत्यन्त भिन्न होते हुये एक-दूसरे के

अधीन नही होतें है वैसे ही द्रव्य आदि पदार्थो के अत्यन्त भिन्न होने से गुण आदि द्रव्य के अधीन नही हो सकते है।[36] यदि द्रव्य के अतिरिक्त मारे पदार्थ द्रव्य से तादात्म्य रूप से जुड़ है तो वे द्रव्य के विभिन्न स्वरूप हो सकते हैं वे द्रव्य से भिन्न नही हो सकते है; परन्तु वैशेषिक इन दोनों बातो को नही स्वीकार करता है । इस तरह वह दोषों में फंस जाता है।

शंकर कहते है कि यदि गुण आदि पदार्थ द्रव्य के अधीन होते हैं, तो द्रव्य के भाव में भाव तथा द्रव्य के अभाव में अभाव होना चाहिए। इस प्रकार द्रव्य ही अनेक प्रत्यय और शब्द का भागी होता है। जैसे देवदत्त एक पुरुष होता हुआ भी अन्य अवस्था के सम्बन्धों के अनुसार वह पुत्र, पिता, बुद्धिजीवी, देशप्रेमी आदि शब्दों एवं ·प्रत्ययों का भागी होता है।

उपरोक्त दोषों के निवारण हेतु वैशेषिक यह मानते है कि द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध हैं। दोनों समवाय सम्बन्ध से जुड़े रहते हैं; किन्तु यह ठीक नही है। प्रश्न उठता है कि यह समवाय सम्बन्ध दिगाश्रित है, कालाश्रित है या स्वयं-सिद्ध है? यदि दिगाश्रित है तो वैशेषिक सिद्धान्त कि 'द्रव्य द्रव्यो को और गुण गुणों को उत्पन्न करते हैं' मिथ्या हो जायेगा। यदि कलाश्रित है तो गोश्रृंगों को भी अयुतसिद्ध मानना पड़ेगा। यदि स्वयंसिद्ध है तो द्रव्य और गुण का अन्तर असिद्ध हो जायेगा।[37]

शंकर समवाय सम्बन्ध को कोरी कल्पना मानते है। वैशेषिक समवाय सम्बन्ध को गुण मानते हैं। समवाय को नित्य और अयुतसिद्ध सम्बन्ध माना गया है जों अंश और अंशी को, द्रव्य और गुण को सामान्य और विशेष को सम्बन्धित करता है। जेनो और ब्रेडले के समान शंकराचार्य समवाय सम्वन्ध में

अनवस्था दोष प्रदर्शित करते हैं। वैशेषिक की संयोग और समवाय की भेद-कल्पना असत् है। एक ही वस्तु सम्बन्ध भेद से अनेक रूप से कही जाती है।

शंकर वैशेषिक के 'कर्म' पदार्थ का भी खंडन करते हैं। कर्म असंभव है और उसके साथ सृष्टि भी। कर्म न तो परमाणुओं में संभव है और न आत्माओं में। कर्म का कोई आधार नही है। कर्म के अभाव में अदृष्ट परमाणुओं में गति का संचार नही कर सकता है। परमाणुओं में गति के अभाव में सृष्टि असंभव है।[38] वैशेषिक दर्शन असंगतियो से घिर जाता है ।

सामान्य का खंडन करते हुए शंकर कहते हैं कि सामान्य या जाति वस्तुतः कोरीकल्पना है। 'मनुष्यत्व' कोई पदार्थ नही है। हम 'मनुष्य' को तो देखते हैं परन्तु 'मनुष्यत्व' को नही देखते। यदि 'मनुष्यत्व' 'मनुष्य' के समस्त अवयवों में व्याप्त रहता है तो उसे आंख बन्द करके कान से देखना चाहिए।[39]

इस प्रकार आचार्य शंकर यह सिद्ध करते हैं कि वैशेषिक के सारे पदार्थ महज कल्पना-प्रसूत हैं। इनका न तो कोई तात्विक या तार्किक आधार ही है। एक तरफ सारे पदार्थ परस्पर भिन्न है तो दूसरी तरफ अन्य सभी द्रव्य पर निर्भर है। ऐसा विरोधी वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित है। शंकर कहते हैं कि यदि पदार्थ कल्पना- प्रसूत ही है तो छः के अतिरिक्त एक हजार पदार्थो की कल्पना कर सकते हैं।[40]

वैशेषिक के आत्म-सिद्धान्त का खंडन :

न्याय-वैशेषिक आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य मानते है।[41] तर्क-संग्रह में आत्मा का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है- 'ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न आदि गुणों को जो आश्रयभूत द्रव्य है वही आत्मा है।[42] इसी ज्ञान गुण को 'चेतना-शक्ति भी कहा

गया है। 'चेतना-शक्ति' का आधार भूत द्रव्य आत्मा है। यह नित्य हैं।[43] चेतना या ज्ञान आत्मा का गुण है स्वरूप नहीं।

शंकर उपरोक्त मत का खंडन करते हैं। शंकर इसे श्रुति विरोधी स्वीकार करते हैं जबकि श्रुतियां आत्मा को अनन्त-ज्ञान स्वरूप स्वीकार करती हैं, वैशेषिक चेतना को सहयोग से उत्पन्न गुण मानता है। सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही औपाधिक रूप से जीव के स्वरूप को धारण करता है। श्रुति इसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' स्वीकार करती है।[44] आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः अग्नि की उष्णता के समान नित्य विज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही आत्मा का स्वरूप है ।

वैशेषिक जब आत्मा का मन आदि से एकता स्थापित करता है तो वह श्रुति, स्मृति और तर्क तीनों का उल्लघंन करता है क्योंकि 'आत्मा सभी सम्बन्धों से परे होने के कारण किसी भी सम्बन्ध का विषय नही हो सकता ।[45] गीता भी कहती है कि 'सभी सम्बन्धों से अतीत वह ईश्वर सबका भरण-पोषण करता है।'[46] युक्ति से भी जो वस्तु सगुण होती है उसी का गुणवान से संसर्ग होता है, विजातीय वस्तुओ का संयोग कभी नही होता है। अतः निर्गुण-निर्विशेष और सबसे विलक्षण आत्मा का किसी भी विजातीय वतु से संयोग होता है - ऐसा कहना युक्ति विरूद्ध है।[47] अतः आत्मा नित्य अविनाशी ज्ञानसवरूप प्रकाशमय ब्रह्म है।

(ग) बौद्ध-दर्शन की समीक्षा :

वैशेषिक-मत के निराकरण के पश्चात् शंकर बौद्ध-मत की तार्किक-समीक्षा करते हैं। परन्तु प्रश्न हैं कि वैशेषिक-मत की समीक्षा के तुरन्त बाद ही बौद्ध दर्शन की समीक्षा क्यों की गयी है? आचार्य शंकर ब्रह्म-सूत्र के तर्कपाद प्रकरण के 2,2,18 सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि चूंकि वैशेषिक और बौद्ध-दर्शन में बहुत कुछ समानतायें हैं। वैशेषिक अर्ध-वैनाशिक है, क्योंकि इसके

मत में जहां यह तत्व नित्य है तो अनेक तत्व अनित्य है।[48] बौद्ध-दर्शन तो सर्व-वैनाशिक है, इनके अनुसार सब अनित्य हैं। यही कारण है कि अर्ध-वैनाशिक के निराकरण-पूर्वक सर्व-वैनाशिक का निराकरण कहा गया है।[49] साथ ही साथ इसका तात्पर्य यह भी है कि जब वैशेषिक मत अर्ध-वैनाशिक होने से अनुपादेय है तो बौद्ध दर्शन जो सर्व-वैनाशिक है अत्यन्त ही अनुपादेय समझना चाहिए।

बौद्ध-दर्शन प्रतिपत्ति भेद अथवा शिष्यों के भेद से तीन प्रकार का है - (1) सर्वास्तित्ववादी (2) विज्ञानास्तित्वादी (3) सर्वशून्यास्तित्ववादी।

सर्वास्तितवाद को हीनयान भी कहा जाता है। यह दो मतों में विभक्त है, वैभाषिक मत और सौत्रान्तिक मत। उनमें से बुद्ध के वचनों के अनुसार उसके विवरण-भूत विभाषा-शास्त्र जिसे अभिधर्म-विभाषा कहा गया है- उसे प्रमाण रुप से मानने वाले वैभाषिक हैं। सूत्रपर्यन्त जो बुद्ध के वचन हैं जिनका पाली भाषा में 'सूतान्त' नाम है- उसे प्रमाण रुप से माननेवाले सौत्रांतिक हैं। 'विज्ञान ही सत् हैं'- ऐसा माननेवाले (विज्ञानवादी) हैं। 'सब शून्य हैं' -ऐसे मतावलम्बी सर्वशून्यास्तित्ववादी कहलाये।

सर्वास्तित्ववाद का निराकरण :

सर्वास्तित्ववाद के अनुसार सभी बाह्य और आन्तर वस्तुयें सत् हैं। बाह्य वस्तुएं या तो भूत है या भौतिक। उसी तरह आन्तरिक वस्तुयें या तो चित्त हैं या चैत्त (मानसिक)।उनमें भूत पृथ्वी-धातु आदि हैं तथा भौतिक रुप चक्षु आदि हैं। भूत चार प्रकार के हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन भूतों के परिमाण क्रमशः कठिन, स्नेह, उष्ण और चलन स्वभाववाले हैं। इस प्रकार यह बाह्य समुदाय है। उसी प्रकार रुप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार के पांच आन्तर समुदाय है जिन्हें 'पंचस्कन्ध' भी कहा जाता है। सर्वास्तित्ववादी बाह्य-जगत् को

क्षणिक परमाणुओं का संघात मात्र मानते हैं और आन्तरिक जगत् को क्षणिक विज्ञानों का संतान मात्र मानते हैं। इस प्रकार सर्वास्तित्ववादी वस्तुवादी हैं।

आचार्य शंकर सर्वास्तित्ववाद के बाह्य और आन्तरिक दोनों समुदाय - जो 'संघात' और 'सन्तान' कहे जाते हैं, का खण्डन करते हैं। शंकर कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में परमाणुओं तथा स्कन्धों का समुदाय स्वत: नहीं हो सकता क्योंकि वे अचेतन हैं। विज्ञान भी समदाय का हेतु नही है क्योंकि देहाकार संघात होने पर विज्ञान होता है। परन्तु बिना विज्ञान के देहाकार संघात हो ही नहीं सकता। अत: इनमें अन्योन्याश्रय दोष है। बौद्ध क्षणिक विज्ञान से भिन्न किसी संघातकर्ता, स्थिरभोक्ता, चेतन जीव अथवा ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं। फलस्वरुप वे न तो जड़ और क्षणिक परमाणु और न क्षणिक विज्ञान संघात होने में प्रवृत्त हो सकते हैं। यदि यह मानलिया जाय कि अन्य नियामक के अभाव में भी अणु और स्कन्ध स्वयं ही संघात करने के लिए प्रवृत्त होते हैं तो दोष यह होगा कि संतति प्रवृत्ति होने से प्रलय अथवा मोक्ष के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि विज्ञान को संतान संघातकर्ता स्वीकार कर लिया जाय तो वह सन्तानों से भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि भिन्न है तो क्या वह स्थिर है अथवा क्षणिक? यदि स्थिर है तो विज्ञान नाम से वह अद्वैत का आत्मा ही होगा। यदि क्षणिक है तो उसमें किसी उत्पत्ति का हेतु भूत व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणिक विज्ञान को समुदाय बनाने के लिए प्रथम क्षण में स्वयं उत्पन्न होना पड़ेगा और द्वितीय क्षण में समुदाय रुप में बदल जाना पड़ेगा। परन्तु ऐसा होने में कम-से-कम दो क्षण तो लगेंगे ही जिससे क्षणिकवाद का उलंघन होगा। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ की संघातकर्ता के अभाव में समुदाय संभव नहीं है। अत: सृष्टि और प्रलय संभव नहीं हैं।[50]

सर्वास्तित्ववादी कहते हैं कि यद्यपि भोक्ता अथवा प्रशासिता संघात्तकर्ता कोई स्थिर चेतन तत्व स्वीकार नहीं किया गया है, परन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा अविद्या आदि परस्पर कारण होने से सृष्टि संभव है। शंकर कहते हैं कि यह भी युक्त नहीं है। समुदाय बनाने में प्रतीत्यसमुत्पाद भी असहायक ही है क्योंकि प्रतीतयसमुत्पाद चक्र में प्रत्येक पूर्व अंग कंवल अपर अंग का ही कारण है, सम्पूर्ण चक्र का नहीं। जैसे अविद्या से संस्कार उत्पन्न होता है, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम आदि। दूसरी तरफ अविद्या आदि संघात को उत्पन्न करते हैं और संघात अविद्या को उत्पन्न करता है। ऐसा करने से तो अन्योन्याश्रय दोष भी स्पष्ट है।[51]

जब सर्वास्तित्ववादी कहते हैं कि 'सब सत् है' तो इसका तात्पर्य है कि वस्तुएँ भूत वर्तमान और भविष्य सभी कालों में सत् हैं और इनका भूत और भविष्य परिणाम भी सत् होगें। इसीलिए यह मत सर्वास्तित्ववाद के नाम से प्रचलित हुआ।[52] इस तरह सर्वास्तित्ववाद का अर्थ है- किसी वस्तु के भूत, वर्तमान और भविष्य की सत्ता का सिद्धान्त। शंकराचार्य ने न केवल सर्वास्तित्वाद से वैभाषिक का अर्थ लिया है अपितु सौत्रान्तिक का भी। अगर हम उपरोक्त अर्थ को ले तो सौत्रांतिक को इस मत से अलग रखना होगा क्योंकि सौत्रान्तिक वस्तु के भूत और भविष्य की सत्यता को अस्वीकार करते हैं। वे केवल वर्तमान की सत्यता को ही ग्रहीत करते हैं।[53] इस प्रकार बौद्ध साहित्य में प्राप्त अर्थ को न ग्रहण करके उसके [illegible] अर्थ को ही ग्रहण किया गया है जिससे वैभाषिक और सौत्रांत्रिक दोनों मत उसके अन्तर्गत रखें जा सकें।[54]

क्षणभंगवाद तथा प्रतीत्यसमुत्पाद का खंडन :

बौद्ध मत में यह स्वीकार किया गया है कि उत्पद्‌यमान उत्तर क्षण में पूर्व क्षण का नाश होता है, तथा पूर्वक्षण उत्तरक्षण का कारण होता है। शंकराचार्य इसका खंडन करते हैं। इनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र में पूर्व अंग को अपर

अंग का कारण नहीं माना जा सकता है क्योंकि क्षणभंगवाद के अनुसार अपर अंग की उत्पत्ति के समय पूर्व अंग विनष्ट हो जाता है। यदि यह अभिप्राय है कि पूर्व अंग परिनिष्पन्न अर्थात् भावरुप होने पर ही समर्थ होने के कारण अपर अंग का कारण बनता है तो भी उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि भावरुप में पुनः व्यापार की कल्पना करने पर अन्य क्षण के साथ सम्बन्ध प्रसंग होगा और तब क्षणभंगवाद निरस्त हो जायेगा। यदि पूर्व अंग की स्थिति मात्र को ही कारण सामर्थ्य माना जाय (भावएवास्य व्यापारः) अर्थात् कारण की सत्ता मात्र को ही उत्पाद शक्ति-रुप (सत्तैवव्यावृत्तिः) माना जाय तो भी क्षणभंगवाद असिद्ध ही होता है क्योंकि कारण के स्वरुप के साथ सम्बद्ध (तादात्म्यापन्न) हुये बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता और यह स्वीकार करना कि कारण स्वभावतः से कार्य में विद्यमान रहता है, तो क्षणिकवाद को अस्वीकार कर देना है।

अब कार्य की उत्पत्ति निहेतुक है अथवा सहेतुक? यदि हेतुरहित है तो प्रतिज्ञा की हानि होती है, क्योंकि बौद्ध-मत में आलम्बन प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, सहकारि प्रत्यय और समानान्तर-प्रत्यय ये चार हेतु प्रशित हैं और यदि सहेतुक है तो कारण के क्षण-क्षण बदलने से इनकी सत्ता असंभव है। तब ये हेतु नहीं बन सकते हैं।

पुनश्च, क्या उत्पन्न होना और विनष्ट होना वस्तु का स्वरुप है, अथवा नहीं अथवा इनसे भिन्न है? यदि इन्हें वस्तु का स्वरुप मानलिया जाय तो वस्तु-स्वरुप होने से उत्पाद और विनाश एक-दूसरे के पर्याय बन जायेगें। यदि उत्पाद को आदि, वस्तु को मध्य और विनाश को अन्त माना जाय तो एक वस्तु का कम-से-कम आदि, मध्य और अन्त रुपी तीन क्षणों से सम्बन्ध मानना पड़ेगा और तब तीन क्षण तक स्थित रहनेवाली वस्तु क्षणिक नहीं कही जा सकती है। यदि उत्पाद और विनाश को अत्यन्त भिन्न माना जाय तो वस्तु को उत्पाद और

विनाश से भिन्न होने के कारण नित्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार क्षणभंगवाद का निराकरण होता है।[55]

शंकर क्षणभंगवाद का खण्डन स्मृति और प्रत्यभिज्ञा के आधार पर करते हैं। शंकर कहते हैं कि यदि सभी वस्तुयें क्षणिक हैं और प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण नयी बनती जा रही है तो यह पूछा जा सकता है कि स्मृति या प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? बौद्ध उत्तर देंगे कि प्रत्यक्षगम्य किन्हीं दो क्षणों में प्राप्त वस्तुओं की सादृश्यता को हम भूलकर मिथ्यापूर्वक तादात्म्य-सम्बन्धी मान बैठते हैं। परन्तु, शंकर का कथन है कि एकता की समानता सें भी काम चलनेवाला नहीं है क्योंकि समानता को भी ज्ञाता की आवश्यकता है। आत्मा के प्रतिक्षण बदलने से यह सादृश्य ज्ञान भी कौन करेगा? 'यह वही कलम है जिससे कल मैंने निबन्ध लिखा था' ऐसी स्मृति क्षणिक आत्मा को नहीं हो सकती। इस प्रकार क्षणभंगवादी का कहना कि एकता मिथ्या है, वह समानता या सादृश्यता के सिवाय कुछ नहीं है, अयथार्थ कल्पना है। शंकर कहते हैं कि यदि हम यह मान लें कि वास्तव में एकता का अर्थ सादृश्यता है तथा 'यह कलम वह नहीं है जिससे मैंने निबन्ध लिखा था, अपितु उसके सादृश्य है' तो भी क्षणिकवाद की सिद्धि संभव नहीं होती क्योंकि इस समानता के लिए भी एक ज्ञाता की आवश्यकता है जो दो वस्तुओं में समानता स्थापित करता है और कम-से-कम वह ज्ञाता नित्य होना ही चाहिए। डेकार्ट भी सभी वस्तुओं पर संदेह करता था, परन्तु संदेहकर्ता पर संदेह नहीं करता था। परन्तु ये क्षणभंगवादी प्रत्येक वस्तु और आत्मा को क्षण-क्षण परिवर्तनशील घोषित करते हैं। इस प्रकार इनका वर्णन असंगतियों से घिर जाता है।

शंकर कहते हैं कि यदि एक मनुष्य किन्हीं दो क्षणों में नहीं बना रहता तो कृतप्रणाश अकृत कर्मफलभोग का दोष होगा। वह प्रथम क्षण में जो कार्य करता

है उसका फल दूसरे क्षण में कोई दूसरा भोगता है। अतः 'कर्म कोई करे, फल कोई भोगे' यह दोष उत्पन्न होगा। इसप्रकार क्षणभंगवादी नैतिक-दायित्व को बिल्कुल ही भूल जाते हैं। क्षणभंगवाद के आधार पर बंधन और मोक्ष भी असंभव होगा क्योंकि वह एक क्षण बंधन में रहेगा तो दूसरे क्षण मोक्ष में। यहां बन्धन, दुःख आदि जब क्षणिक हैं तो साधक इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रयास ही क्यों करेगा क्योंकि वह जानता है कि दूसरे क्षण उसका दुःख स्वयं ही निवृत्त हो जायेगा। इस प्रकार महात्मा बुद्ध के बताए हुए चार आर्यसत्य तथा अष्टांग-मार्ग मिथ्या सिद्ध होंगे।

वि..ानवाद का खण्डन :

सर्वास्तित्ववाद के खण्डन करने के उपरान्त शंकराचार्य विज्ञानवाद का खण्डन करते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान को छोड़कर अन्य समस्त पदार्थ मिथ्या हैं। विज्ञानवाद में बुद्धि में ही सभी प्रमाण, प्रमेय और फल व्यवहृत होते हैं, क्योंकि बाह्यार्थ के होने पर भी बुद्धि में आरुढ़ हुये बिना प्रमाण आदि व्यवहृत नहीं हो सकते। अतः सर्वव्यवहार अन्तःस्थ ही हैं; विज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ नहीं है।[56] लंकावतारसूत्र भी विज्ञान के अतिरिक्त समस्त पदार्थो को मिथ्या घोषित करता है- ''विज्ञान मात्र ही तत्व है। त्रिलोकी (कामलोक, रुपलोक एवं अरुपलोक) की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। यह विकल्प मात्र है। बाह्य पदार्थ की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। चित्तमात्र का ज्ञान ही बुद्धसम्मत तथ्य-ज्ञान है, तत्वज्ञान है''[57] विज्ञान ही बाह्य अर्थो के रुप में प्रतीत होते हैं। 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः'- अर्थात् 'सहोपलम्भ के नियम से नील और उसके ज्ञान का अभेद है'- के आधार पर यह सिद्ध किया जाता है कि आन्तर विज्ञान और बाह्यार्थ में कोई अन्तर नहीं है। बाह्यार्थ को स्वप्नादि के विषय के समान ही समझना चाहिए। जैसे स्वप्न, माया, मृग-मरीचिका, गन्धर्वनगर आदि ज्ञान

बाह्यार्थ के बिना ही विज्ञान में ही ग्राह्य और ग्राहक रुप से होते हैं ठीक उसीप्रकार जाग्रत विषयक ज्ञान में भी विज्ञान ही विषय और विषयी के रुप में भासित होता है। ज्ञान में वैचित्र्य वासनाओं के वैचित्र्य से होता है, बाह्यार्थ से नहीं।

आचार्य शंकर विज्ञानवाद के इस मत का खण्डन करते हैं। आचार्य के अनुसार बाह्य अर्थ के अभाव का कतिपय निश्चय नहीं किया जा सकता है क्योंकि उसकी उपलब्धि होती है। प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ, कुण्ड, घट, पट बाह्यार्थ उपलब्ध होता है। उपलभ्यमान पदार्थ का अभाव नहीं हो सकता। जैसे कोई भोजन करता हुआ भोजन साध्य स्वयं अनुभूयमान तृप्ति के होने पर ऐसा कहे कि मैं भोजन नहीं करता अथवा मैं तृप्त नहीं हूँ, वैसे ही इन्द्रिय-संनिकर्ष से बाह्यार्थ को उपलब्ध होता हुआ मैं उपलब्ध नहीं करता ऐसा नहीं कहा जा सकता।[58]

विज्ञानवादी कहते है कि 'यदन्तर्ज्ञेयरुपं तद् वर्हिवदभासते'- (आलम्बन-परीक्षा) अर्थात् जो अन्तर्ज्ञेय रुप हैं वही वहिर्वत् अवभासित होता है। शंकर तर्क करते हैं कि यदि बाह्य-पदार्थ नहीं है तो यह क्यों कहा जाता है कि 'बहिर्वत्' प्रतीति होती है। यहाँ 'वत्' शब्द ही यह प्रमाणित करता है कि बाह्यार्थ की सत्ता है। 'आन्तर विज्ञान ही ऐसा प्रतीत होता है मानों वह बाह्य पदार्थ हो'- यह कथन ही बाह्य पदार्थ की सत्ता को सिद्ध करता है क्योंकि यह कथन अर्थहीन है कि 'विष्णु बन्ध्यापुत्रवत् है' तथा 'मुख गगनपुष्प के समान है'। अस्तित्व के अभाव में समानता कैसे संभव है?

बाह्यार्थ की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। शंकर कहते हैं कि 'विज्ञान', 'घट', 'प्रदीप' इत्यादि शब्द और इनके अर्थ पृथक् हैं। जब तक ऐसा है, तब तक बाह्यार्थान्तर अवश्य स्वीकार करना होगा। यदि विज्ञान से भिन्न कोई अन्य पदार्थ नहीं माना जायेगा तो विज्ञान घट, पट आदि शब्दों का एक

(विज्ञान-मात्र) ही अर्थ मान लेने पर इन्हें पर्याय मानना होगा।[59] परन्तु ये विभिन्न अर्थवाले हैं। अतः वाह्यार्थ की सत्ता स्वयंसिद्ध है।

विज्ञानवादी कहते हैं कि जैसे स्वप्न की अवस्था में देखे गये सभी पदार्थ स्वप्नानुरुप (विज्ञान) ही होते हैं, वैसे ही जाग्रतावस्था के पदार्थ भी बाह्यार्थ के अभाव में होने चाहिए। शंकर कहते हैं कि ऐसा नहीं हैं। जाग्रत-ज्ञान स्वप्न-ज्ञान के समान नहीं है क्योंकि दोनों में भेद है। स्वप्न का ज्ञान जाग्रतावस्था प्राप्त होने पर बाधित हो जाता है, परन्तु जाग्रतावस्था का ज्ञान एक अनुभव है, उपलब्धि है। अतः इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। ज्ञान की ये दोनों अवस्थाएं विज्ञान के अन्तर्गत हैं। अतएव ये दोनों समान हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। व्यवहार में स्वप्न और जाग्रतावस्था के अन्तर का प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता हुआ यह नहीं कहा जा सकता है कि जाग्रतावस्था का अनुभव स्वप्नावस्था के अनुभव के समान अनुभव होने के कारण मिथ्या है।[60]

विज्ञानवादी के बाह्यार्थ खण्डन का निराकरण करते हुए आगे आक्षेप किया जा सकता है कि बाह्यार्थ की सत्ता नहीं स्वीकार की तो देश-नियम, काल-नियम, सन्तान-नियम और कृत्यक्रिया इन चारों को असिद्ध मानना पड़ेगा। यदि विज्ञान बाह्यार्थ की अपेक्षा नहीं रखता तो यह असंभव होगा कि कोई पदार्थ किसी विशेष स्थान और समय में उपलब्ध हो सके। परन्तु, अनुभव में ज्ञात है कि एक पदार्थ को एक नियत स्थान और समय में न केवल एक पुरुष ही अनुभव करते हैं अपितु बहुत-से पुरुष अनुभव करते हैं तथा विज्ञानवादियों की यह कल्पना कि सभी पदार्थ अर्थ-क्रियाकारी होते हैं- यह कैसे सम्भव है? क्योंकि असत् बाह्य पदार्थ कैसे अर्थक्रिया समर्थ हो सकते हैं। पानी में प्यास बुझाने की क्षमता है तथा अग्नि में दाहकत्व की और ये बाह्यजगत् में अनुभवगम्य है। इस प्रकार बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वतःसिद्ध है।

नागार्जुन कहते है - यदि काचन प्रतिज्ञास्यान्मे तत् एव में भवेत्दोषः। नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति में दोषः।। (वि0 व्या0 का0-28) अर्थात् चूँकि कोई मेरी प्रतिज्ञा नहीं है तो मेरे में कोई दोष नहीं है। यदि मैं किसी मत या प्रतिज्ञा को प्रतिष्ठित करता तो मुझमें दोष हो सकता है, परन्तु ऐसा है नहीं।

आचार्य शंकर इन्हीं कथनों के आधार पर शून्यवाद को नितान्त शून्य ही मानते हैं और इसका खंडन मात्र एक वाक्य में कर देते हैं। वे कहते हैं कि शून्यवादी का पक्ष तो सभी प्रमाणों से विरूद्ध है। अतः उसके निराकरण के लिए और प्रयत्न नहीं किया जाता।[62] शंकराचार्य के मत में शून्यवाद आदर के योग्य नहीं है। इसे घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। वे कहते हैं कि शून्यवाद जब किसी 'तत्व' को ही नहीं स्वीकार करता, 'तत्व' की सत्ता का अपलाप करता है तो उसके सारे व्यवहार (माध्यमिक दर्शन की स्थापनादि) का अपलाप कर देना चाहिए क्योंकि ऐसा न्यायोचित ही है क्योंकि सर्वप्रमाण सिद्ध इस लोक-व्यवहार का खंडन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक इससे भिन्न कोई परमतत्व की सत्ता स्वीकार न की जाय (यहाँ हम देखते हैं कि नागार्जुन बिना कि मत (तत्व) की प्रतिष्ठा किये सारे के सारे व्यवहार, (कारण-कार्य का सम्बन्ध, ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध, आत्मा की सत्ता और अमरता आदि) को प्रतिष्ठित करते हैं क्योंकि अपवाद के अभाव में उत्सर्ग प्रसिद्ध है।[63]

क्या 'शून्यवाद' का यही अर्थ है जिसे शंकराचार्य खंडन करते हुए ग्रहण करते है ? आचार्य नागार्जुन ने तत्व की सत्ता को स्वीकार किया है । वे तत्व का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि 'जो विशुद्ध ज्ञान द्वारा अपरोक्षानुभूति से साक्षात् किया जा सके, जहां सापेक्ष बुद्धि की समस्त कोटियां और धारणाएं सन्तुष्ट होकर शान्त हो जायें, जो सम्पूर्ण प्रपंच से दूर हो, जहां मानवी बुद्धि के सारे

विकल्प, तर्क, वितर्क विचार, संदेह आदि विलीन हो जाये जो अद्वयरूप विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हो, वही 'तत्व' है।[64] क्या आचार्य शंकर आचार्य नागार्जुन के तत्व की इस परिभाषा को नहीं जानते थे?

आचार्य शंकर माध्यमिक दर्शन और अद्वैत-वेदान्त के सिद्धान्तों में बहुत-सी समानताओं को अच्छी तरह जानते हैं। अतएव उन्होंने उसके खंडन में बहुत अधिक प्रयास नहीं किया क्योंकि प्रकारान्तर से अपने मत के विरोध में जाना होता । वे कहते हैं कि – "दिशा, देश, गुण, गति और फलभेद से शून्य जो परमार्थ सत् अद्वितीय ब्रह्म है वह असत् के समान प्रतीत होता है।"[65] इस प्रकार शंकर समान मत होने के कारण शून्यवाद का अत्यधिक खंडन करने का प्रयास नहीं करते हैं। आचार्य शंकर तो शायद यह जानते थे कि माध्यमिक शून्यवाद को कहीं औपनिषद दर्शन न मान लिया जाय क्योंकि शून्यवाद के अनेक सिद्धान्त उपनिषदों से मिलते हैं। इसीलिए आचार्य शंकर सूक्ष्म तर्क के आधार पर यह प्रतिष्ठित करते हैं कि शून्यवाद को उपनिषदों से जोड़ा नही जा सकता है। शंकर कहते हैं कि उपनिषदों का ब्रह्म निश्चित, पूर्ण और अर्थवान् तत्व है जबकि माध्यमिक का तत्व असत् है। शंकर कहते हैं कि ब्रह्म में जो 'अनन्त' 'सत्य' और 'ज्ञान' तीन विशेषण हैं उनमें 'अनन्त' शब्द उसके अन्ततत्व का प्रतिषेध करने के द्वारा उसका विशेषण होता है तथा 'सत्य' और 'ज्ञान' शब्द तो अपने अर्थो के समर्पण द्वारा ही उसके विशेषण होते हैं ।[66] इस प्रकार 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की व्याख्या करके शंकर ब्रह्म को असत् से अलग स्थापित करते हैं और शून्यवाद के तत्व और ब्रह्म में भेद स्थापित करते हुए ब्रह्म को ही औपनिषद तत्व घोषित करते हैं।

शंकराचार्य ब्रह्म को ही सत् और निर्गुण निर्विशेष तत्व स्वीकार करते हैं। यह जगत् का उपादान और निमित्तकारण है। सत् की असत् से उत्पत्ति नहीं हो सकती है – 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' ब्रह्म-साक्षात्कार संभव है-

अतएव 'ब्रह्मविद-ब्रह्मैव भवति' - यह सिद्ध होता है, परन्तु नागार्जुन आत्मा में अविश्वास करते हैं। अतएव परमतत्व का आत्म-साक्षात्कार असंभव है। अत: यदि कोई तत्व स्वीकार भी किया गया है तो वह पूर्णत: अनुपयोगी हैं ।

शंकराचार्य कहते हैं कि बौद्ध-दर्शन (सभी मत एक स्वर से) सब प्रकार से असंगत होने से मुमुक्षुओं के आदरणीय नहीं है (सर्वथानुपपत्तेश्चो)। 'बहुत कहने से क्या प्रयोजन' सब प्रकार से ज्यों-ज्यों इस वैनाशिक सिद्धान्त की उपपत्ति-युक्त परीक्षा की जाती है त्यों-त्यों वह सिकता-कूप के समान विदीर्ण होता जाता है। बौद्धमत में हम कोई भी उपपत्ति नही देखते हैं। अत: वैनाशिक-तन्त्र व्यवहार के योग्य नही है क्योंकि असत्य है। बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद परस्पर तीन वादों का उपदेश करते हुए महात्मा बुद्ध ने अपना असम्बद्ध प्रलापित्व स्पष्ट किया है; जिससे आनेवाली पीढ़ियां इस विरुद्ध अर्थ के प्रतिपत्ति से अज्ञानता को प्राप्त हो। इस प्रकार बुद्ध ने जनता के प्रति अतिविद्वेष किया है। इसलिये मुमुक्ष (श्रेय: अभिलाषी पुरुषों) लोगों में सब प्रकार से यह बौद्ध मत अनादरणीय है।"[67]

आचार्य शंकर सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन के प्रति बहुत-ही कठोर द्वेष एवं अतिघृणा को व्यक्त करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इस निन्दा एवं घृणा में शंकर का न केवल दार्शनिक मतभेद ही है अपितु तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक दृष्टियों के मतभेद भी उजागर होते हैं। समाज में बौद्ध धर्म अपने चरम उत्कर्ष पर था। इसका समूलनाश और हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा शंकर का एकमात्र उद्देश्य था। ऐसी स्थिति में विरोधियों के प्रति अप्रतिष्ठित शब्दों का इस्तेमाल होना नई बात नही होगी। उनके मतों का बौद्धिक एवं तार्किक खंडन अनिवार्य ही था जिससे शंकर मत समुचित रूप से प्रतिष्ठित हो सके।

बहुत-से आधुनिक विद्वान शून्यवाद को अद्वैत-वेदान्त के अति निकटवर्ती मानते है और दोनों का स्रोत एक ही स्वीकार करते हैं। डॉ0 चन्द्रधर शर्मा के

मत में बौद्ध और वेदान्त दर्शनों को दो विरूद्ध दर्शन न समझकर एक-ही दर्शन के विकास के क्रम के विभिन्न रूप समझना चाहिए।[68] इनके अनुसार शून्य का अर्थ असत्य नही है अपितु सदसत् विलक्षण है। यह शान्त, अपरोक्ष, प्रपंचातीत, निर्विकल्प और अद्वय तत्व है।

डॉ0 राधाकृष्णन् भी शून्यवाद को कोरे असत्वाद के अर्थ में नहीं लेते। उनके अनुसार माध्यमिक लोग जीवन के सब तत्वों को आकस्मिक रूप से एक दूसरे के आश्रित बतलाते हैं और इसीलिए संसार को रिक्त अथवा शून्य बताते हैं। शून्य को ही समस्त जीवन का मौलिक सत्य बताया गया है। नागार्जुन एक परमार्थरूप यथार्थता में आस्था रखते है जिसे केवल इस अर्थो में शून्य कहा गया है, क्योंकि वह सब प्रकार के आनुभविक निर्णयों से रहित है।"[69] इस प्रकार राधाकृष्णन् यह मानते हैं कि शून्यवाद एक यथार्थ परमतत्व की सत्ता को स्वीकार करता है। यह बौद्धिक विशेषणों से परे है। बुद्धि के सारे विकल्प यहां धराशायी होते हैं। शून्य चतुष्कोटिविनिर्मुक्त अद्वैत तत्व है। डॉ0टी0आर0वी0मूर्ति भी शून्यवाद को असत्वाद के दोषारोपण से बहुत ही सूक्ष्म एवं दृढ़ तर्क के आधार पर रक्षा करते है। शून्यवाद असत्वाद के विपरीत एक निर्विशेष, निर्गुण, अद्वय, परमतत्व की सत्ता की प्रतिष्ठा करता है। यह अभावदृष्टि ही नहीं है अपितु यह धर्मणां धर्मता, भूतकोटि तथागत और तथता है।[70] इसे अभाव दृष्टि के रूप में मानकर बहुत से विद्वानों ने गलती की है। डॉ0 दासगुप्ता लिखते हैं कि शंकर का ब्रह्म अधिकांश रूप में नागार्जुन के शून्य की तरह है।[71]

आचार्य शंकर अपने अद्वैत परमतत्व ब्रह्म जिससे कि सभी दार्शनिक प्रश्नों का हल आसानी से ढूढ़ा जा सकता है, की स्थापना करने के लिए सभी संभव विरोधी दृष्टियों की युक्ति-युक्तपूर्वक समीक्षा करते हैं । इसीलिए वे सभी विरोधी दर्शनों में असंगतियों एवं स्वयं व्याघात दिखाकर उन्हें मिथ्या घोषित करते हैं । अद्वैत विरोधी दर्शन-विधा से सभी दार्शनिक प्रश्नों का संगत रूप से हल पाना

असंभव है क्योंकि उनकी मान्यताएं गलत और अधूरी है। शंकर का अद्वैत-वेदान्त ही सभी प्रश्नों का समुचित हल निकाल पाता है; अतएव यही पूर्ण दर्शन है। चाहे जगत् के कारण का प्रश्न हो अथवा जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध का सवाल हो, अथवा दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति की समस्या हो, सभी प्रश्नों का समुचित हल इसी अद्वैत-मत से ही संगति रूप में निकल पाता है। अतः मुमुक्षु भ्रान्त मतों से दूर होकर इसे ही अपनाकर श्रेय को प्राप्त हो - यही प्रतिष्ठित करना आचार्य शंकर का उद्देश्य है। इसीलिए वे सभी मतों की बौद्धिक समीक्षा करके उन्हें असिद्ध ठहराते हैं।

(घ) जैन-दर्शन की समीक्षा :

आचार्य शंकर जैन-तत्वमीमांसा का खंडन करने का प्रयत्न नहीं करते। जैन-अणुवाद का खंडन वे इतना ही कहकर करते है कि 'पुद्गलसंज्ञक अणुओं से (पृथ्वी आदि) संघात उत्पन्न होते हैं' यह कल्पना पूर्व में अणुवाद (मीमांसा और बौद्ध दर्शन) के निराकरण से खंडित हो जाती है। अतएव उसके निराकरण के लिए पृथक प्रयत्न नहीं किया जाता।[72] शंकर जैन के केवल सप्तभंगीनय और आत्मा के सिद्धान्तों का ही खंडन करते हैं।

सप्तभंगीनय या स्याद्वाद का खंडन :

जैन स्याद्वाद के अनुसार सभी वस्तुएं अनन्तधर्मात्मक होती है (अनन्तधर्मात्मकं वस्तु) हमारा ज्ञान आंशिक और एकदेशीय तथा तात्कालिक ही होता है। हम किसी भी पदार्थ के विषय में निरूपाधिक या निश्चित निर्णय नही कर सकते। हम न तो उसे पूर्ण रूप से स्वीकृति ही प्रदान करते है और न-निषेध ही। हम यथार्थ सत्ता का केवल सापेक्ष और सोपाधिक निरूपण कर सकते हैं उसका पूर्ण ज्ञान नही कर सकते हैं। हमारा प्रत्येक ज्ञान कुछ विशेष अवस्थाओं में ही सत्य या असत्य होता है। यही स्याद्वाद है। इसी को सप्तभंगीनय अथवा अनेकान्तवाद भी कहते हैं। जैन बताते हैं कि दार्शनिक विरोध इसीलिए होता है

कि एक दर्शन अपने ही दर्शन को पूर्ण मान लेता है जबकि वह आंशिक सत्यता का ही निरूपण करता है। स्याद्वाद के अनुसार किसी भी वस्तु अथवा उसके गुणों का कथन करने के लिए, दृष्टिकोण की विभिन्नता से सात भिन्न-भिन्न प्रकार अपनाएं जाते हैं[73] - 1. स्यादस्ति 2. स्यात्नास्ति 3. स्यादस्ति च नास्ति च 4. स्यादवक्तव्यम् 5. स्यादस्ति चावक्तव्यम् च 6. स्यातनास्ति चा वक्तव्यम् च 7. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यम् च। इस प्रकार जैन एकत्व और नित्यत्व सभी में सप्तभगी सिद्धान्त की योजना करते हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त के निरूपण से जैन मत में एकत्व भी सत्य है, नानात्व भी सत्य है, नित्यता भी सत्य है, अनित्यता भी सत्य है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य रूप में एक और नित्य है तो 'पर्याय' के रूप में नाना और अनित्य है। यही संक्षेप में जैन का सप्तभंगीनय है।

आचार्य शंकर स्याद्वाद का खंडन करते हैं, क्योंकि एक ही पदार्थ में दो परस्पर विरोधी गुण एक ही समय में उपस्थित नहीं रह सकते। एक धर्मो में एक ही समय सत्य और असत्य आदि विरूद्ध धर्मो का शीतोष्ण के समान समावेश संभव नही है।[74] रामानुज भी लिखते हैं "भाव और अभाव ये दोनों परस्पर विरोधी गुण किसी एक पदार्थ में नहीं रह सकते जैसे कि प्रकाश और अंधकार एक जगह नही रह सकते हैं।"[75]

शंकर आगे कहते हैं कि सप्तभंगीनय सार्वभौम रूप से सभी सिद्धान्तों एवं पदार्थो पर लागू किया जा सकता है। जब जैन यह कहते हैं कि अनन्तधर्मात्मकं वस्तु - अर्थात् वस्तुएँ अनन्तधर्मात्मक होती हैं - इसे भी स्यादास्ति और स्याद् नास्ति कहकर निश्चित सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है। प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति आदि पर भी स्याद्वाद लागू हो सकता है। अत: ज्ञान संभव नहीं है। तीर्थकरों का उपदेश भी 'शायद असत्य है' - ऐसा कहकर ठुकराया जा सकता है। जैन एक तरफ किसी वस्तु को शायद अवक्तव्य (अनिवर्चनीय) - ऐसा मानते

है और दूसरी तरफ उसी का निर्वचन भी करते हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर सप्तभंगीनय को विक्षिप्त पुरुष के प्रलाप के समान स्वीकार करते हैं।[76]

सप्तभंगीनय के अनुसार बंधन और मोक्ष की कल्पना भी व्यर्थ ही है । साधक के मन में यह भावना उत्पन्न होगी कि 'शायद स्वर्ग है' या 'शायद स्वर्ग नहीं है।' इस स्थिति में वह मुक्ति के लिए गंभीरता से प्रयत्नशील नहीं होगा और जीव सर्वदा बंधन में ही रहेगा तथा मुक्ति असंभव होगी। अर्हत का सिद्धान्त तार्किक रूप से असंगत होगा।

आचार्य शंकर कहते है कि पारमार्थिक स्तर पर ही परमतत्व पूर्ण और अबाधित सत् है। व्यवहार की सारी वस्तुओं का बाध होता रहता है, अतः आंशिक रूप से ही वे वस्तुएँ सत्य हैं, लेकिन परमार्थतः वे असत्य ही है। परन्तु व्यवहार का एकदम से अपलाप नही किया जा सकता क्योंकि व्यवहार के ही माध्यम से हम परमार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। हमें सीढ़ी की उपयोगिता तब तक रहती है जब तक हम छत पर चढ़ नहीं जाते। अतः व्यवहार ही हमें परमार्थ में जाने की ओर प्रवृत्त करता है। जैन दार्शनिक का सप्तभंगीनय व्यवहार तक ही सीमित है। परमार्थ का ज्ञान इससे असंभव है तथा व्यवहार में भी जैन एक वस्तु को विरूद्ध धर्मान्वित बताता है जिसका अनुभव से खंडन हो जाता है। हम देखते है कि जहाँ अंधकार है वहाँ प्रकाश नहीं है। जहाँ शीतलता है वहाँ ताप नहीं है। इस प्रकार स्याद्वाद व्यवहार का भी निश्चित ज्ञान कराने में पूर्णतया असमर्थ है। इसीलिए आचार्य शंकर इसका खंडन करते हैं।

जैन के आत्म-मत का खंडन :

जैन के सप्तभंगीनय की तरह शंकर उसके आत्म-मत का भी खंडन करते हैं। इनके मत में जीव शरीर परिमाण वाला होता है।[77] शंकर कहते हैं कि शरीर

परिमाणत्व होने पर आत्मा अकृत्स्न-असर्वगत-परिच्छिन्न होगा, इससे आत्मा घट आदि के समान अनित्यत्व प्रसक्त होगी ।[78]

जैनियों के अनुसार जीव शरीर परिमाण वाला है और हम अनुभव में देखते हैं कि विभिन्न वर्ग के प्राणियों की विभिन्न प्रकार के शरीर का आकार या परिमाण है । अब जीव यदि इस जन्म में मनुष्य शरीर परिमाण वाला है और यदि किसी कर्म के विपाक से उसे हस्ति शरीर परिमाण वाला होकर जन्म प्राप्त करना हुआ तो यह असंभव होगा क्योंकि मनुष्य शरीर परिमाण वाला जीव हस्ति शरीर परिमाण वाले जीव को पूरी तरह से व्याप्त नहीं करेगा। उसी तरह यदि हस्ति शरीर परिमाण वाला जीव चींटी शरीर से उत्पन्न होगा तो वह इस नये शरीर में समा न सकेगा। अतः जीव शरीर परिमाण वाला है यह असिद्ध हुआ। शंकर कहते हैं कि अनेक जन्म-जन्मान्तरों में, जीव की स्थिति के विश्लेषण से क्या फायदा? एक ही जन्म में कुमार, यौवन और बुढ़ापे में परिवर्तन से ही यह दोष उत्पन्न होता है। शरीर तो घटता-बढ़ता रहता है। यदि यही जीव का भी स्वरूप है तो वह अनित्यत्व दोष से प्रसक्त होगा।[79]

जैन के अनुसार जीव शरीरावच्छिन्न होता है, वह अपने निवासभूत शरीर के परिमाण को धारण करता है। वह दीपक की भांति अपने निवास भूत शरीर को प्रकाशित करता है। वह स्वयं अमूर्त है पर दीपक के प्रकाश की भांति आधारभूत शरीर के परिमाण को धारण करता है। प्रदीप की तरह जीव भी संकोच एवं विकासशाली होता है।[80] जीव के अनन्त अवयव है। उसके वे अवयव अल्प शरीर में संकुचित होते हैं और बड़े शरीर में विकसित होते हैं । शंकर कहते हैं कि यदि जीव अनन्त अवयव वाला है, तो क्या जीव के अनन्त अवयव समान देश को ग्रहण करते हैं या नहीं। यदि नहीं, तो अनन्त अवयव सीमित शरीर में नहीं रह सकते हैं। यदि हाँ तो वह अनन्त अवयव वाला देश होगा। अनन्त अवयवों

का एक साथ विकसित होना व्यर्थ है और इस तरह जीव अणु-मात्र ही रहेगा न कि बृहद् शरीर परिमाण का और फिर जीव के अनन्त अवयव एक अल्प और सीमित शरीर में कैसे रह सकेगा?[81]

जैने कहते है कि वृहत्शरीर प्राप्त होने पर अनन्तावयवों में कुछ अवयव नजदीक रहते हैं और अल्प शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव दूर हो जाते हैं। शंकर कहते हैं कि अवयवों के क्रमशः घटने और बढ़ने से जीव में विकास उत्पन्न होगा, वह अनित्यत्व दोष से प्रसक्त होगा तथा बंधन मोक्ष का प्रश्न जटिल हो जायेगा एवं अवयवों के आने और जाने से अवयवों का अनियम परिमाण होगा। इस प्रकार आत्मा का स्वरूप अनिश्चित ही रहेगा। शंकर के अनुसार अनन्त और नित्य जीव ही एक मात्र सत् है जिससे इन प्रश्नों का समुचित हल ढूढ़ा जा सकता है। यह सीमित जव तो उस अनन्त आत्मा का आभास मात्र है।

(च) ईश्वर-कारणवाद का खंडन :

भारतीय दर्शन में जगत् के कारण की समस्या बहुत ही जटिल समस्या है। अधिकांश दार्शनिक ईश्वर को जगत् का कारण मानते हैं, परन्तु उनमें से कतिपय विद्वान ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानते हैं, जबकि आचार्य शंकर ब्रह्म को जगत् का उपादान और निमित्त्कारण दोनों बताते हैं । ब्रह्म ही अपनी माया शक्ति से जीव, जगत् आदि को उत्पन्न करता है । यह नानात्व यथार्थ परिणाम न होकर ब्रह्म का विवर्त मात्र है । शंकर इस मत का खंडन करते हैं कि ईश्वर जीव और जगत् का अधिष्ठाता अर्थात् निमित्तिकारण मात्र है । यह सिद्धान्त ब्रह्मैकत्व के विरोधी होने से अनुपादेय है। अतः इसे यत्नपूर्वक प्रतिषिद्ध किया जाना चाहिये।

आचार्य शंकर कहते हैं कि कुछ लोग जो सांख्य-योग का आश्रय लेकर कल्पना करते है कि प्रधान और पुरूष का अधिष्ठाता ईश्वर केवल निमित्त कारण

है एक कल्पना मात्र है क्योंकि ईश्वर प्रधान और पुरुष का निमित्तरूप से जगत का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि यह असंगत है । हम संसार में देखते है कि जीव के भिन्न-भिन्न स्वरूप है, कोई हीन है, कोई मध्यम है तो कोई उत्तम । कोई दु:खी है तो कोई सु:खी । यदि ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है तो वह जीवों में जो भेद है वह नहीं होना चाहिए क्योंकि ईश्वर में कोई राग-द्वेष नहीं होता। परन्तु, हम अनुभव में देखते हैं कि जीवों में विभिन्नता है। अत: ईश्वर जो निमित्त कारण है उसमें भी मानवीय राग-द्वेष की भावनाएं हैं । अत: इन दोषों के होने के करण ईश्वर का ईश्वरत्व खंडित होता है ।

प्राणियों को कर्म के अनुसार दु:ख और सु:ख प्राप्त होता है। अत: 'ईश्वर में अनीश्वरत्व प्रसक्त नही होता' - यदि ऐसा मान लिया जाय, तो यह भी युक्त नही है क्योकि कर्म और ईश्वर का प्रवर्त्य ओर प्रवर्तपितृभाव होने पर अन्योन्याश्रय-दोष प्रसंग होगा। यदि इसे अनादि माना जाय तो भी कोई लाभ नहीं है क्योंकि वर्तमान काल के समान अतीत कालों में भी अन्योन्याश्रय दोष समान होने से अन्ध-परम्परा न्याय प्रसक्त होगा।[82]

शंकर कहते हैं कि यदि ईश्वर को जगत् और जीवों का निमित्तकारण मान भी लिया जाय तो इसके पूर्व हमें दोनों से ईश्वर के सम्बन्ध की सिद्धि करनी पड़ेगी । पुरूष और प्रधान से भिन्न ईश्वर सम्बन्ध संभव नहीं है। इनमें संयोग सम्बन्ध भी संभव नहीं है क्योंकि पुरुष, प्रधान और ईश्वर तीनों सर्वगत और निरवयव माने गये हैं। समवाय सम्बन्ध भी असंभव है, क्योंकि इनमें आश्रयाश्रयीभाव का निरूपण नहीं है। अर्थात् कौन आश्रय है और कौन आश्रयी जैसे कारण-कार्य सम्बन्ध भी असंभव है क्योंकि अभी तक यह भी असिद्ध ही है। अत: ईश्वर मात्र निमित्तकारण रूप में प्रतिष्ठित नही हो सकता अद्वैत-वेदान्त का ब्रह्म-विवर्तवाद ही इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देने में समर्थ है

क्योंकि यहां कारण और कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध है। ब्रह्म-विवर्तवाद तो श्रुति प्रमाण द्वारा सिद्ध है। अतः इसका निराकरण नहीं किया जा सकता है।[83]

शंकर कहते हैं कि यदि ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मान लिया जाय तो भी समस्या का समाधान नहीं हो पाता क्योंकि जब कुम्हार मिट्टी को ग्रहण करता है और उसे घट-पट आदि कार्य के लिए प्रवृत्त करता है। यहां मिट्टी सत्पदार्थ है, रूप-गुणवाली है, कुम्हार उसी को ग्रहण करता है। परन्तु अप्रत्यक्ष और रूप आदि से हीन प्रधान ईश्वर का अधिष्ठेय नही हो सकता, क्योंकि वह मिट्टी आदि से विलक्षण है।[84] अतः ईश्वर जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकता है।

अन्त में शंकर तर्क करते हैं कि एक तरफ ईश्वर सर्वज्ञ और अनन्त है दूसरी तरफ प्रधान और पुरूष भी अनन्त है तथा ये परस्पर भिन्न भी है, इस प्रकार ये तीनों तत्व एक साथ व्यापक है । परन्तु एक ही पदार्थ व्यापक हो सकता है, दो या तीन नहीं । ईश्वर, पुरुष और प्रकृति तीनों को व्यापक मानने पर ये तीनों आपस में एक-दूसरे को परिच्छिन्न करके अपने व्यायकत्व को नष्ट कर देगें। यदि पुरुष और प्रधान को व्यापक मान लिया जाय तो इनको अधिष्ठेय मानना कितना आश्चर्यजनक होगा? व्यापक पदार्थ को अधिष्ठाता या निमित्तकारण की क्या आवश्यकता? अतः ईश्वरकारणवाद असंगत है।

ग). ब्रह्म-परिणामवाद का खंडन तथा ब्रह्म-कारणवाद या विवर्तवाद के स्थापनार्थ मनन :

शंकराचार्य सांख्य के प्रकृति-परिणामवाद की तरह ब्रह्म-परिणामवाद का खंडन करते हैं । शंकर के मत में ब्रह्म ही जगत् का कारण है। परन्तु यह जगत ब्रह्म का परिणाम नहीं है अपितु उसका विवर्त है। शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र

परमार्थ त्रिकालाबाधित सत् है और इसके अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता ही नहीं है। यह जगत् वास्तव में भ्रम है, मिथ्या है, पारमार्थिक दृष्टि से इसकी न तो उत्पत्ति हुई है और न ही यह ब्रह्म का परिणाम ही है। हम अविद्या के कारण जगत् को सत् मान लेते हैं और इसके अधिष्ठान रूप में मायायुक्त सप्रपंचात्मक ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। अविद्या का विनाश और यथार्थ ज्ञान होते ही जगत् का यह सारा प्रपंच लुप्त हो जाता है। जैसे रज्जु-सर्प भ्रम में हम रज्जु को सर्प मान लेते हैं और सही ज्ञान हो जाने पर 'यह तो रस्सी है' - ऐसा निर्णय लेते हैं। यहाँ सर्प न तो भूत में ही था न वर्तमान में ही है और न भविष्य में ही होगा । अज्ञान की स्थिति में भी सर्प रज्जु ही था और ज्ञान हो जाने पर भी रज्जु ही है। अतः जिस प्रकार रज्जु ही अबाधित रूप से सत् है उसी तरह ब्रह्म ही एकमात्र सत् तत्व है। यहां जिस प्रकार सर्प रज्जु का विवर्त है, परिणाम नहीं, उसी तरह यह जगत् भी ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं ।

किसी वस्तु का यथार्थ परिवर्तन ही परिणाम या विकास कहलाता है। जैसे मिट्टी का परिणाम है घट, तन्तु का परिणाम है पट, दूध का परिणाम है दधि आदि। परन्तु विवर्तवाद में वस्तु का यथार्थ परिवर्तन नहीं होता है। यहां परिवर्तन का आभास मात्र होता है। जैसे जल में तरंग। तरंग जल का यथार्थ परिणाम नहीं है, अपितु विवर्त है। परिणाम और विवर्त परस्पर भिन्न और विरूद्ध नहीं है। विवर्त परिणाम का विकसित चरण है। सर्वज्ञात्म मुनि ने परिणामवाद को विवर्तवाद की पूर्वभूमि कहा है - 'विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः।'

आचार्य शंकर सत्यता के दो रूप स्वीकार करते हैं - 1. व्यावहारिक सत्यता, 2. पारमार्थिक सत्यता। जगत् व्यावहारिक रूप से सत्य है, यह अविद्या का परिणाम है। इसका बाध हो जाता है। ब्रह्म पारमार्थिक रूप से सत्य है इसका बाध नही होता। यदि जगत् को ब्रह्म का परिणाम मान लिया जाय तो जगत् भी

पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्म की तरह सत्य होगा और तब द्वैत होगा। फिर जगत् को ब्रह्म का कार्य कैसे माना जाय जबकि यह कार्य अविद्या पर आधारित है? इसका आदि और अन्त दोनों मिथ्या है, अतः मध्य में भी यह मिथ्या ही है। जो वस्तु आदि और अन्त में असत् है वह निश्चित रूप से मध्यम में भी असत् है - ऐसा विद्वानों की घोषणा है।[85]

शंकराचार्य कहते है कि 'जो नाम-रूप से अभिव्यक्त हुआ है तथा अनेक कर्ता और भोक्ताओं से संयुक्त है, जो प्रतिनियत देश, काल और निमित्त से क्रिया और फल का आश्रय है, एवं मन भी अचिन्त्य रचना एवं रूपवाले इस जगत् को उत्पत्ति, स्थिति और लय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कारण से होते हैं 'वह ब्रह्म है।'[86] इस प्रकार ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान कारण दोनों है। तैत्तरीय उपनिषद के अनुसार "जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर भी जिसके आश्रय से ये जीवित रहते हैं और अंत में विनाशोन्मुख होकर जिसमें विलीन होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर; वही ब्रह्म है।"[88] उपनिषदों के अनुसार जगत् ब्रह्म का परिणाम नही है अपितु विवर्त या आभास है क्योंकि निर्गुण, निर्विशेष निरूपाधिक ब्रह्म का वास्तव में कोई परिणाम संभव ही नही है। इस प्रकार शंकर सत्य के निर्धारण में श्रुति एवं मनन दोनों का प्रयोग करते हैं।

ब्रह्म-विवर्तवाद के विरूद्ध विरोधी दार्शनिकों के कुछ आक्षेप हैं जिसका समुचित उत्तर दिये बिना इसकी यथार्थ स्थापना नहीं होती। प्रश्न है कि चेतन ब्रह्म उपादान के अभाव में कैसे प्रवृत्त होता है? क्योंकि चेतन कुलाल मिट्टी आदि साधन सामग्री की अपेक्षा कर ही घटादि कार्यो में प्रयुक्त होते हैं । शंकर उत्तर देते हैं कि जैसे लोक में देव, पितर, ऋषिगण इत्यादि चेतन होते हुए भी बिना किसी बाह्य साधन-सामग्री की अपेक्षा किये ऐश्वर्य विशेष के योग से केवल

संकल्पमात्र से स्वतः ही भिन्न-भिन्न आकार वाले नाना शरीर, प्रासाद और रथ आदि का निर्माण करते हैं तथा मकड़ी अपने आप ही तन्तुओं का सृजन करती है, बगुली शुक्र-वीर्य के बिना भी गर्भ को धारण करती है, वैसे ही चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधन के बिना अपेक्षा किये ही स्वतः जगत जीव की सृष्टि करता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार, 'जिस प्रकार मकड़ी जाले बनाती है और निगल जाती है, जिस प्रकार पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती है और जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश तथा रोएँ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है।'

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च
यथा पृथिण्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।।

फिर आपेक्ष होता है कि देव आदि तथा मकड़ी का दृष्टान्त ब्रह्म के समान नहीं है, अतः असद्धि है क्योंकि देव आदि का अचेतन शरीर ही अन्य शरीर आदि विभूति उत्पन्न करने में उपादान है, चेतन आत्मा नही तथा मकड़ी भी छोटे-छोटे कीड़े मकोड़ों को खाने की लालसा से उत्पन्न लार द्वारा जाला बुनती है, किन्तु ब्रह्म के लिए जगज्जाल बुनने के लिए ऐसी कौन सी आन्तरिक इच्छा और बाह्य साधन हो सकते हैं और बकुली मेघ गर्जन के श्रवण से गर्भ धारण करती है। शंकर उत्तर देते हैं कि यह दोष नहीं है, क्योंकि कुलाल आदि दृष्टान्तों से केवल वैलक्षण्यमात्र विवक्षित है। जैसे कुलाल आदि और देव आदि में चेतनता समान होने पर भी कुलाल आदि कार्य के आरम्भ में बाह्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं लेकिन देव आदि नही रखते वैसे ही चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधनों की अपेक्षा नही करता है।[88]

पुनः आक्षेप लग सकता है कि यदि ईश्वर जगत की उत्पत्ति करता है तो कार्य (जगत) में विषमता (दु:खी, सु:खी, मध्यम, हीन, उत्तम) के कारण उस पर वैषम्य और नैर्घृण्य का दोष प्रसंग आता है। अर्थात् ईश्वर अपनी इच्छा से कुछ लोगों को सु:खी और कुछ लोगों को दु:खी बनाता है। शंकर उत्तर देते हैं कि वैषम्य और नैर्घृण्य ईश्वर में प्रसक्त नहीं होते, क्योंकि वह सापेक्ष है। यदि ईश्वर केवल निरपेक्ष होकर विषय सृष्टि का निर्माण करता, तो ये दोष लागू होते। ब्रह्म निरपेक्ष होकर निर्माण नहीं करता। सापेक्ष, सोपाधिक ईश्वर ही जगत की दृष्टि करता है। वह धर्माधर्म की अपेक्षा से सृष्टि करता है। अत: वह सापेक्ष है। इस प्रकार ब्रह्म पर ये दोष नहीं लगाये जा सकते हैं।

वास्तव में ये चारों आपेक्ष व्यवहार (सुष्टि वास्तविक है) को देखते हुए किये जाते हैं। शंकराचार्य कहते है कि यथार्थत: ब्रह्म सृष्टि का निर्माण ही नहीं करता। जगत् की न तो सृष्टि न स्थिति और न लय ही होता है। ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्व है और दूसरा नहीं। शंकर कहते हैं कि जब श्रुतियां जगत के कारण की चर्चा करती हैं तब वे परमार्थ से अलग व्यवहार की सत्यता को स्थापित करना चाहती है। वे व्यवहार का बोध कराती है। कारण कार्य आदि तो व्यावहारिक है, पारमार्थिक स्तर पर न तो कोई है और न कोई कारण। परम ब्रह्म ही निरूपाधिक निष्प्रपंच अद्वयसत् है। वास्तविक उत्पत्ति लय आदि है ही नही, क्योंकि आचार्य शंकर जगत् को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं परिणाम नहीं। जगत् की सत्यता तो अज्ञान पर आधारित है। ज्ञान होते ही न कोई ज्ञाता, न कोई ज्ञान और न ज्ञेय ही रहता है। वहाँ तो ब्रह्म जीव और जगत् सभी परमब्रह्म स्वरूप होते हैं। वहां अनेकता नही है ।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत प्रकरण में यह देखा जा सकता कि कैसे आचार्य शंकर विरोधी दर्शनों की समीक्षा तर्क और श्रुति के आधार पर करते है? वास्तव में शंकराचार्य

द्वारा विरोधी सिद्धान्तों की समीक्षा और प्रकारान्तर से अद्वैत-वेदान्त की स्थापना भारतीय दर्शन को एक महत्वपूर्ण योगदान है । शंकर ने भारतीय दर्शन-पद्धति के सभी सिद्धान्तों जैसे वस्तुवाद, भौतिकवाद और आदर्शवाद की तार्किक समीक्षा की और सभी को दार्शनिक प्रश्नों के समुचित और संगत हल ढूढ़ने में असमर्थ और अनुपयोगी सिद्ध।

यद्यपि अद्वैत-वेदान्त का मुख्य प्रयोजन श्रुतियों की सम्यक् व्याख्या करके सम्यग्दर्शन की स्थापना करनी है, जिससे कि साधक (मुमुक्षु) यथार्थ और सहज रूप से श्रेयष्काम (मुक्ति) को प्राप्त हो । परन्तु, यह तब तक सही रूप में संभव नहीं है जब तक इसके विरोधी मतों की बौद्धिक समीक्षा करके निराकरण न किया जाय। शंकर तर्कपाद के प्रारम्भ में ही लिखते हैं कि सांख्य जैसे कुछ विरोधी मत हैं जो पूर्ण ज्ञान में बाधक सिद्ध हो सकते हैं। ये साधक को प्राप्त करके अयथार्थ मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए प्रसक्त कर सकते हैं। अतः यथार्थ और पूर्ण ज्ञान तथा मुक्ति के लिए इन विरोधी मतों के खंडन की आवश्यकता हुई। विरोधी मतों के खंडन में शंकर ने तीव्र तर्कना-पद्धति का प्रयोग किया है। यहां तर्कना-पद्धति का प्रयोग महज श्रुति के प्रयोजन की स्थापना के लिए किया गया है। विरोधी दर्शनों का नकारात्मक खंडन ही उद्देश्य नहीं है। निषेध तो स्वीकृति का साधन है। निषेध के द्वारा ही प्रकारान्तर से स्वीकृति की पुष्टि की जाती है। अध्यारोपाववाद ही आत्मानुभूति का साधन है यही परम पुरूषार्थ है। इस तरह शंकर विरोधी मतों की समीक्षा अपनी बौद्धिक प्रखरता या श्रेष्ठता के लिए नहीं करते, अपितु आत्म-ज्ञान की दिशा में मार्ग प्रशस्त हेतु करते हैं ।

शंकर विरोधी मतों की समीक्षा करने में सर्वप्रथम पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हैं। पुनश्च उनका खंडन करते हैं और अन्त में अपने सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। वे अपने सिद्धान्त की स्थापना में सभी विरोधी तर्को का खंडन करते हैं ।

समीक्षा में यद्यपि आचार्य शंकर कहीं श्रुति का सहारा लेते हैं तो कही तर्क का तथापि वे तर्क को ही विशेष महत्व देते हैं। तर्कपाद के प्रारम्भ में ही शंकर लिखते हैं कि "इस पाद में वेदान्त वाक्यों की अपेक्षा न रखते हुए स्वतंत्र रूप से उनकी (विरोधी) युक्तियों का प्रतिषेध किया जाता है ।"[89] अतः यह सिद्ध है कि शंकर विरोधी मतों के खंडन करने में पूर्णतः युक्ति (मनन) का ही सहारा लिये हैं।

कुछ आस्तिक दार्शनिक वेदान्त वाक्यों की गलत व्याख्या करते हैं जिससे कि वे अपने मतों की स्थापना में उन्हें सहायक रूप से ग्रहण कर सकें ।शंकर उनके मत एवं व्याख्या को व्याख्यानाभास कहकर उन्हें अप्रतिष्ठित करते हैं और उनका निराकरण करते हैं । शंकर श्रुतियों की सम्यव्याख्या तर्क के आधार पर करते हैं और ब्रह्मवाद या आत्मवाद को ही श्रुतियों की यथार्थ प्रयोजन सिद्ध करते हैं। यहां शंकर स्वतंत्र रूप से तर्क का प्रयोग करते हैं । वे सही रूप में श्रुतियों की व्याख्या करते हैं और स्वमत की स्थापना और उसकी रक्षा करते हैं। वे तर्क के ही आधार पर सभी अवैदिक सिद्धान्तों का खंडन करते हैं ।

यद्यपि शंकर तर्क की अपेक्षा आत्मानुभूति पर विशेष बल देते हैं, परन्तु वे यह भी कहते हैं कि यह बिना मनन के संभव भी नही है। आचार्य शंकर तर्क के आधार पर जहां वेदान्त सम्मत अद्वैत सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करते हैं, वही बादरायण के ब्रह्म-सूत्र की विषद व्याख्या भी तर्क के आधार पर करते हैं । आचार्य शंकर के विरूद्ध कुछ विद्वानों का आपेक्ष है कि शंकर की ब्रह्म-सूत्र की व्याख्या समीचीन नहीं है, जैसा कि प्रो0 थीवो कहते है कि - "शंकर का दर्शन सम्पूर्ण रूप से उपनिषद की शिक्षाओं के अधिक निकट है, न कि वादरायण के सूत्रों के।"[90] ए0वी0कीथ के अनुसार, "ब्रह्म-सूत्र स्वयं में उन मतों को प्रतिष्ठित नही करते हैं जिन्हें शंकर स्वीकार करते हैं ।"[91]

शंकर ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करके अद्वैतवाद और मायावाद को प्रतिष्ठित करते हैं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि तर्कणा-पद्धति के द्वारा ब्रह्मसूत्र की जो व्याख्या आचार्य शंकर ने की है, वैसे अन्यत्र संभव हैं। विरोधी सिद्धान्तों की समीक्षा ब्रह्मसूत्र के तर्क-पाद की व्याख्या में जितना सुन्दर एवं सूक्ष्म ढंग से हुआ है, उससे यह सिद्ध है कि शंकर ने सूत्रकार के मन्तव्य को ठीक से समझा है और उसे ही प्रतिपादित करने का हमेशा प्रयास किया है। जगत् की व्याख्या के लिए शंकर ने मायावाद की कल्पना की है। यद्यपि यह स्वतंत्र चिन्तन पर ही आधारित है, फिर भी यह श्रुतियों के प्रयोजन को पूर्णतः सिद्ध करती है। "शंकर का मायावाद बादरायण के दर्शन का तार्किक विकास है ।"[92] आचार्य शंकर स्वतः कहते हैं कि "ब्रह्मसूत्र की उन सभी भाष्यों का जो भेदाभेदवाद तथा विशिष्टाद्वैत पर आधारित है तथा जो सूत्रकार के यथार्थ मन्तव्य को भ्रान्त करती है, उसी तरह से निराकरण करना चाहिए जैसे द्वैतवादी व्याख्याओं का किया जाता है।"

सन्दर्भिका

1. श्रीवास्तव प्रो0 जगदीश सहायः 'अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका', 1985, किताब महल, इलाहाबाद पृष्ठ - 47
2. ब्रह्म-सूत्र शां0 भा0, 1-4-28
3. ब्रह्म-सूत्र शां0 भा0, 1-4-28
4. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः - (गीता 2-16)
5. सां0 का0 - 9
6. कार्यस्य च सद्भावः प्रागुत्पत्तं सिद्धः। कथमभिव्यक्ति लिंगत्वाद-भिव्यक्तिर्लिंगमस्येति - -(वृह0 उप0 शां0 भा0 - 1-2-1)

7. वृह0 उप0 शां0 भा0 - 1-2-1
8. वही - 1-2-1
9. यदभावादेव घट उत्पद्येत घटार्थिना मृत्पिण्डो नोपादीयेत् । अभावशब्द-वृद्धयनुवृत्तिश्च घटादौ प्रसज्येत न त्वेतदस्त्यतो नासत: सदुत्पत्ति:। -(छा0 उप0शां0 भा0 - 6-2-2)
10. कार्याकारोऽपि कारणस्यात्मभूत एवानात्मभूतस्यनारभ्यत्वादित्यभाणि न च विशेष दर्शन मात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति। नहि देवदत्त: संकोचित हस्तपाद: प्रसारित हस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वचन्यत्वं गच्छति। -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0 2-1-18)
11. समवाय कल्पनायामपि समवायस्य समवायिभि: संबन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्यान्योन्य: सम्बन्ध: कत्पयितव्य इत्यनवस्था प्रसंग: । -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0 2-1-18)
12. भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते । विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजाति ख्यापयन्ति ते।
-(गौ0का0)- 4-3
13. स्वतो वा परतो वापि न किंचिदवस्तु जायते। सदसत्सद्वापि न किचिंदवस्तु जायते।
-(गौ0का0)- 4-22
14. सांख्यादय: स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्ते व्याचक्षते, तेषां यद्व्याख्यानं तद्व्याख्यानाभासं न सम्यग्व्याख्यानम् । -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0 2-2-1)
15. अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुत: श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता -(वृ0उप0)-3, 7, 23
16. य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप: । तस्मादेतद्ब्रहम नामरूपमन्नं च जायते
-(मुण्ड उप0 1, 1, 9)
17. अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा - (गीता - 7, 6)
18. ब्रह्म-सूत्र शां0 भा0 2-2-1
19. ब्रह्म-सूत्र शां0 भा0 2-2-3
20. ब्रह्म-सूत्र शां0 भा0 2,2,7 ।
21. सर्वगतत्वानुपपत्तिश्च बहुनामात्मनां दृष्टान्ताभावात् । -(ब्रह्म-सूत्र शां0 भा0)-2.3.53
22. सां0 का0 - 19
23. आत्मनो बंधमोक्षादि शास्त्रकृत सव्यवहाराय परमार्थतोऽनुपाधिकृतं च तत्वमेंकमेवाद्वितीयमुपादेयं सर्वतार्किक ,बुद्धध्यनवगाह्यमभयं शिवम् इश्यते न तत्र कर्तव्यं भोक्तृत्वं वा क्रिसाकारक फलं च स्याद, अद्वैतत्वात्सर्वभावानाम् -(प्रश्न उप0)-6,32.
24. तस्मादात्मेकत्व पक्ष एव सर्वदोषाभाव इति सिद्धम् -ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2.3.53
25. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 1.4.28 ; 2.2.12
26. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.1.3
27. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.1.18

28. सम्बन्धः संभवति, न सदसतोरसतोर्वा, अभावस्य च निरुपाख्यत्वातप्रागुत्पत्ति मर्यादाकरणमनुपपन्नम्। सतां हि लोके क्षेत्र गृहादीनां मर्यादादृष्टा। नाभावस्य -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0। - 2.1.18
29. ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2.1.7-9-18 ; गीताभाष्य - 18, 48
30. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.2.11
31. ब्रहमसूत्र शां0भा0 - 2.2.12
32. वही - 2.2.13
33. ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2.2.14
34. वैशेषिक सूत्र - 1.1.4
35. वैशेषिक सूत्र - 1.1.15-18
36. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.2.17
37. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.2.17
38. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.2.12
39. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.1.18
40. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.2.17
41. वैशेषिक सूत्र - 1.1. 5
42. ज्ञानाधिककणमात्मा - तर्क-संग्रह - पृष्ठ - 9
43. वैशेषिक सूत्र - 3. 2. 5
44. तैत्तरीय उप0 2-1-1
45. "असंड्गो न हि सज्जते" - वृ0उप0 3,9,26
46. 'असात् सर्वभूत' गीता 13,14
47. 'न्यायश्च-गुणवद्गुणवता संसृज्यते' नातुल्यजातीयम् । अतः निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यइत्येतद् न्याय-विरूद्धं भवेत'-केन उप0शां0भा0-2,4
48. वाचस्पति मिश्र - भामती - ब्रह्म-सूत्र शां0भा0 2-2-18 पर ।
49. वैशेषिक - अर्धवेनाशिकत्वसाभ्यात् सर्ववैनाशिकराद्धान्तों नतरामपेक्षिततत्व इतीदमिदानीमुपपादयामः -(ब्रह्म-सूत्र शां0भा0) - 2, 2, 18 ।
50. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.2.18
51. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.2.19
52. वसुवंधु-अभिधर्म-कोश 5.25 - सं0-राहुल सांकृत्यायनः काशी विद्यापीठ, वाराणसी
53. शेरवात्स्की - 'दी सेन्ट्रल कान्सेप्सन ऑफ बुद्धिजम्' पृष्ठ 35
54. भामती - ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.2.18
55. बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृष्ठ 184

56. तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एवाभिप्रेत:। तस्मिन्च विज्ञानवादे बुद्धयारूढ़ेन रुपेणान्तस्थ एव प्रमाण प्रमेय फलव्यवहार: सर्व उपपद्यते । सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्धयारोहमन्तरेण प्रमाणादि व्यवहारनवतारात् ! . . . न विज्ञानव्यतिरिक्तो वाह्योऽर्थोस्तीति ।

-(ब्रह्मसूत्र शां0भा0) - 2.2.28

57. विकत्पमात्रं त्रिभवं बाह्मर्थ न विद्यते । चित्तमात्रावतारेण प्रज्ञा ताथागति मता।

-(लंकावतार सूत्र) पृष्ठ 186, 158

58. न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति । .यथा हि कश्चिद्भुंगजानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ सवयमनुभूयमानायामेवं ब्रयात्-नाहं भुन्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रिसयंनिकर्षेण स्वयमुपलभ्यमान एव वाह्मर्थ नाहमुपलभे, न च सोऽस्तीति ब्रुवन्कथमुपादेयवचन: स्यात् ।

-(ब्रह्मसूत्र शां0भा0) - 2.2.28

59. न, विज्ञानं घट: प्रदीप इति च शब्दार्थपृथक्त्वाद् यावत्, तावदपि बाह्ममर्थान्तरमवश्यमभयुपगन्तव्यम्। विज्ञानादर्थान्तरं वस्तु न चेदभ्युपगम्यते, विज्ञानं घट: पट इत्येवमादीनां शब्दानामेकार्थत्वेपर्यायशब्दत्वं प्रपप्नोति । -(ब्रह्0 उप0शां0) - 4, 3, 7

60. न शक्यते बक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवत् इत्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता । -(ब्रह्मसूत्र शां0भा0) - 2.2.29

61. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2.2.31

62. शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्धतन्निराकरणाय नादर:क्रियते ।-(वृ0उप0शां0भा0)-4.3.7

63. शून्यवादि पक्षस्तु सर्वप्रमाण विप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादर:क्रियते, नहयं सर्वप्रमाण प्रसिद्धो लोक-व्यवहारोऽन्यतत्वतमनधिगम्य शक्यतेऽपन्होतुमपवादाभाव उत्सर्ग प्रसिद्धि :

-(ब्र0सू0शां0का0) - 2.3.31

64. अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपश्चैरप्रपचितम् । निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्वस्य लक्षणम् ।

-(माध्य0का0) - 18,19

65. दिग्देशगुणगतिफलभेद शून्यं हि परमार्थसदव्दयं ब्रह्म --- असत् इव प्रतिभाति

-(छा0उप0शां0भा0)- 8.1.1

66. तत्र अनन्त शब्दोऽन्तवत्वप्रतिशेधव्दारेण विशेषणम् । सत्यज्ञानशब्दौ तु स्वार्थसमर्पणेनैव विशेषणे भवत: । -(तैत्तिरीयोपनिषद शां0भा0) - 2.1.1

67. कि वहुना, सर्वप्रकारेण यथायथाऽयं वैनाशिकासमय उपपत्तिमत्वायपरीक्ष्यते, तथा सिकताकूप वद्विदीर्यते एवं । न कांचिदप्यत्रोपपतिंपश्वाम: । अतश्चानुपपन्नोवैनाश्कि तत्र व्यवहार:। अपि च बाह्यार्थ विज्ञान शून्यवादत्रयमितरेतर विरूद्धमुपदिशता सुमतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषों वा प्रजासु विरूद्धार्थप्रतिपत्या विमुह्येयुरिमा: प्रजाइति। सर्वथा प्यनादरणीयो यं सुगतसम श्रेयष्कातमैरित्यभिप्रय: ।। -(ब्र0सू0शां0भा0) - 2.2.32

68. बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृष्ठ 278
69. भारतीय दर्शन भाग-1, पृष्ठ - 640
70. द सेन्ट्रल फिलासफी ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ 312-313
71. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1 (1969) पृष्ठ 493
72. यत्तु पुद्गंलसंगकेभ्योऽणुभ्य: संघाता: संभवन्तीति कल्पन्ति तत्पूर्वेणैवाणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवतीत्यतो न पृथक्तन्निराकरणाय प्रखत्येते । -(ब्र0सू0शां0भा0) - 2.2.33
73. एवमेवैकत्वनित्यत्वादिष्वणीमं सप्तभंगीनयं योजयन्ति - ब्र0सू0शां0भा0-2.2.33
74. न हि एकस्मिन्धर्मिणि युगपत्सदसत्वादिविरूद्ध धर्म समावेश:संभवति शीतोष्णवत्
-(ब्र0सू0शां0भा0) - 2.2.33
75. ब्रह्मसूत्र रामानुज भाष्य - 2.2.33
76. वही 2.2.33
77. सर्वदर्शन संग्रह - 2
78. शरीरपरिमाणतायां च सत्यामदृत्स्नोऽसर्वगत: परिच्छिन्न आत्मेत्यतोघआदिवत्नित्यत्वमात्मन: प्रसज्येत:।
-(ब्रह्मसूत्र शा0भा0)- 2.2.34
79. ब्रह्मसूत्र शा0भा0- 2.2.34
80. प्रदेशसंहार विसर्गाभ्यां प्रदीपवत् - तत्वार्थ - सूत्र 5/16
81. ब्रह्मसूत्र शा0भा0- 2.2.34
82. ब्रह्मसूत्र शा0भा0- 2.2.37
83. ब्रह्मसूत्र शा0भा0- 2.2.38
84. ब्रह्मसूत्र शा0भा0- 2.2.39
85. नैवाग्र नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत - नागार्जुन
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा - गौड़वाद
न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् -भागवत्
शर्मा चन्द्रधर - 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त' पृष्ठ - 178
86. ब्रह्मसूत्र शा0भा0- 1.1.2
87. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तदब्रह्मेति ।। -(तैत्तिरीयोपनिषद) - 3.1.1
88. ब्रह्मसूत्र शा0भा0- 2.1.25
89. इह तु वाक्यनिरपेक्ष: स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेध: क्रियते - ब्रह्मसूत्र शा0भा0- 2.2.1
90. वेदान्त-सूत्र सेक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट - भाग 34, भूमिका
91. द रिलिजन एण्उ द फिलासफी ऑफ द वेद एण्ड उपनिषद्स - भाग-2 पृष्ठ - 508
92. भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1 पृष्ठ 248-151

7

अद्वैत वेदान्त की प्रमाण-मीमांसा और मनन की भूमिका

अद्वैत वेदान्त में प्रमाण-मीमांसा या प्रामाण्यवाद महत्वपूर्ण विषय माना गया है। न्यायशास्त्र और मीमांसा-दर्शन का मुख्य आधार स्तम्भ ज्ञान का प्रामाण्य सिद्धान्त है। प्रमाण का सूक्ष्म ज्ञान मनन से ही सम्भव है । मनन के द्वारा ही अन्तिम सत् पर पहुँचा जा सकता है। प्रमाण शब्द का मूल शब्द प्रमा है जिससे अप्रमा, प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय, प्रामाण्य आदि शब्द का प्रयोग प्रमाण-मीमांसा के अन्तर्गत किया गया है।

'धर्मराजा ध्वरीन्द्र' ने प्रमा को परिभाषित करते हुए लिखा है कि- अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। अनधिगत का तात्पर्य पूर्व ज्ञात न होना और अबाधित का अर्थ दूसरे प्रमाण से मिथ्या न सिद्ध होने वाला है। इस प्रकार 'प्रमा' वह ज्ञान है, जो यथार्थ हो, मिथ्या ज्ञान न हो । ज्ञान की यथार्थता के विषय में अनेक मत हैं । एक मत के अनुसार जो ज्ञान अर्थवान और सप्रयोजन है वही यथार्थ है दूसरा मत सम्वादी प्रत्यय को यथार्थ ज्ञान मानता है।तीसरा मत कहता है कि जो वस्तु जहां हो वहां उसका अनुभव ही

यथार्थ ज्ञान या प्रमा है और चौथा मत अबाधित ज्ञान को यथार्थ ज्ञान मानता है। चौथा मत ही वेदान्त का मत है ।

पुनः ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है - 1. अनुभूति और 2. स्मृति । वस्तु उपलब्ध होने पर जब उसका ज्ञान होता है तो उसे 'अनुभूति' कहते हैं । यह अनुभूति जब किसी अन्य काल में पुनः बुद्धि में आती है वह ज्ञान स्मृति कहलाता है । स्मृतिकाल में वस्तु उपलब्ध होना आवश्यक नही है । सामान्यतः इस स्मृति ज्ञान का प्रमा नही माना जाता है । अनुभूत ज्ञान को ही प्रमा कहना चाहिए । इस प्रकार प्रमा कराने वाले साधन को प्रमाण कहते हैं । अर्थात् प्रमा का जो अपेक्षित होता है । जैसे - प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियां और बुद्धि ही प्रमाण होते हैं । 'यह घट है - इस प्रमा का साधन नेत्र है । इसलिए नेत्र घट का प्रमाण है । बुद्धि आदि भी ज्ञान के साधन हैं, किन्तु इनकी आवश्यकता सभी प्रकार के ज्ञान में होती है, अतः ज्ञान का जो विशेष साधन है उसी को प्रमाण मानते हैं, अन्य साधारण साधनों को नहीं ।

प्रमा से ही प्रमाता और प्रमेय दो पक्ष उत्पन्न होते हैं जिन्हें क्रमशः ज्ञाता और ज्ञेय कहते हैं । जिसे ज्ञान होता है वह प्रमाता है और जिस वस्तु का ज्ञात होता है उसे प्रमेय कहते हैं । इस प्रकार प्रमाता को प्रमाण के द्वारा किसी प्रमेय का जब ज्ञान होता है तो वह प्रमा कहलाता है ।

सामान्य अनुभव से सिद्ध है कि प्रमाता चेतन विशिष्ट होना चाहिए, जड़ वस्तु प्रमाता नही हो सकती । उपनिषदों के अनुसार प्रमाता एकमात्र ब्रह्म है क्योंकि वही चेतना सत्ता का ज्ञानस्वरूप है । तैतरीय उपनिषद् के अनुसार सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है । वही बुद्धि और समस्त इन्द्रियों में व्याप्त होकर नानात्व का प्रमाता होता है । इतना ही नही समस्त प्रमेय भी उस ब्रह्म रूप में ही है । इसका तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष चैतन्य सत्ता ही

बुद्धि, आदि से उपहित होकर प्रमाता और उसकी अपेक्षा से नानात्वपूर्ण विषय प्रमेय बनते हैं ।

निरपेक्ष सत् से ही आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है । इन पंच महाभूतों से औषधि, अन्न और प्राणियों के शरीर निर्मित हुए, यही सब प्रमेय है । जब प्रमाता और प्रमेय ब्रह्म के ही दो पक्ष हैं, तो प्रमा भी ब्रह्म रूप ही है । इस तथ्य का निरूपण समष्टि और व्यष्टि दो रूपों में हो सकता है । ब्रह्म अपनी समष्टि 'माया' की उपाधि से ईश्वर नाम से प्रसिद्ध होता है और समस्त रूपात्मक सृष्टि प्रमाता बनकर सर्वज्ञ कहलाता है । जीव उसका व्यष्टि रूप है और यह अपनी सीमित उपाधियों से सीमित ज्ञान का अधिकारी होता है, अतः वह अव्यय है । किन्तु जीव अपने वास्तविक स्वरूप में निरूपाधिक चैतन्य ब्रह्म ही है । अपनी हृदय-गुहा में जो व्यक्ति आकाश के समान अनन्त चैतन्य सत्ता को जानता है वह ब्रह्म के साथ एक होकर सम्पूर्ण प्रमेयों का ज्ञाता बनकर सर्वज्ञ हो जाता है । जीव की अल्पज्ञता सीमित उपाधियों के कारण है । यदि वह उन उपाधियों का त्याग कर समष्टि उपाधि धारण कर ले तो ईश्वरत्व रूप में वह सर्वज्ञ हो सकता है । इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाता, प्रमेय और प्रमा का भेद उपनिषद् के ऋषियों की दृष्टि में उपाधिजन्य है और उपाधियां नामरूप मात्र है । निरूपाधिक चैतन्य में कोई भेद सम्भव नही है ।

प्रमाणिकता के दृष्टिकोण से समस्त उपनिषदों को दो वर्गो में बाँटा जा सकता है - 1. मंत्रोपनिषद और 2. ब्राह्मणोपनिषद् । स्वामी चिन्मयानन्द के अनुसार मन्त्रोपनिषद् ऐसे धार्मिक-ग्रन्थ हैं जिनका ज्ञान समाधिस्थ ऋषियों को ध्यानावस्था के क्षणों में दैवी प्रेरणा के द्वारा मंत्र रूप में हुआ । वह ज्ञान मानो किसी अज्ञात दूरस्थ स्थान से शुद्ध रूप में अवतरित हुआ । यही कारण है कि

मंत्र सदैव काव्य-रूप में होते हैं और जिस ऋषि को उनकी प्रेरणा होती है वह उनका रचयिता होने का दावा नही करता क्योंकि इनकी रचना के लिये नेक मन या बुद्धि ने स्वयं कोई प्रयास नही किया । दीप्त प्रमान अनुभवों के क्षणों में वह ज्ञान उनके हृदय में तब प्रकट हुआ जब वे अपने मनोमय और विज्ञानमय कोषों की सीमा पार कर चुके थे । हिन्दू दार्शनिक इस सहज ज्ञान में प्राप्त मंत्रो को विशेष मान्यता देता है । ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस ज्ञान की विस्तृत व्याख्या की गयी है । इस दृष्टि से ईशावास्य, मुण्डक आदि उपनिषद् मंत्रोपनिषद् हैं और बृहदारण्यक, प्रश्न आदि उपनिषद् ब्राह्मण उपनिषद् हैं । इन दो प्रकार के उपनिषदों में जब कभी विपरीत विचार मिलते है तब मंत्रोपनिषद् में दिये हुए पाठ को ही अन्तिम रूप से मान्यता दी जाती है ।

कुछ आचार्यो ने शब्द प्रमाण के दो भेद माने हैं - 1. लौकिक और 2. अलौकिक । उस दृष्टि से मंत्रोपनिषद अलौकिक शब्द प्रमाण माने जा सकते हैं और ब्राह्मण उपनिषद लौकिक शब्द प्रमाण । यह विभाजन केवल शब्द की उत्पत्ति का स्थान देखकर किया गया है, प्रामाण्य विषय को दृष्टि में रखकर नहीं। ऋषियों ने जब मन एवं बुद्धि के परे पहुंचकर जिस ज्ञान को प्राप्त किया वह मंत्र या अलौकिक शब्द प्रमाण कहा जा सकता है । मन एवं बुद्धि के स्तर पर अनुभव किया गया और समझा गया परम तत्व विषयक ज्ञान ब्राह्मण या लौकिक शब्द प्रमाण है । किन्तु, ये दोनों ही प्रकार के शब्द-प्रमाण परमार्थ विषयक होने के कारण और संशयरहित होने से अलौकिक शब्द प्रमाण ही सर्वत्र सामान्यतः माने जाते हैं । लौकिक शब्द प्रमाण वही होता है जो देहाभिमानी व्यक्ति इसी लोक के संबंध में कोई घटना या वस्तु का उल्लेख करते हुए बोलता है ।

परमात्मा का ज्ञान कराने में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही उपनिषद् सहायक हैं। इनके द्वारा परम तत्व उसी दशा में प्रकाशित होता है जब अन्तःकरण शुद्ध होता है । ज्ञान होने पर शब्दों की कोई उपयोगिता नही रह जाती है ।

उपनिषद् स्वतः शब्द-प्रमाण है । ऋषियों ने अपनी आन्तरिक अनुभूति का जो वर्णन किया है वह प्रमाण ही है । उनकी अनुभूति प्रत्यक्ष आदि पर आधारित नहीं है । वे उसका निषेध करते हैं।

श्वेतोश्वतर उपनिषद् के ब्रह्मवेत्ताओं ने प्रमाणान्तर से ज्ञात न होने वाले उस परमतत्व के विषय में अन्य किसी विधि या उपाय की गति न देखकर ध्यान योग अर्थात् मनन के अनुशीलन द्वारा उस परम मूल कारण को स्वयं ही अनुभव से जान लिया ।

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणेर्निगुणः ।

यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक ।।[1]

अर्थात् ऋषियों ने ध्यानयोग का अनुवर्णन कर अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया । वह परमात्मा अकेले ही काल से लेकर आत्मापर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठान है । इस उपनिषद् में श्रुति उस ध्यान-विधि का भी उल्लेख करती है जिसके द्वारा अधिकारी व्यक्ति ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की तरह परम-तत्व के दर्शन अपने हृदय में कर सकते हैं । उसका दर्शन शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही होता है। नेत्रों से तो उसे देखा ही नहीं जा सकता, क्योंकि उस तत्व का अपना कोई रूप नहीं है। इसलिये उस तत्व को मनन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ।

"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं बिदुरमृतास्ते भवन्ति ।।"[3]

उपनिषदों में अनुमान प्रमाण भी प्राप्त होता है । वे अनुमान प्रमाण का प्रयोग तो करते हैं, किन्तु परमतत्व के प्रतिपादन में उसे असमर्थ मानते हैं -"नेषां तर्केण मतिरापनेया"[4] अर्थात् तर्क के द्वारा बुद्धि उसे नहीं प्राप्त कर सकती है । छान्दोग्य-उपनिषद् में अरूणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को शिक्षा देते हुए अनुमान-प्रमाण का प्रयोग करता है । रात्रि में जो नमक जल में डाला था वह जल में ही घुल गया । अब उस नमक को नेत्रों से नहीं देख सकते । अनुमान से ज्ञात है कि नमक जल में घुला हुआ विद्यमान है । जिह्वा की स्वाद-इन्द्रिय से उसे चखकर प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है । जो नेत्र के लिए अनुमान का विषय है वह जिह्वा के लिए प्रत्यक्ष है । इसी प्रकार वह सत् भी निश्चय ही वहीं विद्यमान है, तू उसे देखता नहीं है - "सत्सोम्य न निभात्मयसेऽत्रैव किलेति", परन्तु वह विद्यमान अवश्य है।[5] जिस प्रकार जल में घुला नमक प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी अनुमान का विषय हो सकता है, वैसे ही परमसत् प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय न होने पर भी अन्य प्रकार से जाना जाता है ।

शंकराचार्य ज्ञान को कर्म से स्वरूपतः पृथक् लक्षण बताते हैं और उसे वस्तुतंत्र कहते हैं । इसके विपरीत कर्म पुरुषतंत्र है । ज्ञान किसी भी प्रमाण से होने वाला किसी भी लौकिक एवं अलौकिक वस्तु का हो वह सदा वस्तु तंत्र होगा। "वस्तुतंत्र मेव तत्"[6] अर्थात वह ज्ञान वस्तु के अधीन है । इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु के अनुकूल ज्ञान होने पर ही वस्तु का ज्ञान कहलायेगा । यदि वस्तु विद्यमान हो और उसे प्रकाशित करने वाला प्रमाण भी हो तो ज्ञान अवश्य होगा ।

कर्म से ज्ञान की तुलना कर शंकर ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है । कर्म करने, न करने अथवा अन्यथा करने में पुरुष स्वतंत्र है ।[7] यदि कोई विकल्प होता है तो वह पुरुष बुद्धि की अपेक्षा से होता है, किन्तु सिद्ध वस्तु का यथार्थ

ज्ञान पुरूष बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता, वह तो सिद्ध वस्तु के अधीन है । इसी आधार पर प्रमा और अप्रमा भी निर्धारित किये जा सकते हैं । एक स्थाणु में स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य कुछ है, यह मिथ्याज्ञान (अप्रमा) है । 'स्थाणु ही है' यह यथार्थ ज्ञान प्रमा है क्योंकि यह ज्ञान वस्तु के अधीन है। इसी प्रकार सिद्धवस्तु विषयक ज्ञानों का प्रामाण्य वस्तु के अधीन है ।

लौकिक वस्तुओं का ज्ञान ही वस्तु-तंत्र नहीं है, अपितु ब्रह्म ज्ञान भी वस्तु के अधीन है । यहां ब्रह्म ही वह वस्तु है जिसका ज्ञान होता है । यदि यह शंका हो कि सिद्ध वस्तु होने से ब्रह्म अन्य-प्रमाण विषय होने के कारण है, तो वेदान्त वाक्यों का विचार विफल होगा, तो इस पर शंकराचार्य का मत है कि ऐसा मानना युक्त नहीं है। ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतः अन्य प्रमाणों से उसका जगत् रूप कार्य के साथ संबंध ग्रहण नहीं होता ।[9]

ज्ञान वस्तु तंत्र मानने से ज्ञान और स्मृति का भेद स्पष्ट हो जाता है । शंकर स्मृति को ज्ञान नहीं मानते हैं । वस्तु के उपलब्ध होने पर ज्ञान होता हे, किन्तु स्मृति मे वस्तु उपलब्ध नहीं होती । स्मृति में पूर्वज्ञात वस्तु ही कल्पना रूप में आती है, वस्तु यथार्थ में ज्ञान का विषय नहीं बनाती है।

शंकर ज्ञान को दो वर्णो में विभाजित करते हैं। 1. लौकिक और 2. पारमार्थिकलौकिक ज्ञान में वेद्य, वेदितृ एवं वेदना का भेद रहता है । इस प्रकार ज्ञान में ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ये भिन्न होता है ।[10] इसी आधार पर शंकर बुद्धि की विषयाकार वृत्तियों से उनके साक्षी को पृथक् मानते हैं । वृत्तियां नाना रूप है और उनका साक्षी सदा एकरूप है, यह अनुभवसिद्ध है । विज्ञान में उत्पत्ति, नाश और अनेकत्व आदि विशेष स्वीकार किये जाते हैं, अतः प्रदीप के समान विज्ञान भी अन्य से अवगम्य है, ऐसा हमने सिद्ध किया है।[11] बाह्य

वस्तुओं से बुद्धि वृत्तियों तक समस्त ज्ञान ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में विभक्त है । यह लौकिक ज्ञान है । पारमार्थिक ज्ञान सम्यक्-ज्ञान है, जिसमें यह भेद नहीं रहता । 'ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्व दर्शनम्'[12] । अर्थात् परमार्थ-दर्शन ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के भेद से परे है । इसीलिए श्रुतियां कहती हैं कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है । उसमें अनेकत्व का बोध नहीं होता ।

'शंकराचार्य ज्ञान के प्रमाण तीन अथवा छः मानते हैं - इस पर विद्वानों में मतभेद है । डॉ0 राधाकृष्णन का मत है कि शंकर ज्ञान के तीन स्रोतों का उल्लेख करते हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र प्रमाण । उनके परवर्ती विचारकों ने उनमें तीन और जोड़ें - उपमान, अर्थापत्ति और अभाव । लेकिन शंकर स्वयं छः प्रमाण मानते हैं और कहते हैं कि न केवल कर्म द्वारा और न कर्म-ज्ञान समुच्चय द्वारा ही मुक्ति सम्भव है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है । 'न **प्रमाणाभावात् । तत्र हिं कर्मण उक्तविषय व्यतिरेकेण विषयान्तरे सामर्थ्यारिक्तत्वे प्रमाणं न प्रत्यक्षं नानुमानं नोपमानं नार्थापत्तिनं शब्दोस्ति ।**"[13] अर्थात् इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यहां कर्म से उक्त विषयों से भिन्न किसी अन्य विषय में सामर्थ्य होने का न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है, न उपमान है, न अर्थापत्ति और न शब्द-प्रमाण है। यहाँ मात्र अनुपलब्धि का उल्लेख नहीं आया है । ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने उस पर विचार किया है ।[14] डॉ0 दासगुप्ता भी स्वीकार करते हैं कि वेदान्त कुमारिल भी भांति स्वतः प्रामाण्यवाद मानता है।

शंकराचार्य ने इन सब प्रमाणों को अविद्या-काल में ही उपयोगी या प्रामाण्य माना है । कोई ज्ञान तभी तक सत् माना जाता है जब तक उस का बाध नहीं होता । अतः संसार की प्रतीति अभी सत् होते हुए और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होते हुए भी उस समय मिथ्या हो जाती है जब ब्रह्मज्ञान से उसका बाध

हो जाता है । तत्वज्ञान की अवस्था में नानात्व शेष नहीं रहता । इसलिए जगत्-ज्ञान व्यावहारिक सत् होते हुए भी परमार्थतः सत् नहीं है । परमार्थ सत् ही निपरेक्ष सत् है ।

शंकराचार्य का मत है कि अविद्या से युक्त प्रमाता ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का आश्रय होता है, इंद्रियादिरहित आत्मा का न प्रमातृत्व उत्पन्न होता है और न उसमें प्रमाण की प्रवृत्ति ही सम्भव है । इन्द्रियों का प्रयोग किये बिना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार सम्भव नहीं होते और अधिष्ठान के बिना इंद्रियों का व्यवहार सम्भव नहीं होता । अनध्यस्त आत्मभाव वाले शरीर से कोई व्यापार नहीं कर सकता । तात्पर्य यह है कि असंग आत्मा में प्रमातृत्व उत्पन्न नहीं होता, प्रमाता के अभाव में प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र आदि अविद्वानों का ही आश्रय करते हैं ।[16]

स्पष्टतः कहा जा सकता है कि – अद्वैतवेदान्त में छः प्रमाणों को स्वीकार किया गया है –17

1 प्रत्यक्ष प्रमाण।

2. अनुमान प्रमाण।

3. उपमान प्रमाण।

4. शब्द प्रमाण।

5. अर्थापत्ति प्रमाण।

6. अनुपलब्धि प्रमाण ।

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण :

शंकराचार्य इन्द्रिय और उनके विषयों के सम्पर्क को प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं । गीता में इन्द्रिय का पर्यायवाची शब्द 'मात्रा' प्रयुक्त है। इसका अर्थ निरूपण करते हुए शंकराचार्य का मत है कि 'मात्रा' वे हैं जिनसे शब्दादि विषय जाने जाते हैं।

इन्द्रियां और शब्दादि के संयोग से शीतोष्ण आदि का ज्ञान होता है।"[19] इन्द्रिय होने मात्र से कोई ज्ञान नहीं हो जाता है । प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ, दीवार, घट, पट इस प्रकार बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है । उसके अभाव में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इसी प्रसंग में शंकराचार्य विज्ञानवादियों के इस मत का खण्डन करते है कि प्रत्यक्ष व्यक्ति की अपनी मानसिक क्रियामात्र है और अनुभव में आने वाले विषय बाह्य नहीं होते हैं । स्पष्ट है कि शंकर प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय को ज्ञाता से मिलकर स्वतंत्र रूप से विद्यमान मानते हैं । प्रत्यक्ष के साथ ही यह बोध होता है कि घट आदि बाह्य रूप में विद्यमान है ।

इन्द्रियों के विषय मात्र रूपरंग वाले ही नहीं हैं अपितु शब्द, स्पर्श रूप, रस और गंध भी है । इसलिए सब प्रकर के विषयों का ज्ञान पांच ज्ञानेन्द्रियों से होता है । ज्ञानेन्द्रियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य है ।[20] लेकिन मात्र इन्द्रियों से ही विषय का ज्ञान नहीं हो सकता । इंन्द्रियों के साथ मन का होना भी आवश्यक है तभी इंद्रियाँ विषयों को ग्रहण कर सकती है। "-न्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानं"[21] अर्थात् इन्द्रिय और मन के द्वारा ही वस्तु को विज्ञान होता है ।

शंकराचार्य 'मन' को श्रुति और स्मृति-प्रमाण आधार पर श्रोत्रादि के समान इन्द्रियरूप में स्वीकार करते हैं । जैसे इन्द्रिय बाह्यकरण है, वैसे ही मन अन्तःकरण है । इन दोनों के एक-साथ होने पर वस्तु का प्रत्यक्ष होता है । अन्तःकरण भिन्न-भिन्न स्थलों पर मन, बुद्धि, विज्ञान, चित्त आदि नामों से जाना जाता है। प्रत्यक्ष से सन्दर्भ में शंकराचार्य अन्तःकरण की भूमिका आवश्यक मानते हैं। 'मन' इन्द्रिय के द्वारा विषय का ग्रहण करके विषयाकार वृत्ति धारण करता है। शंकर इसे मनः प्रचार कहते हैं ।[22] अतः प्रत्यक्ष-ज्ञान वृत्तिजन्य ज्ञान है। शंकर के शब्दों में "इन्द्रियाणां स्व स्वविषयेषु प्रवर्तमानानां मनः अनुप्रवर्तते"।[23]

अर्थात् इन्द्रियों के अपने-अपने विषय में प्रवर्तित होने पर मन उनका अनुवर्तन करता है।

इन्द्रियां पाँच है, किन्तु मन एक ही है, इसलिए शंकर मन को 'सर्वकरण साधारण' कहते हैं । सभी इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले विषयों को ग्रहण कर तद्रूप धारण करने का सामर्थ्य मन में है । मन में जिस विषय की वृत्ति निर्मित होती है वह आत्म चैतन्य से प्रकाशित होकर उस विषय का बोध कराती है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण की अपनी सीमा है। इसके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नही हो सकता। शंकर के अनुसार इन्द्रिय स्वभाव से विषयविषयक है, ब्रह्मविषयक नहीं । यदि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय होता तो यह जगद्रूप कार्य ब्रह्म के साथ सम्बद्ध है, ऐसा ग्रहीत होता । किन्तु जगत् रूप कार्य ही इन्द्रियों से ग्रहीत होता है।[24] यदि प्रत्यक्ष के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता है तो इसमें प्रत्यक्ष का दोष नहीं है क्योंकि शंकराचार्य के अनुसार 'स्वविषयशूराणि हि प्रमाणामि श्रोत्रादिवत्।[25] अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों के समान सभी प्रमाण अपने अपने विषय में प्रबल होते हैं। ब्रह्म के विषय में प्रत्यक्ष नहीं, अपितु शास्त्र ही प्रमाण है ।प्रत्यक्ष विषय में शास्त्र भी प्रमाण नही माना जा सकता। 'अग्नि शीतल होती है' या 'सूर्य नहीं तपता,' यह अनेकों उदाहरणों से भी प्रतिपादित नहीं हो सकती। एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विरोध नही होता। जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं जानी जाती उसी को दूसरा प्रमाण बतलाता है।

यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण से नानात्व का ज्ञान होता है और शास्त्र प्रमाण से अद्वैत का । किन्तु दोनों प्रमाणों में विरोध नहीं है । शंकराचार्य ने प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रयोग किया है और उसके विषय में उनकी एक निश्चित धारणा थी । लेकिन इसके प्रति उन्होने न तो गहन मीमांसा किया न कि स्वतंत्र रूप से विचार किया।

प्रत्यक्ष प्रमाण में चैतन्य, करण और विषय तीन पक्ष निहित होते हैं ।प्रत्यक्ष ज्ञान होने में इनमें किसकी प्रधानता है आगे इन सबका कितना योगदान है - इन प्रश्नों पर विचार करते हुए विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थान में भेद है । विवरण प्रस्थान की धारा विषय को प्रधानता देती है और भामती-प्रस्थान की धारा करण को । दोनों धाराओं के मतभेद का उल्लेख वेदान्त-परिभाषाकार ने इस प्रकार किया है-"प्रत्यक्ष ज्ञान की विशेषता करण के कारण नहीं है, किन्तु वह प्रमेय से विशेषित होती है।'' यह पहले मत में प्रतिपादित किया गया है । दूसरे मत का यह आशय है कि कारण से विशेषित होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह विषय से विशेषित नहीं होता।[26]

पद्मपादाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'पंचपादिका' मे प्रत्यक्ष में विषय की प्रधानता बतलाते हुए कहा है कि -"**अन्तरपरोक्षानुभवात् न विषयस्था परोक्षता भिद्यते।**"[27] अर्थात् अन्तःस्थित अपरोक्ष अनुभव से विषय की अपरोक्षता भिन्न नहीं है । यहां अपरोक्ष का अर्थ प्रत्यक्ष है । अन्तःकरण में प्रतिबिम्बत विषय प्रत्यक्ष होता है । इसी को विषय का प्रत्यक्ष होना कहते हैं । प्रत्यक्ष की इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में पद्मपाद का मत है - 'अन्तरपरोक्षानुभवावगुण्ठित' एवं जागरणेऽव्यर्थोऽनु भूयते । अन्यथा जडस्व प्रकाशानुपपत्तेः । यथाऽवगुष्ठितो घटः प्रदीप प्रभावगुण्ठनमन्तरेण न प्रकाशो भवति।"[28] अर्थात् अन्तःस्थित अपरोक्ष से अवगुण्ठित होकर ही जागृत अवस्था में विषय अनुभूत होता है, अन्यथा जड़ वस्तु का प्रकाशित होना सिद्ध न होगा।

विषय अन्तःकरण में दो दशाओं में उपलब्ध हो सकता है- (a) अव्यवहित रूप से और (b) व्यवहित रूप से । पहले रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।और दूसरे रूप में अनुमान ज्ञान । समीप में विद्यमान घट अव्यवहित रूप से प्राप्त है, किन्तु पर्वत के पीछे की अग्नि व्यवहित रूप से उपलब्ध होती है ।

दूसरा मत, वाचस्पति, अमलानन्द, और अप्पय दीक्षित का है जिसके अनुसार प्रत्यक्षत्व ज्ञानमत है । वाचस्पति कहते हैं - 'अन्य कारण से अन्य कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती। यदि नहीं तो कुटज के बीज से वट वृक्ष का उगना प्रसक्त होगा। इसलिए कारण पर ही कार्य का स्वरूप निर्भर हैं। इसी न्याय से कोई भी प्रमा विशेष रूप से 'प्रत्यक्ष प्रमा' तभी कहलाती हैं जब उसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण हो।[29] प्रत्यक्ष ज्ञान किसी अन्य ज्ञान में उत्पन्न नहीं होता । अनुमान ज्ञान से धूम्रपान-ज्ञान से अग्नि-ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहलाता। इसी मत का समर्थन करते हुए अमलानन्द ने 'वेदान्त-कल्पतरु' मे कहा है - "अपरोक्ष प्रमा के हेतु से उत्पन्न होना ही ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का नियामक है। शब्द अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करने का हेतु नहीं है।[30]" अप्पय दीक्षित के अनुसार "जो अपना विषय नहीं है उसे विषय करने वाले ज्ञान से न उत्पन्न होने वाला ज्ञान होना ज्ञानगत अपरोक्षत्व है।[31]" ज्ञान का कोई विषय प्रत्येक ज्ञान में होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में उस विषय का प्रथम या सीधा ज्ञान होता है। अनुमानादि अन्य प्रकार के ज्ञानों में एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय न बने हुए वस्तु को अवलम्बन न बनाकर उत्पन्न हुआ ज्ञान है- "स्वविषयविषयक ज्ञान" । वह ज्ञान जो स्वविषयक हैं, वही प्रत्यक्ष ज्ञान है।

प्रत्यक्ष की इस ज्ञानगत परिभाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह नीलकमल है इसे प्रत्यक्ष ज्ञान न माना जायेगा क्योंकि नील विशेषण के ज्ञान से जन्य कमल का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इसके समाधान में परिमलकार कहते है "न च विशिष्ट ज्ञानं विशेषण ज्ञानजन्यमित्यभ्युपगो" अर्थात् विशिष्ट ज्ञान विशेषण ज्ञानजन्य नहीं होता है । नीलकमल के प्रत्यक्ष होने में प्रत्यक्ष के किसी अविषय अंश का उपयोग नहीं किया गया है । जैसे दो भिन्न

वस्तुओं का एक साथ प्रत्यक्ष हो सकता है, वैस ही 'नील' और 'कमल' को एक साथ प्रत्यक्ष होकर दोनों की एकता भी प्रत्यक्ष होती है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण का भिन्न प्रकार से भी विभाजन हो सकता है -- 1. सविकल्प और 2. निर्विकल्प । न्याय आदि कुछ अन्य दर्शनों भी यह विभाजन स्वीकार किया गया है । वेदान्त का दृष्टिकोण उनसे पृथक् है विकल्प को विषय करने वाला ज्ञान सविकल्प है। जैसे मैं घट को जानता हूं, तात्पर्य यह है कि सविकल्प ज्ञान में ज्ञेय वस्तु की विशिष्टता ज्ञात होती है । जैसे - यह पट नहीं, घट है" - इस ज्ञान में वस्तु की विशेषता घट है । यदि वस्तु की विशिष्टता ज्ञात न हो तो वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष है । अर्थात् विशेषण-विशेष्य संबंध (वैशिष्ट्य) को विषय न करने वाला ज्ञान 'निर्विकल्प ज्ञान' कहलाता है । जैसे - सोडयं देवदत्तः', 'तत्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।[33] इस ज्ञान में सविकल्पक ज्ञान की तरह घटरूप विशेषण से विशिष्ट ज्ञान को विषय करने वाला "मैं घट को जान रहा हूं" ऐसा वैशिष्ट भाव ग्राही ज्ञान नही होता ।

इन्द्रियजन्य और इन्द्रियाजन्य-भेद से भी प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है।[34] सुखादि का प्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है । घ्राण, रसना, चक्षु, श्रोत्र और त्वचा में पांचों इन्द्रियां अपने अपने विषय से संयुक्त होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करती है । घ्राण, रसना और त्वक् तीन इन्द्रियाँ अपने स्थान में स्थित रहकर ही गन्ध, रस और स्पर्श विषयों का क्रमशः प्रत्यक्ष अनुभव उत्पन्न करती है, परन्तु चक्षु और श्रोत्र दो इन्द्रियां स्वयं ही जहां विषय हो वहां जाकर अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती है । इन्हें इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष कहते हैं ।

(ख) अनुमान :

अनुमान दूसरा प्रमाण है जिसे शंकर सहित सभी षड्दर्शनकारों ने स्वीकार किया है और अपने भाष्यों में उसका प्रयोग भी किया है । एक दृष्टि से वे प्रत्यक्ष और अनुमान का समतुल्य समझते हैं । अनुमान प्रमाण से ज्ञान द्वारा विषय नानात्वपूर्ण जगत् ही है। हमारे निकट की वस्तुयें जो इन्द्रियों के कार्य क्षेत्र में आ सकती हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण से जानी जाती हैं, किन्तु दूर की वस्तुयें जहां तक इन्द्रियों की गति नहीं है, अनुमान के द्वारा जानी जाती हैं । इसलिए प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों की अव्यभिचारिता (सामंजसता) में विरोध नहीं होता है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है ।[35] अनुमान का शाब्दिक तात्पर्य यह है कि 'अनु'-बाद में, 'मान'-ज्ञात। अर्थात् एक ज्ञान (प्रत्यक्ष) के आधार पर दूसरा ज्ञान प्राप्त होना अनुमान का लक्षण है ।

अनुमान प्रमाण की विशिष्टता 'लिंग' है, जैसे प्रत्यक्ष में विषय के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष । अनुमान प्रमाण में ज्ञेय पदार्थ के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं होता। दूरस्थ या व्यवहित विषय भले ही इन्द्रियों की परिधि में न हो, किन्तु उसका कोई लिंग इन्द्रियगोचर होना चाहिए । लिंग के अभाव में अनुमान नही हो सकता । 'लिंगाअभावात् नानुमानादीनाम्'।[36] अर्थात् लिंग आदि का अभाव होने से (ब्रह्म) अनुमान आदि का विषय नहीं है । दृष्ट अर्थ के साम्य से अदृष्ट पदार्थ का समर्थन करने वाला तर्क अनुभव के सन्निहित है ।

नैयायिक परार्थानुमान के पांच अंग मानते हैं - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन । किन्तु मीमांसक इन पांच अंगों के स्थान पर तीन अंगों तक ही सीमित करते हैं । वे तीन अंग - प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त हैं । शंकर ने पांचों अंगों को स्वीकार किया है और उसका प्रयोग भी किया है ।

शंकराचार्य ने इन पांचों अंगों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है [37]-

1. जाग्रतदृश्यानां भागनां वैतथ्यम् (जगत में देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं)- इति प्रतिज्ञा

2. दृश्यत्वात् (दृश्य होने के कारण) - इति हेतु:

3. स्वप्नदृश्यभाववत् (स्वप्न में देखें हुए पदार्थो के समान) - इति दृष्टान्त:

4. यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भवानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टुम् (जिस प्रकार वहां स्वप्न में देखे हुए पदार्थो का मिथ्यात्व है उसी प्रकार जाग्रत में भी उनका दृश्यत्व समान रूप से है) - इति हेतुपनय:

5. तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतम् (अत: जागृति में भी उनका मिथ्यात्व माना गया है । - इति निगमनम्

शंकराचार्य उपर्युक्त पांचों अवयवों के स्वीकार करते है, किन्तु उन्होनें सर्वत्र इन पांचो अवयवों का अनिवार्य रूप से प्रयोग नहीं किया है । उन्होने अधिकांश स्थलों में प्रथम तीन अवयवो का ही प्रयोग किया है । अनुमान प्रमाण की उपयोगिता और प्रामाण्य शंकर को व्यावहारिक जीवन में मान्य हैं । परमार्थ ज्ञान में भी शंकर अनुमान का उपयोग एक सीमा तक स्वीकार करते हैं । वह अन्तिम प्रमाण नहीं है । उसके लिए शास्त्र ही अन्तिम प्रमाण है, किन्तु शास्त्रानुकूल तर्क स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है ।

अनुमान की परिभाषा देते हुए वेदान्त परिभाषाकार लिखते हैं -"अनुमिति प्रमा का कारण ही अनुमान है।[38]" और 'अनुमति प्रमा व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न होती है । यद्यपि व्याप्ति ज्ञान से अनुमिति ज्ञान सम्भव है; तथापि ज्ञान का संस्कार अवान्तर व्यापार है ।[39]"

व्याप्ति की परिभाषा, इस प्रकार दी जाती है - "व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा' अर्थात् समस्त साधनों का जो आश्रय है और उसके आश्रित जो साध्य है उससे हेतु का समानाधिकरण ही

व्याप्ति है। धूम का आश्रय 'पर्वत' है और पर्वत के आश्रित अग्नि (साध्य) है। धूम .और अग्नि में, साधन और साध्य में समानाधिकरण ही व्याप्ति है । धूम (साधन) का आश्रय पर्वत है और पर्वत के आश्रित अग्नि (साध्य) है । धूम और अग्नि में, साधन और साध्य में समानाधिकरण है । यही व्याप्ति है । व्याप्ति में व्यभिचार दर्शन न होकर सदा सहचार दर्शन होना आवश्यक है।[40]"

नैयायिक तीन प्रकार के लिंग मानते हैं -

1. केवल अन्वयी
2. केवल व्यतिरेकी
3. अन्वयव्यतिरेकी ।

वेदान्त परिभाषाकार अनुमान को एक अन्वयीरूप ही स्वीकार करते हैं । नैयायिकों के लिंग-विभाजन का खण्डन किया गया है ।[41] अनुमान को दो भोगों में बाटां गया है - स्वार्थ और परार्थ। लेकिन परार्थानुमान में पांच अवयवों के स्थान में तीन अवयव ही माने गये है।[42]

(ग) उपमान प्रमाण :

वेदान्तपरिभाषाकार ने उपमान का लक्षण निम्न प्रकार से दिया है- 'तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्। तथा हि प्रांगणेषु (नगरेषु) दृष्टगोपिण्ड्स्य पुरुषस्य वनगतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिरयं पिण्डो गोसदृश इति तदनन्तरं च भवति निश्च्ययो नेन सदृशी मदीया गौरिति। तत्रा न्वयण्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्य ज्ञानं करणं गोनिष्टगवय सादृश्य ज्ञानं फलम् ।[43]

सादृश्य प्रमा के कारण को उपमान कहते हैं। उपमान प्रक्रिया इस प्रकार से निष्पन्न होती है - जिस पुरूष ने प्रांगण या नगर में गाय का अवलोकन किया हो और वही व्यक्ति अरण्य में जाकर गवय को जब देखता है तो उस समय

उसे 'अयपिण्डोगोसदृशः' – यह पिण्ड गाय जैसा है, गाय के सदृश हैं, ऐसा ज्ञान होता है। तत्पश्चात् उसे 'अनेक सदृशोमदीयागोः' 'इस गवय जैसी मेरी गाय है,' यह निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इन दोनों ज्ञानों में से अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर गवय मे होनेवाला जो गो सादृश ज्ञान है, वह करण है अर्थात् उपमान प्रमाण है और गोनिष्ठ गवय का सादृश्य ज्ञान फल अर्थात् उपमिति है।

यहां पर सादृश ज्ञान को प्रमा और प्रमाण दोनों का बोधन किया गया है। यद्यपि दोनों ही सादृश ज्ञानरूप है, तथापि उनमें भेद है। प्रमाण रूप सादृश ज्ञान में गाय की गवय से उपमा दी गई है। अर्थात् इस ज्ञान में गाय उपमान और गवय उपमेय है। प्रमिति रूप सादृयश्य ज्ञान में गाय को गवय की उपमा दी गई है। प्रत्यक्ष अनुमान आदि से विलक्षणता रखने के कारण वेदान्ती इसे स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं।

(घ). शब्द प्रमाण :

आत्मा का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से और न अनुमान प्रमाण से ही जाना जा सकता है। उसका अपरोक्ष ज्ञान शब्द प्रमाण से ही जाना जाता है । आत्मा या ब्रह्म अनुरूप होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और उसका कोई लिंग न होने के कारण वह अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता । उसका ज्ञान शब्द प्रमाण से ही होता है।

शब्द प्रमाण दो प्रकार का हो सकता है – 1. लौकिक और 2. अलौकिक। जब किसी लौकिक वस्तु या घटना के विषय में किसी आप्त पुरूष से ज्ञान प्राप्त होता है, तो ज्ञान का यह साधन लौकिक शब्द प्रमाण है । शंकराचार्य के अनुसार अलौकिक शब्द प्रमाण आगम ही है जिससे परमार्थ वस्तु

का बोध होता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पर तत्व का बांध सम्भ्व नहीं हैं, उसका ज्ञान तो "'आगम' द्वारा ही सम्भव है।

वेदान्त के महावाक्यों का अर्थ लक्षणावृत्ति से किया जाता है । अन: शंकर आदि आचार्यो ने लक्षणा के प्रकार भेदों पर विचार किया हैं । धर्मराजाध्वरीन्द्र ने पदार्थ के दो भाग किये हैं- 1. शक्य अर्थात् शक्तिरूप वृत्ति से युक्त और 2. लक्ष्य लक्षणारूपवृत्ति से युक्त।[45] शक्यत्व जाति में रहता है। व्यक्ति में नहीं। प्रत्येक व्यक्ति में पृथक् शक्यत्व मानने में गौरव है। लक्ष्य पदार्थ वह है जो लक्षणाजन्य ज्ञान में विषय हो। लक्षण तीन प्रकार के होते हैं- 1. जहल्लक्षणा, 2. अजहल्लक्षणा और 3. जहदजहल्लक्षणा। तीसरे प्रकार की लक्षणा से है 'तत्वमसि' महाकाव्य का अर्थ जाना जाता है।

(च). अर्थापत्ति प्रमाण :

जिस प्रकार से भाट्टमीमांसक अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं उसी प्रकार वेदान्ती भी मानते हैं। जैसे, प्रत्यक्ष शब्द, प्रमा और प्रमाण का बोधक है वैसे ही अर्थापत्ति शब्द भी प्रमा और प्रमाण दोनो का बोधक है। वेदान्त-परिभाषा में अर्थापत्ति का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि "तत्रोपपाद्य . . . . . रात्रिभोजनमुपपादकम्।" उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना करना ही अर्थापत्ति का ज्ञान प्रमा या फल है । जिसके बिना जो अनुपन्न (सम्भव न हो) होता है, वह उपपाद्य कहलाता है तथा जिसके अभाव में जिसकी अनुपत्ति होती है वह उसका उपपादक कहा जाता है। परिभाषाकार ने उपपाद्य का लक्षण निषेधात्मक रूप से देते हुए कहा है कि 'येन बिना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्' अर्थात् जिसके बिना जिसकी अनुपत्ति होती है वह उपपाद्य है । उपपादक का लक्षण व्यतिरेक रूप से किया गया है जिसके अभाव में जिसकी अनुपत्ति होती है वह उपपादक कहलाता है। उपपादक लक्षण में उपपाद्य जैसा व्यतिरेक सहचार नहीं

है, इसीलिए अर्थापत्ति को व्यतिरेक अनुमान से भिन्न स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। अर्थापत्ति 'दृष्टार्थापत्ति' एवं 'श्रुतार्थापति' भेद से दो प्रकार की होती है। जहाँ दृष्ट उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान से उपपादक की कल्पना की जाती है। वह दृष्टार्थापत्ति एवं जहां श्रुत उपपाद्य के अनुपत्ति के ज्ञान द्वारा उपपादक की कल्पना की जाती है वह श्रुतार्थापत्ति कहलाती है। श्रुतार्थापत्ति में श्रुत अर्थ की उत्पत्ति से उपपादक की कल्पना की जाती है। श्रुत वाक्य की स्वार्थानुपत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की कल्पना उपपत्ति हेतु जहाँ की जाती है उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। ज्ञान केवल अज्ञान का ही निवर्तक है। इसलिए श्रुतार्थ की अनुपत्ति होती है। अत: श्रुत अर्थ की अनुपत्ति से उपपादक की कल्पना श्रुतार्थापत्ति कही जाती है।

श्रुतार्थापत्ति के दो भेद हैं – प्रथम **'अभिधानानुपत्ति'** और दूसरी **'अभिहितानुपपत्ति'** । क्रियावाचक पदों को कारकों की आकांक्षा रहती है और इसी प्रकार कारकों को क्रिया की अपेक्षा रहती है । बिना इसमें केवल क्रियार्थक या कारकार्थक पदविक्षित अर्थ का बोध नहीं करा सकते । अभिज्ञान का तात्पर्य है अन्वय और उसकी अनुपत्ति का अर्थ है – अन्वयबोधाभाव । अभिधानानुपत्ति का तात्पर्य है अन्वयबोधाभाव। ज्ञात होने पर भी वाक्य से जहां प्रमाणान्तर-विरूद्धजन्य अर्थ भी कल्पना होती है वहां पर वाक्यार्थ से वर्हिभूत अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। इसी कल्पना को अभिहितानुपपत्ति कहते हैं।

नैयायिकों द्वारा प्रतिष्ठापित केवलान्वयि, केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी अनुमान भेदों मे से वेदान्ती व्यतिरेकी अनुमान को नहीं मानते। केवलान्वयी भी उनको मान्य नहीं है। वे अनुमान को अन्वयि ही मानते हैं। ऐसा मानने का कारण यह है कि वे अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करते हैं। अनुमान से अर्थापत्ति को भिन्न बतलाते हुए पंभिाषाकार ने कहा है कि अनुमान में अर्थापत्ति का अर्न्तभाव नहीं किया जा सकता । अनुमान व्याप्ति के आधार पर सम्पन्न

होता है। अन्वयव्यति से युक्त अन्वयी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव हो नहीं सकता। साधन से साध्य की अनुमिति अन्वय-व्याप्ति से ही होती है। साध्याभाव और साधनभाव स्वरूप व्यतिरेक व्याप्ति से नहीं है। इसलिए व्यतिरेकी अनुमान में भी अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता । इसलिए अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानना चाहिए ।

(६) अनुपलब्धि प्रमाण :

अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा हमें किसी विषय के अभाव का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। वेदान्त-परिभाषाकार ने अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- "ज्ञानकरणाजन्याभावानुभ व साधारण करणमनुपलब्धि रूपं प्रमाणम्। अनुमानजन्यातीन्द्रियाभावा हेतावनुमानावति व्याप्ति वारणाय अजन्यान्त पदम्। अदृष्टादौ साधारण कारणेऽति व्याप्ति वारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारण हेतु संस्कारेऽतिव्याप्ति वारणाय अनुभवेति विशेषणम् ।[47]"

ज्ञान रूप करण से उत्पन्न होने वाला जो अभाव का अनुभव है उसके असाधारण कारण को ही 'अनुपलब्धि प्रमाण' कहते हैं। अनुमान प्रमाण से उत्पन्न होने वाला जो अतीन्द्रिय अभाव का अनुमिति रूप अनुभव है। उसका कारण अनुमान आदि होता है, उसमें अतिव्यप्ति के निरसन के लिए अनुपलब्धि लक्षण में 'ज्ञान करणाजन्य' यह पद दिया गया है । अर्थात् जिस प्रकार अनुमिति प्रमा में व्याप्ति ज्ञान, उपमिति-प्रमा में सादृश्य-ज्ञान तथा शब्द-प्रमा में पद-ज्ञान कारण होते हैं और उनसे अनुमिति उपमिति, एवं शब्द प्रमा होती है। इस-प्रकार अभाव प्रमा नहीं है क्योंकि अभाव का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा सम्पन्न नही होता। इसीलिए इसको ज्ञानकारणाजन्य कहा गया है। जिन पदार्थो में इन्द्रियप्रत्यक्ष की योग्यता रहती है उन्हीं के अभाव को योग्यानुपलब्धि द्वारा जाना जा सकता है। अतीन्द्रिय परोक्ष

या कल्पित पदार्थो का इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं होने के कारण उनका ज्ञान अनुमानादि अन्य प्रमाणों से ही होता है। केवल अनुपलब्धि अभाव के प्रत्यक्ष में कारण नहीं होती, बल्कि प्रत्यक्ष योग्य अनुपलब्धि ही अभाव प्रमाण कही जाती है।

अभाव चार प्रकार का होता हैं - 1. प्रागभाव 2. प्रध्वन्साभाव 3. अत्यन्ता भाव 4. अन्योन्याभाव।

मृत्पिण्डादि कारणों में घट रूप कार्य का उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव है वह प्राण कहलाता है। मुग्दर प्रहार के पश्चात् जो अभावं होता है वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। जहां पर जिस वस्तु की तीनो कालो में प्रतीति न होती हो वहाँ उस वस्तु का अत्यन्ताभाव होता है। 'यह नहीं है' - ऐसी प्रतीति का विषय जो अभाव है वह अन्योन्याभव कहलाता है।

सन्दर्भिका

1. श्वेताश्वर उपनिषद - 1.3
2. वही, 2.8 से 16
3. वही 4.20
4. कठोपनिषद् 1.2.9
5. छान्दोग्य उपनिषद 6.13.2
6. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य 1.1.2
7. वही 1.1.2
8. वही 1.1.2
9. वही 1.1.4

10. वही 1.1.4
11. वही, 2.2.28 (विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्वाभ्युपगमात्, अतः प्रदीप व द्विजानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम्)
12. माण्डूक्यकारिका, शांकरभाष्य - 4.1
13. बृहदारण्यक उपनिषद, शांकर-भाष्य, 3.3.1
14. ब्रहमसूत्र , शांकर-भाष्य,2.1.18
15. Dr S.N. Dasgupta - A Histroy of Indian Philosphy, Vol I, P - 484
16. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, प्रस्तावना
17. वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्ष-परिच्छेद, पृष्ठ 18
18. श्री भगवद्गीता, 2.14 और उस पर शांकरभांष्य
19. वही
20. केनोपनिषद, शांकरभाष्य 1.3
21. वही 1.3
22. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य 1.1.9
23. श्रीभगवद्गीता, शांकरभाष्य 2.67
24. वृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य, 2.1.20 पृष्ठ 493
25. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य 1.1.2, पृष्ठ 2.67
26. विशेषोत्पत्ति निबन्धनम् किन्तु प्रमेय विशेषनिबंधनमित्युपादितम् । . . .अन्येषां त्वेवमाशयः करणविशेषनिबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वं, न विषयविशेष निबन्धनम्।
27. पंचपादिका, पृष्ठ 57
28. वही, पृष्ठ 58
29. भामती, 1.1.1, पृष्ठ 57
30. वेदान्तकल्पतरू, 1.1.1 पृष्ठ 55-56
31. कल्पतरूपरिमल, 1.1.1. पृष्ठ 56
32. वही 1.1.1. पृष्ठ 56
33. वेदान्तपरिभाषा पृष्ठ 22
34. वही पृष्ठ 177-180
35. वही 1.21, पृष्ठ 53
36. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य 1.1.6 पृष्ठ 349
37. गौड्पादकारिका, शांकरभाष्य 2.4 पृष्ठ 86

38. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, अनुमान-परिच्छेद, पृष्ठ 135
39. वही, पृष्ठ 137
40. वेदान्त परिभाषा, अनुमान परिच्छेद, पृष्ठ 166
41. वही, पृष्ठ 148, 149
42. वही पृष्ठ 151
43, वेदान्त-परिभाषा, पृष्ठ 226-230
44. केनोपनिषद्, शांकरभाष्य 1.4
45. वेदान्त-परिभाषा पृष्ठ 187
46. वेदान्त-परिभाषा, पृष्ठ 307-309
47. वही, पृष्ठ 288

8

अद्वैत वेदान्त में [illegible] की [illegible] प्रतिपादन में भूमिका

1. परमतत्त्व (ब्रह्म) के [illegible] निर्धारण में मनन

यह चराचर प्रपंचात्मक दृश्यमान जगत् सापेक्ष रूप से सत् है। जगत् का कोई भी पदार्थ निरपेक्ष रूप से सत् नही है। वस्तुयें प्रतीति मात्र हैं। इस परिवर्तनशील जगत् के आधार में एक निरपेक्ष यथार्थ सत्ता है जिसका अस्तित्व निश्चित और असंदिग्ध है। पाश्चात्य विचारक डेकार्ट सभी जागतिक वस्तुओं पर संदेह करते हुये एकमात्र उस अनन्त पूर्ण सत्ता, जो संदेहकर्ता के रूप में उभर कर आती है, के अस्तित्व को दृढ़तापूर्वक सिद्ध करते हैं । डेकार्ट की तरह आचार्य शंकर भी कहते हैं कि "जब हम किसी वस्तु का उसे अयथार्थ समझकर निराकरण करते हैं तो हम ऐसा किसी अन्य यथार्थ सत्ता के सम्बन्ध से करते हैं।"[1] उदाहरण के लिए शंकर कहते हैं कि जब हम 'रज्जु-सर्प' में सर्प का निराकरण करते हैं तो इस अयथार्थ, अपरमार्थ 'सर्प' प्रत्यय के आधार में 'रज्जु' को स्वीकार करते हैं, जो निरपेक्ष रूप से सत् है । आगे शंकर स्वयं कहते हैं कि 'यथार्थ सत्ता, जिसे अन्य वस्तुओं के सहयोग की आावश्यकता नहीं होती,

अपितु सभी प्रकार की कल्पनाओं के मूल रूप होने से, स्वतःसिद्ध है' क्योंकि प्रत्येक कल्पित वस्तुओं का आधार होना चाहिए, स्वप्न में देखे गये पदार्थ भी चेतना पर आधारित होते हैं।[2] डॉ0 राधाकृष्णन कहते हैं –"हम एक निरपेक्ष यथार्थ सत्ता की स्थापना करने के लिए विवश है, अन्यथा हमारे ज्ञान तथा अनुभव का पूरा ढांचा ही खण्डित हो जायेगा ।"[3] आचार्य शंकर इस निरपेक्ष यथार्थ-सत्ता को ब्रह्म रूप में स्वीकार करते हैं जो मन बुद्धि एवं वाणी का अविषय होते हुए भी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि या अपरोक्षानुभूति का विषय है । यही जीवन का सार्वभौम तथ्य है । इसी को हम सान्त जगत् के आधार रूप में देख सकते हैं । शंकर कहते हैं "इस जगत् में अनेक सामान्य अपने विशेषों सहित है, चेतन और अचेतन रूप हैं । ये समस्त सामान्य अपनी श्रेणीबद्ध श्रृंखलाओं मे एक ही सामान्य में अर्थात् ब्रह्म के पुन्ज स्वरूप के अन्तर्गत है और इसी रूप में उनका बोध प्राप्त होता है ।"[4] इसी महासामान्य सर्वव्यापक यथार्थसत्ता का ज्ञान जब हो जाता है तो इस परम प्रत्यय के सभी विशेषणों एवं अन्तर्निहित गुणों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि "सामान्य का ग्रहण होने से उसके अन्तर्वर्ती विशेषों का भी ग्रहण हो जाता है।"[5] अतः सर्वोच्च परमसत्ता ब्रह्म जो सर्वसामान्य, सर्वातिशय, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ है वही मात्र अद्वितीय सत्य है और यह चराचर जगत् उसी की प्रतीति मात्र है।

कहीं-कहीं उपनिषदों मे इन्द्रियगोचर पदार्थो को सत् कहा गया है और जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नही है उन्हें असत् ।[6] प्रश्न यह है यदि इन्द्रियगोचर पदार्थ सत् हैं तो 'रज्जु-सर्प में सर्प आदि स्वप्न के पदार्थो को भी यथार्थ होना चाहिए। दृश्यमान होना सत्ता का यथार्थ मानदंड नही है। यदि प्रतीति मात्र को ही सत् समझा जाय तो भ्रम क्यों होता है? फिर प्रतीयमान पदार्थ का बाध क्यों होता है? शुक्ति में रजत दिखाई पड़ती है और एक चन्द्रमा दो चन्द्रमा के रूप में दिखाई पड़ता है,[7] आखिर क्यों? जबकि यथार्थ ज्ञान होने पर ज्ञाता शुक्ति को रजत नही देखता,

एक चन्द्रमा को दो चन्द्रमा के रूप में नही देखता है। अत: शंकर श्वेताश्वेतर उपनिषद् के भाष्य में कहते हैं कि "प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण ही किसी वस्तु की सत्यता नही बतलाई जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्षता तो सत्य और असत्य दोनों प्रकार की वस्तुओं में सामनरूप से देखी जाती है ।"[8] अत: सत्य इन्द्रियार्तात है। इन्द्रियगम्य पदार्थ भ्रान्त हैं क्योंकि वह देश-काल वस्तु परिच्छिन्न है और परिच्छिन्न होने से बाधित है जबकि त्तव तो विशुद्ध सत् है, चित् है, आनन्द हैं, मन, बुद्धि, वाणी के परे है, जो एक रूप है, हमेशा स्थित है वही सत्य हैं। अत: शंकर के मत में व्यावहारिक इन्द्रियगोचर पदार्थ सत् नही है । ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैत त्रिकलाबाधित सत् है । ब्रह्म यथार्थ सत्ता है क्योंकि वह प्रतीयमान, दैशिक, भौतिक और चेतन जगत् से भिन्न है ।[9] ब्रह्म कारण-कार्य से परे है । अत: कालिक सम्बन्धों से भी परे है । यह अनिर्वचनीय है क्योंकि निर्वचन करना उसे बुद्धि के विकल्पों में सीमित करना है, वस्तुरूप उपस्थित करना है ।[10] हम इसके विषय में कथन तो कर सकते हैं, लेकिन इसके स्वरूप का ठीक ठीक वर्णन नही कर सकते हैं और नही इसका तार्किक ज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं । ब्रह्म का निर्वचन या द्योतन संभव नहीं है क्योंकि शंकर कहते हैं कि "प्रत्येक शब्द जिसका प्रयोग किसी वस्तु का निर्वचन या जाति, कर्म, गुण, सम्बन्ध की किसी वृत्ति विशेष के साथ साहचर्ययुक्त रूप में करता है और चूंकि ब्रह्म की कोई जाति नही है, निर्गुण होने से, कर्महीन और वस्तुओं से असम्बद्ध रहने से उसका निर्वचन नही होता ।"[11] वह सजातीय, विजातीय और स्वगत सभी प्रकार के भेदों से रहित है।[12]

अद्वैत-स्वरूप ब्रह्म का वास्तविक निर्वचन 'नेति-नेति' द्वारा ही संभव है। 'नेति-नेति' निर्वचन से वह निषेधात्मक रूप से ही प्रतिष्ठित है। परन्तु वह असत् या शून्य नही है, वह महान् भावात्मक है । वह व्यावहारिक वस्तओं की सत्ता के

समान नही है । अतः असत् है, परन्तु वह यथार्थ सत्ता है; अतः एकमात्र वही सत् है । जब हम ब्रह्म को सत् या असत् उन अर्थो के दृष्टिकोण से हैं जिस दृष्टिकोण से हम आनुभविक जगत् की भावात्मक तथा अभावात्मक वस्तुओं को जानते हैं । हम ब्रह्म को अनिर्वचनीय ही कह सकते हैं ।

ब्रह्म व्यवहार के परे है ।[13] वह वाणी के परे है ।[14] प्रमाण के परे है।[15] मांडूक्योपनिषद् भाष्य में शंकर लिखते हैं कि ब्रह्म अदृश्य है क्योंकि अदृश्य है इसलिये अव्यवहार्य है तथा इन्द्रियों से अग्राह्य, अलक्षण यानी लिंगरहित हैं । अनुमान का अविषय है । अतः वह अचिन्त्य है तथा शब्दों द्वारा अकथनीय है । वह एकात्मप्रत्ययसार है । अर्थात् जाग्रत आदि स्थानों में एक ही आत्मा है, वही परम यथार्थ सर्वोच्च त्तव है ।[16] विवेकचूड़ामणि में आचार्य शंकर ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहते हैं कि 'ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है; वह शुद्ध, पर, स्वतःसिद्ध, एकमात्र नित्य आनन्दरस स्वरूप प्रत्येक एवं अभिन्न है तथा निरन्तर उन्नतिशाली है ।[17]

तैत्तरीयोपनिषद् के ब्रह्मानन्दवल्ली के प्रथम अनुवाक में ब्रह्म को सत्य ज्ञान और अनन्त कहा गया है- "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। आचार्य शंकर इसकी व्याख्या करते हुये लिखते हैं कि 'सत्यंज्ञानमनन्तं' यह वाक्य ब्रह्म का लक्षण करने के लिये कहा गया है। ये शब्द ब्रह्म के विशेषण बतलाते हैं। ब्रह्म विशेष्य है क्योंकि ब्रह्म प्रधानतया वेद्यरूप से (ज्ञान के विषय रूप से) विवक्षित है और तीनों पदों (सत्य, ज्ञान और अनन्त) से विशेषित होने के कारण ब्रह्म अन्य विशेष्यों से विशेषित से विशेषित होने के कारण ब्रह्म अन्य विशेष्यों से पृथग्रूप से निश्चित किया जाता है जिसका अन्य पदार्थो से भिन्न-स्वरूप से निश्चय किया गया है, उसका इसी प्रकार ज्ञान हुआ करता है; जैसे - लोक में नील, विशाल और सुगन्धित कमल कहकर इसे अन्य कमलों से भिन्न किया जाता है। वास्तव में ये विशेषण लक्षणार्थ प्रधान

ही है, केवल विशेषण ही नही बताते हैं। ये तीनों शब्द बिना परस्पर सम्बन्ध की अपेक्षा किये बिना ही 'सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार ब्रह्म शब्द से सम्बन्धित है।[18]

ब्रह्म सत्य है। सत्य क्या है? शंकर कहते है कि 'जो पदार्थ जिस रूप से निश्चय किया गया है उसमें व्यभिचरित न होने के कारण वह सत्य कहलाता है।'[19] अर्थात् ब्रह्म अपने स्वरूप से व्यभिचरित नही हो सकता। अतः वह सत्य है और जगत् जो विकारमात्र है क्योंकि वह और उसका स्वरूप व्यभिचरित होता है अतः यह मिथ्या है। छा0उप0 (6.1.4) में कहा गया है कि "विकार केवल वाणी से आरम्भ होनेवाला और नाममात्र है, वास्तव में मृत्तिका ही सत्य है।" यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म विकाररहित है और यथार्थ सत्य है। यहाँ 'सत्य ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्म को विकारमात्र से निवृत्त करता है।[20] एक दूसरी व्याख्या के अनुसार सत्य उसे कहा जाता है जो बाधरहित हो (अबाधरहितम् सत्यम्)। सत्य वह है जो त्रिकालाबाधित है। ब्रह्म का व्यावहारिक पदार्थो की तरह बाध नही होता। जिन वस्तुओं का बाध होता है, वस्तुतः वह त्तव या सत्य नही है वह तो आभास या प्रतीति मात्र है। सत्यता में अभाव संभव नही है और जो असत् है उसमें कदाचित् भाव नही हो सकता है ।[21] अतः सत्य ही भाव है। सत्य और भाव दोनों पर्याय है। अतः अभावपूर्ण सत्ता का कथन करना ही असंगत होगा। भावासत् भी वदतोव्याघात होगा। नामरूप जगत् के पदार्थो की सत्ता है, परन्तु ब्रह्म का आभास होने के कारण ये प्रतीति रूप से सत् है। सत्स्वरूप तो अनिवार्य रूप से ब्रह्म का ही है।

आचार्य शंकर उपनिषदों के यथार्थ सत्य 'ब्रह्म' को प्रतिष्ठित करते हैं और उसे निर्गुण कहते हैं। निर्गुण का क्या अर्थ है? क्या वह शून्य स्वरूप तो नही है? शंकर कहते हैं कि जब हम अद्वैत निरपेक्ष यथार्थ सत्त्ज्ञा के लिए निर्गुण शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसका तात्पर्य यही है कि वह इस दृश्यमान जगत्

के आनुभाविक धारणाओं से भिन्न है। वह आनुभविक जगत् से परे है क्योंकि वस्तुतः सारे गुण प्रकृति द्वारा उत्पन्न है तथा निरपेक्ष ब्रह्म प्रकृति से श्रेष्ठ या उच्चकोटि का है तथा गुण पदार्थों एवं विषयों की विशेषता है और ब्रह्म न तो जागतिक पदार्थ ही है और न विषय ही है। अतः उसमें गुण का निर्धारण करना मिथ्या होगा। दूसरी बात गुणी वस्तुएं उत्पन्न एवं विनष्ट होती है, परन्तु ब्रह्म तो अनादि और अनन्त है। वह समस्त परिवर्तनों से परे है तथा सभी प्रकार के परिवर्तनों में वह स्थिर रूप से सर्वदा विद्यमान रहता है। गुण वस्तुओं को सीमित बनाते हैं। एक गुणी वस्तु में अन्य गुणों को अभाव रहता है। प्रस्तुत ब्रह्म में जरा सा भी अभाव नही है। अतः वह निर्गुण ही है, इसीलिए स्पिनोजा ने ईश्वर को सभी प्रकार के विशेषणों से परे कहा है। स्पिनोजा की प्रशिद्ध उक्ति है "प्रत्येक विशेषण निषेधात्मक है" इसका तात्पर्य है यह कि ईश्वर असीम एवं निर्विशेष दोनों है। ईश्वर निर्विशेष है; अतः अनिर्वचनीय है। वह देशकाल वस्तु अपरिच्छिन्न है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ब्रह्म गुणों तथा प्रतीति रूप 'सत् से अतीत है ।

पंचदशी में ब्रह्म को सत् कहते हुए विद्यारण्य स्वामी ने इस तरह व्याख्या की है – 'यह प्रतीयमान जगत् से पूर्व एक ही अद्वितीय रूप सत् कारण था। उसका नाम रूप कुछ नही था।[22] वह तो एक अद्वितीय सत है; अतः वह स्वगत, सजातीय एवं विजातीय भेदों से परे है।[23] सभी प्रकार की शंकायें, आपेक्ष और परिहार, शंका और समाधान तो द्वैत-भाषा अर्थात् व्यवहार दशा में ही संभव है, अद्वैत भाषा में अर्थात् परमार्थ में तो अद्वैत ही यथार्थ वस्तु है।[24]

छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म को 'सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्' - अर्थात् 'आरम्भ में एक मात्र अद्वितीय सत् ही था' कहा गया है। इस पर व्याख्या करते हुये शंकर कहते हैं कि सदैव में जो सत् शब्द है यह अस्तित्वमात्र शब्द का बोधक है जो कि सम्पूर्ण वेदान्तों से सूक्ष्म निर्विशेष, सर्वगत, एक, निरन्जन,

निरवयव और विज्ञानस्वरूप जाना जाता है। 'एव' शब्द निश्चयार्थक है। इससे ब्रह्म का निश्चय किया जाता है । यह जो नामरूप एवं क्रियावान विकारी जगत् है वह ब्रह्म का आभास मात्र है। इस उपनिषद् वाक्य में जो 'एक' और 'अद्वितीय' शब्द है वह ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता का बोध कराता है। अर्थात् उससे भिन्न अन्य कोई सत्ता नही है।

ब्रह्म या परमत्तव में सत्भाव को सभी अद्वैतवादी विचारकों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। टी0एच0ग्रीन कहते हैं कि "जहाँ कहीं किसी चीज की सत्ता है वह अपरिवर्तनीय है।"[25] न्यूमैन ब्रह्म की सत्ता में विश्वास करते हैं। वे कहते हैं- "मैं ईश्वर में विश्वास करने के कारण ही कैथोलिक हूँ? यदि मुझसे पूछा जाय कि ईश्वर में विश्वास क्यों करता हूँ तो मैं उत्तर दूँगा कि मैं उसमें इसलिए विश्वास करता हूँ, क्योंकि मैं अपने आप (अपने अस्तित्व में) विश्वास करता हूँ क्योंकि मुझे अपने अस्तित्व में विश्वास करना तब तक असंभव लगता है, जब तक मैं उसपर विश्वास न करूं जो मेरे अन्तःकरण में एक व्यक्तिगत सर्वदर्शी सर्वनिर्णायक सत्ता के रूप में विराज रहा है ।"[26] प्लेटो सत् तथा परिणमन् से भी बढ़कर श्रेयस् तक पहुंचता है। "प्लॉटिनस निरपेक्ष सत्ता को अभी तक उद्देश्य तथा विधेय के माध्यम में अविभक्त और इसीलिए समस्त भेद-भाव से ऊपर के रूप में जानने की चेष्ट करता है।" यह निरपेक्ष परम सत्ता उन वस्तुओं में से एक भी नही है जिनका कि वह आदि स्रोत है। इसका स्वरूप ऐसा है कि इनके विषय में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता - अर्थात् अस्तित्वरहित, त्तव के विपरीत, जीवन का अभाव क्योंकि यह वह है तो इन सबमें अतीत है।"[27] स्पिनोजा-शंकर के सत्य ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि - "ऐसी प्रज्ञा जिसके अंदर ईश्वर का सारत्तव निहित है उसे हमारी इच्छा तथा बुद्धि से भिन्न होना चाहिए और उन दोनों में नाम की समानता के

अतिरिक्त अन्य किसी अंश में समानता नही हो सकती है । वैसे ही जैसे कि आकाशीय नक्षत्रपुञ्ज कुत्ते (लुब्धक) तथा भौकनेंवाले कुत्ते में और कोई समानता नही है।"[28] स्पिनोजा आगे कहते हैं कि जब ईश्वर को नित्य और अनन्त कहा जाता है तो यहाँ नित्यत्व की व्याख्या काल की परिभाषा में नही की जाती तथा न काल के साथ इसका कोई सम्बन्ध जोड़ा जाता है।"[29] महाभारत के शान्तिपर्व में - "अव्यय, नित्य और अविकारी को सत्य"[30] कहा गया है। भगवद्गीता में सत् शब्द से तात्पर्य सत्य भाव और श्रेष्ठ भाव से है। उत्तम कर्म के लिए सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। परमात्मा के लिए किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत् कहा गया है।[31] योग-वाशिष्ठ में कहा गया कि जो आदि और अंत में नित्य है वही सत्य है।[32] विष्णुपुराण में कहा गया कि काल के अन्तर में भी जिसकी संज्ञा परिवर्तित नही होती वह सत्य है।[33] इस प्रकार ब्रह्म सत्य है और जगत् उसका प्रतीति मात्र है। आचार्य शंकर जब ब्रह्म में सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं तो वे लक्षण की प्रधानता से ही करते हैं, विशेषण में अंतर क्या है? विशेषण तो अपने विशेष्य का उसके सजातीय पदार्थो से ही व्यावर्तन करनेवाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभी से व्यावृत कर देता है। जैसे - नीला कमल लाल कमल से भिन्न और विपरीत है। यहाँ नीला और लाल कमल के विशेषण हैं। परन्तु 'अवकाश देनेवाला आकाश' आकाश का लक्षण है।[34] अतः सत्य ज्ञान और अनन्त ब्रह्म के लक्षण रूप में कहा गया है।[35]

अब तक ब्रह्म के सत्य लक्षण का ही व्याख्या की गई है। अब ज्ञान ब्रह्म की व्याख्या होनी चाहिए। क्या ब्रह्म नैयायिक के ईश्वर की तरह सत्मात्र ही है? अगर वह निर्गुण निपरेक्ष रूप में सत् मात्र ही है तो वह जड़ भी हो सकता है, शून्य स्वरूप हो सकता है। अतः ब्रह्म चैतन्यस्वरूप कहा गया है। उपनिषदों में 'ज्ञान ब्रह्म' ऐसा कहा गया है। शंकर तैत्तरीय उपनिषद् के सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म की

व्याख्या करते हुए कहते है कि 'ज्ञान' 'ज्ञप्ति' यानी अवशेष को कहते हैं। ज्ञान शब्द भाववाचक है। सत्य और अनन्त के साथ ब्रह्म का लक्षण होने के कारण वह ज्ञानकर्ता नही हो सकता क्योंकि ज्ञान कर्तव्य स्वीकार करने पर ब्रह्म की सत्यता और अनन्ता संभव नही है। ज्ञानकर्तरूप से विकार को प्राप्त होनेवाला होकर ब्रह्म सत्य और अनन्त कैसे हो सकता है? क्योंकि अनन्त तो वह होगा जो किसी से भी विभक्त नही होता है। ज्ञानकर्ता होने पर ब्रह्म ज्ञेय और ज्ञान से विभक्त होगा इसलिए वह अनन्त नही होगा। अतः ज्ञान ब्रह्म का लक्षण है।[36] ब्रह्म सत्य है इसका मतलब है कि वह असत नही है। ब्रह्म चित है इसका तात्पर्य है कि वह अचित नही है। पाल डायसन ब्रह्म चित्स्वरूप है में 'चित' शब्द की व्याख्या करते हैं। "चित एक ऐसी क्षमता है जो प्रकृति के अन्तर्गत समस्त गति तथा परिवर्तन के मूल में विद्यमान है और उदाहरण के लिए जिसे वनस्पतियों में भी बताया गया है और इस प्रकार इसका तात्पर्य हुआ कि यह बाह्य प्रभावों की प्रतिक्रिया है, यही वह क्षमता है जो अपने श्रेष्ठतम विकास में अपने को मानवीय बुद्धि अर्थात् आत्मा के रूप में अभिव्यक्त करती है।"[37] अतः ब्रह्म जो निराबाधित सत्ता है, चित्स्वरूप है। ब्रह्म स्व-प्रकाश है। त्तव मात्र सत् ही नही है, यह ज्ञानरूप भी है। यह आत्मा या ब्रह्म चित और एकरस है।[38] यह चित का उत्कृष्टतम रूप है।[39] ब्रह्म अनित्य पदार्थो में नित्यस्वरूप एवं चेतन प्राणियों में उत्कृष्ट रूप से चेतन है।[40] ब्रह्म स्वयं ज्ञानस्वरूप है, स्वयंप्रकाश है, वह दूसरों को प्रकाशित करता हैं। उसकी स्वयं-प्रकाशता सिद्ध है क्योंकि उससे ही नाना प्रकार के प्रकाश प्रकाशित होते हैं। यदि ब्रह्म में स्वयं-प्रकाश नही होता तो वह दूसरों को भी प्रकाशित नही कर सकता क्योंकि सूर्य स्वयं प्रकाशित भी है तथा जगत् के तमाम वस्तुओं को प्रकाशित भी करता है।[41] अतः ब्रह्म को प्रज्ञान कहा गया है। सम्पूर्ण जगत् का आश्रय प्रज्ञा ही है। अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है। ब्रह्म सम्पूर्ण

औपाधिक विशेषता से रहित, नित्य, निरंजन, निर्मल, निष्क्रिय, सान्त, एक और अद्वितीय है जो 'नेति-नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा क्रम से समस्त विषयों का बोध करके जानने योग्य है तथा सब प्रकार के शाब्दिक ज्ञान का अविषय है। अत्यन्त विशुद्ध प्रज्ञारूप उपाधि के सम्बन्ध में सर्वज्ञ तथा जगत् के सर्वसाधारण और अव्यक्त बीज का प्रवर्तक वह ब्रह्म ही सबका नियन्ता होने के कारण 'अन्तर्यामी' नामवाला है। जगत् के कारण रूप में वह 'हिरण्यगर्भ' नाम से जाना जाता है।[42] श्वेताश्वेतर उपनिषद में ब्रह्म को 'ज्योतिरव्यय' कहा गया है।[43]

ब्रह्म सत्य और एकरस है। यह आत्म-प्रत्ययरूप होने से अपरिवर्तनीय है। यह यथार्थ सत्य होते हुये भी सांसारिक पदार्थो के स्वरूप से विहीन है। यह निष्प्रपंच है, सदात्मक है।[44] एक रस होने से यह हिस्सा में बनी एक पूर्ण इकाई के रूप में नही माना जा सकता है। यह सत्ता जो सत् है निर्गुण, अपरिच्छिन्नता है वह निंसदेह भौतिक परिमित या खण्डात्मक नही है। एक नित्य स्थायी सत्ता जिसमें परिच्छिन्नत, न्यूनता का अभाव है, सत् चित्स्वरूप ही होगा। ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में शंकर ब्रह्म को सद्रूप एवं बोधात्मक दोनों स्वीकार करते हैं। शंकर कहते हैं कि जिसकी सत्ता नही है उसका बोध भी नही होगा और बोधरहित सत्ता निरर्थक है। अतः सत्ता ही ज्ञान है और ज्ञान ही सत्ता है ऐसा निष्कर्ष है। इन दोनों में परस्पर भेद नही है।[45] पाश्चात्य जर्मन विज्ञानवादी हेगेल का भी ऐसा ही मत है - The real is the rational and the rational is the real.

अब ब्रह्म जब विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है तो वह ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय के त्रिपुटी से परे स्वयं सर्वज्ञ, सर्वविद है।[46] प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म सर्वज्ञ है तो वह सभी पदार्थो के ज्ञाता के रूप में आता है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रहम के अतिरिक्त पदार्थ है जिसका कि वह ज्ञाता है। अतः ब्रह्म में अभेदत्व और अद्वितीयत्व नही प्रतिष्ठित हो सकता है। वास्तव में जब आचार्य ब्रह्म को सर्वज्ञ

कहते हैं तो इस रूप में ब्रह्म मायोपाधिक ईश्वर के रूप में लिया गया है। यहाँ ब्रह्म अपनी अनिर्वचनीय शक्ति माया से मुक्त है। सर्वज्ञता ईश्वर या सगुण ब्रह्म का लक्षण है निर्गुण ब्रह्म का नहीं। उदाहरण के लिये ब्रह्मसूत्र 1-1-11 के अपने भाष्य में शंकर कहते हैं कि सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है क्योंकि श्रुतिवाक्यों की ऐसी ही उद्घोषणा है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में भी ऐसा ही कहा गया है, "वह सर्वज्ञ ब्रह्म सभी का कारण है और इन्द्रियाधिष्ठाता जीव का स्वामी है, उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न कोई स्वामी है।"[47] "वही सर्वज्ञ और सर्वविद् ब्रह्म विश्व का कर्ता, आत्मयोनि, स्वयम् ज्ञाता, काल का प्रेरक अपहतपामत्वादि गुणवान और सभी विद्याओं को आश्रय है।"[48] "उसी सर्वज्ञ सर्ववित् से यह सभी समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुये हैं।"[49] इससे सिद्ध है कि सर्वज्ञ और सर्ववित् ब्रह्म जगत् के कारण रूप में कहा गया है।[50] सर्वज्ञ शब्द वास्तव में सगुण ब्रह्म, जिससे यह जगत् उत्पत्ति, स्थिति और विलय को प्राप्त होता है, के लिए आया है । निरूपाधिक ब्रह्म तो पूर्णतः एक एवं अद्वितीय ही है। जब उसमें किसी तरह का विशेषण नही है, उसमें किसी तरह का भेद नही है, तो ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय के भेद से परे है वही सर्वज्ञ है।[51] वही भेदरहित ब्रह्म ही सर्वज्ञ, स्वयंप्रकाश है जिसको प्रकाशित करने के लिये अन्य की आवश्यकता नही है। वह ज्ञानरूप अथवा चित्स्वरूप है, ज्योति स्वरूप है तथा विज्ञान मात्र भी वही है। उपनिषदों में उसी ब्रह्म को ग्राह्यग्राहक,[52] विर्निमुक्तविज्ञान, स्वच्छावबोधावभास मात्र,[53] चित्स्वभावज्योतिरूप,[54] दृशिमात्र स्वरूप,[55] चैतन्यमात्रसत्ताकम,[56] संवंदनस्वरूप,[57] चैतन्य ज्योति[58] आदि कहा गया है। शंकर कहते हैं कि जिस तरह सूर्य का प्रकाश स्वतः है, वह प्रकाशित करने के लिये अन्य वस्तुओं की अपेक्षा नही करता उसी तरह विशुद्ध चित्स्वरूप ब्रह्म अपने प्रकाश या अस्तिव के लिए दूसरों पर निर्भर नही रहता अथवा जिस तह चीनी का टुकड़ा ऊपर नीचे वही चीनी ही

रहता है उसी प्रकार जगत् के अन्दर और बाहर ब्रह्म ही रहता है। वास्तव में यहाँ अन्दर और बाहर यह कथन ही अनुपयुक्त है क्योंकि व्रह्म के अतिरिक्त कुछ नही है। वह किसके अन्दर है और किसके बाहर हैं? परन्तु हम बुद्धि के संतोष के लिए यह कथन लगातार करते रहते है, वास्तव में व्रह्म तो अनिर्वचनीय ही है। शान्त होना ही उसका सही निर्वचन होता है। 'नेति-नेति' ही सर्वोत्कृष्ट निरूपण है। वास्तव में वह अतीन्द्रिय, अगोचर और अचिन्त्य ही है।[59]

ब्रह्म सत् है, ब्रह्म चित् है और ब्रह्म आनन्दस्वरूप हैं। जब हम ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप कहते हैं, तो इसका यह तात्पर्य है कि ब्रह्म दुःख स्वरूप नही है। ब्रह्म या आत्मा ही आनन्दस्वरूप है। अतः प्रिय है और जो कुछ संसार में दृश्यमान है वह दुःखपूर्ण है, अप्रिय है। 'आत्मा या ब्रह्म ही सबसे प्रिय हैं' इसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में देखा जा सकता है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि "आत्मा या ब्रह्म ही सर्वोच्च प्रिय और आनन्द है; अतः वही दर्शनीय, श्रवणीय और मनन करने के योग्य है तथा उसी के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है।[60]

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही पूर्ण परमानन्द स्वरूप है। वही अद्वैत रूप होने से स्वाभाविक परमानन्द है उसमें आनन्द और आनन्दी का अभेद है।[61] तैत्तरीय उपनिषद् में कहा गया है कि "आनन्द ब्रह्म है ऐसा जानना चाहिए", क्योंकि आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं।"[62] मुण्डकोपनिषद के अपने भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि "ब्रह्म आनन्दस्वरूप सम्पूर्ण अनर्थ, दुःख और आयास से रहित दुःखस्वरूप एवं अमृतमय सर्वदा अपने अंतःकरण में ही विशेष रूप से भासित होता है।"[63] ब्रह्म का 'आनन्द रूपममृतमं'[64] ऐसा सम्बोधन किया गया है। इस प्रकार ब्रह्म का विशेषण आनन्द नही हैं अपितु

ज्ञान की तरह ही ब्रह्म का स्वरूप है। छान्दोग्य-उपनिषद् में नारद जो सनत्कुमार जी से परमानन्द के बारे में पूछते हैं और सनत्कुमार उनकी इस जिज्ञासा को शान्त करते हैं। सनत्कुमार कहते हैं "निश्चय ही ब्रह्म ही भूमा है, वही सु:ख है। ब्रह्म अनंत है, वहाँ दु:ख का लेशमात्र भी नही है। अल्प में सुख नही है। सुख भूमा ही है।"[65] शंकराचार्य इसकी व्याख्या करते हुए कहते है कि भूमात्तव जो अनन्त है इसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नही होता है। भूमा द्वैत व्यवहार से विलक्षण है और सारा द्वैत तो लोक में देखा जाता है। ब्रह्म तो एकमात्र अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप है। सीमित लोक या व्यवहार में तो सुख लेशमात्र नही है। इसीलिए महात्मा बुद्ध के मुख से 'सर्वम् दुखं' यह वाक्य एकाएक स्फुरित हुआ था। यह जगत् पूर्णत: दु:ख रूप है और इससे निवृत्ति ही सुख है। इसीलिए सांख्यकारिकाकार ने इस जगत् के तीनों प्रकार के दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परम सु:ख प्राप्त करने की कामना अपनी कारिका के प्रथम श्लोक में ही किया है।[66]

तैत्तरीय उपनिषद में ब्रह्म को 'अनन्त' कहा गया है। अब 'अनन्त' की व्याख्या करना अप्रांसगिक नही होगा। विवेक-चूड़ामणि में जहाँ परब्रह्म को सत्, अद्वितीय, शुद्ध, विज्ञानधन, निर्मल, शान्त, आदि-अंतरहित, अक्रिय, सदैव आनन्द रस स्वरूप, अभेद, नित्य, प्रमाणादि का अविषय अरूप, अव्यक्त, स्वयंप्रकाश, ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटी से परे, निर्विकल्प कहा गया है, वहीं उसे अनन्त भी कहा गया है।[67] आचार्य शंकर कहते हैं कि 'अनन्त' शब्द ब्रह्म के अन्तवत्व का प्रतिषेध करने के लिये ही कहा गया है।[68] अनन्त होना ब्रह्म का स्वरूप है। शंकर के मत में 'अनन्ता' तीन प्रकार की होती है - देश से, काल से और वस्तु से। जैसे आकाश देशत: अनन्त है, उसका सम्बन्ध देश से परिच्छिन्न नही है, किन्तु काल और वस्तु से देश अनन्त नही रह जाता है वह सान्त हो जाता है।

आकाश कार्य होने से परिच्छिन्न है, क्योंकि जो वस्तु किसी का कार्य होती है वही काल से परिच्छिन्न होती है । ब्रह्म आकाश की तरह कार्य नही है, अतः वह देश कालापरिच्छिन्न है । ब्रह्म वस्तु से भी परिच्छिन्न नही हैं, क्योंकि भिन्न वस्तु ही किसी अन्य भिन्न वस्तु को परिच्छिन्न कर सकता है । किसी भिन्न वस्तु में गई हुई वस्तु ही किसी अन्य प्रसक्त वस्तु से निवृत्त की जाती है । जिस बुद्धि की जिस पदार्थ से निवृत्ति होती है वही उस पदार्थ का अंत है । जैसे गोत्व बुद्धि अश्वत्व बुद्धि से निवृत्ति की जाती है, अतः गोत्व का अन्त अश्वत्व हुआ। इस प्रकार गोत्व अन्तवान या परिच्छिन्न हुआ, लेकिन ब्रह्म का ऐसा कोई भेद नही है । वह पूर्णतः अभेद है अतः वस्तु से वह परिच्छिन्न नही हो सकता है । अतएव वह 'अनन्त' है । जगत् के कारण रूप होने से भी वह परिच्छिन्न नही होता क्योंकि वस्तुतः कारण और कार्य में अभेद है क्योंकि कार्य तो अविद्या द्वारा उत्पन्न है वस्तुतः कारण केवल है ही नही । छान्दोग्य उपनिषद की भी घोषणा है कि "वाणी से होनेवाला विकार 'केवल नाम मात्र है, मृत्तिका ही सत्य है - (वाचारम्भम् विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् - 6-1-4)। अतः सिद्ध है कि ब्रह्म किसी भी रूप में परिच्छिन्न नही है। वह 'अनन्त' ही है । वही सत्यस्यसत्य है ।[69] क्योंकि जो वस्तु अनन्त होती है वही सत्य होती है। परिच्छिन्न पदार्थ कभी सत्य नही हो सकता । वह अनन्तज्ञान हैं । ज्ञान का विषय उत्पन्न और नष्ट हो सकता है, परन्तु ब्रह्म स्वतः ज्ञान है, प्रत्यगात्मन है, वह सर्वदा अनन्त रूप से स्थित है । वह स्वतः के प्रकाश से प्रकाशित है । अतः यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप से निर्गुण और अपरिच्छिन्न है । वास्तव में ब्रह्म की सच्चिदानन्द व्याख्या भी उचित नही है । ब्रह्म का सही निरूपण निषेधात्मक ही है ।

उपनिषद् जब ब्रह्म को विषयात्मक शब्दों में परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है तो उद्देश्य यह है कि मन्दमति पुरूष उस निर्गुण, निराकार ब्रह्म को असत् कहकर टाल न दें, अतः उनकी बुद्धि के अनुरूप ब्रह्म के प्रति उत्कंठा जगाने के लिए ही ब्रह्म को परिभाषित करने की जरूरत पड़ती है और इस प्रकार जन साधारण को उस महान् श्रेय की प्राप्ति के लिए उत्साहित करती हैं। शंकर छान्दोग्य-उपनिषद् के भाष्य में स्वतः कहते हैं कि "धर्मशास्त्र का विचार है कि जन साधारण सत्तात्मक वस्तुओं के मार्ग पर तो चल पड़ें और तब हम धीरे-धीरे सर्वोत्कृष्ट अर्थो में जिसका अस्तिव है उसका बोध ग्रहण कने योग्य बना सकेंगे।"[70] सदानन्द भी इसी पद्धति का प्रयोग बताते हुए कहते हैं कि 'हम सर्वप्रथम : अध्यारोपापवाद' की विधि से ब्रह्म में कुछ गुणों का विधान करते हैं और उसके पश्चात् उन गुणों का निराकरण करते हैं।[71] इस प्रकार आचार्य का मत है कि ब्रह्म का विध्यात्मक स्वरूप तो बुद्धि को परम यथार्थ सत्य ही तरफ मोड़ने का एक उपाय है। यही कारण है कि ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' आदि स्वलक्षणों से परिभाषित किया जाता है ।

उपनिषदें ब्रह्म के निष्प्रपंचात्मक एवं सप्रपचात्मक दो स्वरूपों का विस्तृत विवेचन करती हैं। एक सही भाष्यकार होने के कारण शंकर भी ब्रह्म के इन दोनों स्वरूपों का निरूपण तथा समन्वय स्थापित करते हैं। उपनिषद् में ब्रह्म का निष्प्रपंचात्मक स्वरूप का निषेधात्मक शब्दों में निरूपण मिलता है।[72] जो विशेषणों से रहित है, वह अद्वितीय है। अतः उसका विशेषण नही हो सकता। निर्गुण निराकार ब्रह्म अपनी अपरमित अनिर्वचनीय माया शक्ति से सप्रपंचात्मक ब्रह्म के रूप में इस जगत् का अभिन्नोपादान निमित्त कारण भी है। जगत् की व्याख्या के कारण ही ब्रह्म निष्प्रपंचात्मक और सप्रपंचात्मक दो रूपों में दो विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाता है। जागतिक या व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर ब्रह्म सप्रपंच है

और पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर वही निष्प्रपंच है। यही कारण है कि मुण्डक उपनिषद में ब्रहम के दो विरोधी लक्षणों को एक ही साथ दर्शाया गया है । कहा गया है "जो अदेश्य अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अपाणिपाद है, वह नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, अव्यय और भूतयोनि है।"[73] सप्रपंचात्मक रूप में ही ब्रह्म जगत् का कारण है। श्वेताश्वेतर उपनिषद में कहा गया है कि ब्रह्म जो सर्वज्ञ परमेश्वर है वह वही सभी का कारण है और इन्द्रियाधिष्ठाता जीव का स्वामी है, उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न स्वामी है।[74] शंकर के अनुसार सप्रपंचात्मक रूप से ब्रह्म ही जगत् का कारण है अचेतन प्रधान नही।[75] शंकर कहते है कि नामरूपात्म्क विकार आदि विशेष उपाधि से युक्त होने के कारण ब्रह्म सप्रपंचात्मक होता है और इसके विपरीत यदि वह सभी उपाधियों से रहित है तो वह निष्प्रपंचात्मक होता है।[76] सप्रपंचात्मक ब्रह्म ही जगत् का स्वमिता है और इसी रूप में हमें द्वैत या भेद प्रतीत होता है। वास्तव में यदि सही रूप से अद्वैत-वेदान्त का आकलन किया जाय तो सप्रपंचात्मक ब्रह्म की धारणा भी अध्यास-गर्भित है। वह पारमार्थिक रूप से अंतिम सत्य नही है। डॉ0 हिरियन्ना कहते हैं कि "सगुण ब्रह्म में न केवल सत्य बल्कि प्रतिभास भी शामिल है, जिससे वह सत्य से कुछ नीचे रहता है । उसमें जो सत्य का अंश है वही अद्वैत का परमार्थ है । यह ध्यान देने की बात है कि यह परमार्थ जगत् के नानात्व के नीचे रहने वाला एकत्व मात्र नही है क्योंकि एकत्व और नानात्व एक-दूसरे के सापेक्ष है और इनमें से एक को सत्य मानकर स्वीकार कर लेना और दूसरे को प्रतिभास मानकर त्याग देना असंभव हैं । असल में दोनों ही प्रतिभास हैं और अद्वैत का परमार्थ वह है जो इन दोनों से परे उनका निष्प्राप्ति भाषिक आधार है। यही वजह है कि शंकर ने अपने सिद्धान्त को 'ऐक्य' न कहकर 'अद्वैत' कहा है।"[77]

ईश्वर या मायोपाधिक ब्रह्म :

अद्वैत-वेदान्त में, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, ब्रह्म ही निर्गुण, निर्विशेष अद्वितीय तत्व है । यही सच्चिदानन्द स्वरूप है । वह सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित त्रिकालाबाधित सत् है। ब्रह्म निर्गुण रूप से पारमार्थिक सत्ता है। मन, बुद्धि, वाणी की पहुंच के अतीत होने से वह अनिर्वचनीय तत्व है। अब प्रश्न है कि जब यथार्थ सत्य निर्गुण, निर्विशेष एवं अद्वितीय है, तो यह जो नानात्व जगत् दिखाई पड़ रहा है, इसकी उत्पत्ति कहां से हुई है? जगत् का कारण क्या है? कौन इसकी रचना करता है? आचार्य शंकर के मत में माया शक्ति से युक्त ब्रह्म ही इस जगत् का अभिन्ननोपादाननिमित्त कारण है, वही इस नानात्व जगत् की रचना करता है । यद्यपि जब हम जगत् के कारण की बात कहते हैं यह पूर्णतः व्यावहारिक हमारी सापेक्ष बुद्धि की दृष्टि से ही है। पारमार्थिक यथार्थ सत्ता की दृष्टि से तो न कारण है न कार्य। जगत्, मिथ्या है, ब्रह्म ही सत्य है। यद्यपि 'ईश्वर ही जगत् का कारण है' यह कथन हमारी बुद्धि की ऊहापोहात्मकता को ही शान्त करने के लिए कहा गया है। ईश्वर की यथार्थता का ज्ञान मात्र हमें श्रुति वाक्यों द्वारा ही होता है । डॉ० राधाकृष्णन कहते हैं कि 'शंकर के दर्शन में ईश्वर एक स्वतःसिद्ध प्रमाण नहीं है, तार्किक सत्य भी नही है, किन्तु एक अनुभवजन्य उपधारणा है जिसकी क्रियात्मक उपयोगिता है। श्रुति इसका आधार है।"[78] ईश्वर ब्रह्म ही है। दोनों में अभेद है। वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान है। ईश्वर ही जीवनदाता है, जगत् का आदि और अंत है। ईश्वर सृष्टिकर्ता है इसके विषय में हमें सही जानकारी वेदान्त वाक्यों से ही होती है। ब्रह्म-सूत्र के अपने भाष्य में शंकर कहते हैं कि -"वह कारण जिससे संसार की उत्पत्त्ति, स्थिति तथा विलय सम्पन्न होते है, जिसका विस्तार ही नाम व रूप है, जिसके अन्तर्गत अनेकों कर्ता तथा फलोपभोक्ता समाविष्ट है, जिसके अन्तर्गत कर्मो

के फल भी समाविष्ट है और जिनका निर्णय विशेषकर देश, काल और कारण के द्वारा होता है, वह जगत् जिसका निर्माण एक ऐसी व्यवस्था के अनुसार हुआ है जो मन की कल्पना से भी परे है – यह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान कारण ब्रह्म ही है।"[79] छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि "ब्रह्म या ईश्वर में ही जगत् के समस्त आध्यात्मिक और नैतिक पूर्णतायें निहित है। ब्रह्म समस्त पाप से ऊपर है।"[80] ईश्वर ही जगत् में विषयी और विषय, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। ब्रह्म से ही यह सब कुछ पैदा हुआ है, उसी में बढ़ता है और समाप्त भी हो जाता है।[81]

आचार्य शंकर के लिये निर्गुण ब्रह्म के आधार पर इस चराचर आनुभाविक जगत् की व्याख्या करना संभव नही हो सका तथा सांख्य दर्शन के मूल त्तव अचेतन प्रकृति से भी जगत् की व्याख्या उचित नही दिख पड़ी । परमाणु और शून्य या असत् से जगत् के सम्बन्ध की व्याख्यार समीचीन नही थी । अतः शंकर के लिये यह एक तार्किक अनिवार्यता हो गयी कि ब्रह्म को सगुण रूप में ईश्वर के रूप में स्वीकार किया जाय और इससे ही सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान ढूँढ़ निकाला जाय। शंकर सांख्य के प्रकृति कारणवाद का खंडन करते हैं। शंकर कहते हैं "इस संसार में कोई भी जड़ पदार्थ बिना किस चेतन प्राणी की प्रेरणा से स्वतः से ऐसे पदार्थो की रचना नही कर सकता जो जगत् एवं मानव मात्र के हित में हों। उदाहरण के लिए मकान, ऊंचे-ऊंचे महल, सौन्दर्य के प्रसाधन की वस्तुएं आदि स्वतः उत्पन्न नही है अपितु किसी बुद्धि सम्पन्न कलाकारों के द्वारा ही निर्मित है जिससे हम अधिक-से-अधिक सुख ग्रहण करते हैं और दुःखों का परिहार करते हैं। मिट्टी भी भिन्न-भिन्न घट, सुराही आदि की आकृतियों तभी ग्रहण करती है जब उसका संचालन एक बुद्धियुक्त चेतन कुम्हार द्वारा होता है उसी तरह यह जगत् जो बहुत सुन्दर ढंग से निर्मित है, पृथ्वी वैसे

तमाम हरे-भरे उपयोगी पदार्थो से युक्त है, वायु अग्नि आदि निश्चित प्रक्रिया को उत्पन्न करते है तो यह सब देखकर यह मानना पड़ जाता है कि सांख्य का अचेतन तत्व 'प्रधान' इसका कारण नहीं हो सकता सकता है।[82] अपितु इसका कारण प्रेरक एक महान् चेतन तत्व ही होना चाहिए और वही ईश्वर है। इसी तरह न्याय-वैशेषिक से विश्वातीत ईश्वर से जगत् की व्याख्या नहीं हो सकती। ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं है। यदि कोई व्यक्ति-विशेष सृष्टि रचयिता होता तो वह ऐसी वस्तु को उत्पन्न करता जो उसके लिए उपयोगी होती तथा उन वस्तुओं की, जो विरूद्ध स्वभाव की है- जैसे जन्म-मरण, वृद्धावस्था रोग आदि कभी भी उत्पन्न न करता। यहीं पर डेकार्ट का वह कथन स्मरण करना अप्रसंगिक नहीं होगा जहाँ वह कहता है कि यदि मैं स्वयं अपने जीवन का रचयिता होता तो मै अपने लिए ऐसी प्रत्येक पूर्णता को प्राप्त कर लेता जिसे मैं भी विचार में ला सकता हूँ और इस प्रकार मैं ईश्वर हो जाता।[83] शंकर स्वयं कहते हैं कि- 'कोई भी स्वतंत्र मनुष्य अपने लिए कारागार बनाकर उसमें अपने आप नहीं बैठ जायेगा''[84] अतः आकस्मिक घटना, परमाणु, प्रकृति, ईश्वर (न्याय का) आदि उन सबसे कहीं अधिक बढ़कर मांगे है जो माँग श्रुति करती है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि न तो अचेतन प्रधान और न न्याय का ईश्वर ही जगत् का कारण है, अपितु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान, नित्य, सर्वव्यापक ईश्वर ही जगत् का कारण है।[85]

जब आचार्य शंकर ईश्वर को जगत् का अभिन्नोपादान निमित्तकारण कहते हैं तो प्रश्न यह है कि जगत् सचेतन है और ब्रह्म चेतन तो, चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् का निर्माता कैसे संभव है, क्योंकि अनुभव में देखा गया है कि चेतन से चेतन और अचेतन से अचेतन ही पैदा होता है। शंकर कहते हैं कि अनुभव में भी चेतन से अचेतन तथा अचेतन से चेतन उत्पन्न होते देखा जा सकता है और

चेतन प्राणियों से ही तो बाल और नाखून जो स्वयं में अचेतन हैं उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अचेतन गोबर से चेतन विच्छू या गोबरैला उत्पन्न होते देखा जाता है। विरोधियों का एक और आक्षेप है कि यदि जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है और उसी में प्रलयावस्था में समा जाता है और इसीप्रकार जगत् की अनेकप्रकार की विविधताएं, अशुभ, जड़ता, सीमित्ता, ईश्वर में समा जाती होगी और ईश्वर में निहित होने से ईश्वर अशुभ या मलिन हो जाता है। शंकर इस आक्षेप का उत्तर यों देते हैं- 'जिस प्रकार मृत्तिकोपादानक सिकोरा आदि विकार विभाग अवस्था में छोटे-बड़े-मझले आकार के होकर पुनः प्रकृति में लय होते हुए उसको अपने धर्म से संसृष्ट नहीं करते अथवा जैसे आभूषणादि सुवर्ण के विकारादि लय होते हुये सुवर्ण को अपने धर्म से सम्बन्धित नहीं करते, इसी प्रकार जगत् कार्य ब्रह्म कारण में लीन होता हुआ भी ब्रह्म को अपने धर्म से दूषित नहीं करता है।'[86] आगे एक दृष्टान्त और दिया गया है जैसे अपनी फैलायी हुयी माया से तीनों कालों में भी स्वयं मायावी संसृष्ट नहीं होता है क्योंकि वस्तुतः वह माया अवस्तु-मिथ्या ही है। वैसे ही ब्रह्म भी जगत् की माया से असंसृष्ट नहीं होता है। जैसे रज्जु की सर्पादि रूप से प्रतीति मिथ्या है, वैसे परमात्मा ब्रह्म की उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि अवस्थाओं के रूप में प्रतीति भी मिथ्या ही है। जैसे एक स्वप्नद्रष्टा स्वप्न-दर्शन 'माया' से सम्बन्धित नहीं होता, क्योंकि जाग्रत और सुषुप्ति में वह स्वप्न-दर्शन माया से वह सम्बन्धित नही है, वैसे ही जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं की साक्षी, एक और अव्यभिचारी ब्रह्म व्यभिचारी अवस्थाओं से लिप्त नहीं होता।

सन्दर्भिका

1. किंचिद्धि परमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्वादिषु सर्पादयः। -ब्र0सू0शां0भा0-3.2.22
2. सर्वकल्पनामूलत्वात् । -ब्र0सू0शां0भा0 - 3.2.22
3. भारतीय दर्शन भाग-2, पृष्ठ 529
4. अनेका हि विलक्षणाः चेतनाचेतनरूपाः सामान्यविशेषाः, तेषां पारम्पर्यगत्या एकस्मिन् महा सामान्ये अन्तर्भावः प्रज्ञानधने । -बृहदा0उप0शां0भा0-2.4.9
5. सामान्यस्य ग्रहणेनैव तद्गता विशेषा गृहीता भवन्ति ।-बृहदा0उप0शां0भा0 - 2. 4. 7

6. यद्धि करणगोचरं तदस्तीति-विपरीतं चासदिति-केन उप0शां0भा0-6.12 चक्षुवैं सत्यं-वृ0उप0-5. 14.4; सन्मुर्तमसदमूर्तश्च - प्रश्न उप0भा0-2.5;
7. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 उपोद्घात - वही - 2.11
8. नहितावन्प्रतिपन्नत्वेन सत्यत्वं वक्तुंशक्यतं, प्रतिपन:सत्यत्व मिथ्यात्वयो: समानत्वात् श्वे0उप0भा0प्रस्तावना ।
9. ब्रह्म-सूत्र शां0भा0 - 4.3.14
10. ब्रह्म-सूत्र शां0भा0-3.2.23
11. भगवद्गीता शां0भा0 - 13.12
12. सजातीय विजातीय स्वगत भेद रहितम् ।
13. तै0उप0भा0- 2.6.
14. मां0उप0शां0भा0 - 1.7
15. मां0उप0शां0भा0 - 1.7
16. अतएव अदृष्टम्। यस्माद्दृष्टंतस्मादव्यहार्यम् अग्राह्यं कर्मेन्द्रियै:। अलक्षणमलिंग मित्येतदननुमेयत्यर्थ:। अतएवाचिन्त्यम् । अतएव व्यपदेश्यं शब्दै:। एकात्मप्रत्ययसारं जाग्रदादिस्थानेष्वेकोऽयमात्मेत्य व्याभिचारी । -मां0उप0शां0भा0 - 1.7
17. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्ध परं स्वत: सिद्धम् । नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति। - वि0यू0 - 227
18. तैत्तरीयोपनिषद शां0भा0- 2.1
19. यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरित त्तसत्यम् - तैत0उप0शांभा0 - 2.1
20. अत: सत्यंब्रह्मेति ब्रह्म विकारान्निवर्तयति- तैत0उप0शां0भा0-2.1
21. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत: । - भगवद्गीता - 2.16
22. इदं सर्व पुरा सृष्टिकमेवाद्वितीयकम् । सेदेवाऽसीन्नामरूपे नास्तामित्यावरूणोर्वच: -पंचदशी 2.19
23. पंचदर्शी 2. 21
24. चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया। अद्वैतभासया चोद्यं नास्ति तदुत्तरम् ।।
- छा0उप0 - 6.2.1
25. पोलेगोमेना टू इथिक्स, पृष्ठ 29
26. एपोलोजिया-उद्धृत जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि -डॉ0 राधाकृष्णन, पृ0-65,66
27. रूडोल्फ आटो - 'दि आइडिया ऑफ दि होली-अंग्रेजी अनुवाद, पृ0-28
दृष्टव्य - भारतीय दर्शन भाग - दो पृष्ठ 531
28. इथिक्स, 1-17, स्कोलियम-उद्धृत राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, पृ0532, टिप्पणी
29. वही 5.1, स्कोलियम - वही
30. सत्यं नामाऽव्ययं नित्यमविकारि - शान्तिपर्व 162-10
31. भगवद्गीता - 17, 26-27
32. आदावन्ते च यन्नित्यं त्तसत्यं - योग-वाशिष्ठ 5.5.9
33. यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति - विष्णुपुराण 2.13.100

34. समान जातीयेभ्य एव निर्वतकानि विशेषणानि विशेषस्य । लक्षणं तु सर्वत एव यथावकाश प्रदात्राकाशमिति । लक्षणार्थं च वाक्यामित्यवोचाम् ।तैत0उप0शां0भा0-2.1
35. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्षणार्थं वाक्यं । तैत0उप0शां0भा0-2.1
सत्यं ज्ञानमनन्तं च ब्रह्मलक्षणमुच्यते - तत्वोपदेश - 18
ब्रह्म - - -सच्चिदानन्दलक्षण: - अपरोक्षानुभूति 24
ब्रह्मणो लक्षणं - - - जन्माद्यस्य यत: : ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 1.4.1
36. ज्ञानं ज्ञप्तिरवबोध --- न हि सत्यतानन्ता च ज्ञान कर्तत्वे सत्युपपद्यतं ।
यद्धि न कुतश्चित्प्रविभज्यते तदनन्तम् । तैत्त0उप0शां0भा0-2,1 ।
37. पाल डायसन - सिस्टम आप दि वेदान्त, पृष्ठ 59
38. चिदेकरसो ह्यात्मा - नृ0उप0-1
39. उत्कृष्टतमं चिन्मात्रम-नृ0उप0-5
40. नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम् - कठ0उप0 2.2.13 ।
41. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति - कठ0उप0-2,2,15
42. प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोक: प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म-ऐत0उप0-3-1-3 - शां0भा0 ।
43. श्वे0उप0 3/12
44. निष्प्रपंच सदात्मकत्वम् - ब्रह्म-सूत्र शां0भा0 - 2-1-6
45. सत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता, नानयो: परस्परव्यावृत्तिरस्तीति ।
46. सर्वज्ञं तद्ब्रह्म (मुण्डक उप0 - 1-1-9) ।
47. स: कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप: - श्वेता0उप0- 6-9
48. स: विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिश: कालकालो गुणी सर्वविद्या। - (मुण्डक उप0 2-1-9)
49. य: सर्ववित सर्वज्ञ: समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव: सर्वस्या:।-मुण्डक उप0 2-1-9
50. तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्: कारणं । -(ब्रह्म सूत्र शां0भा0 - 1-1-11)
51. ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेद: परे नात्मनि विद्यते । - आत्मबोध - 41
नामरूपयोरेवान्तरभावात् विषयभेदस्य नान्यद्विजानाति - छा0उप0भा0 - 7-24
52. वृहदा0उप0शां0भा0 4,3,7
53. वही 4,3,7
54. वही 4,3,7
55. भगवदगीता शां0भा0 - 9-10
56. केन उप0शां0भा0 - 1-5
57. वही - 2-4
58. वही - 1-6
59. अतीन्द्रियगोचरत्वात् अचिन्त्य: - (भगवद्गीता - 2-5) केन उप0शां0भा0 - 1-3-6,8
60. न, वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वप्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति। आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यों निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व विदितम् । - (वृ0उप0-2-4-5)

61. स एष परमानन्दः स्वाभाविकाऽद्वैत्तवादानन्दानन्दिनोश्वाविभागोऽत्र- (तैत्त0उप0-2-8-4)
62. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्धतेव खल्विमानी भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।- तैत0उप0-3-6-1
63. आनन्दरुपं सर्वानिर्थदु:खायास प्रहीणममृतं यद्विभाति विशेषेण स्वात्मन्येव भाति सर्वदा । (मुण्ड0उप0शां0भा0 - 2-7)
64. मुण्ड0उप0 - 2-7
65. यो वे भूमा त्तसुखं नात्येसुखमस्ति - छा0उप0 -7-23, 24
66. दु:खत्रयाभिघाता जिज्ञासातदभिघातके हेतो - (सां0का0 1)
67. विवेक-. चूड़ामणि - 239-242
68. तत्रानन्द्रशब्दोऽन्तवत्वप्रतिषेध द्वारेण विशेषणम् - (तै0उप0शां0भ0-2-1)
69. तैत्तरीयोपनिषद, शां0भा0 - 2-1
70. सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु, त्त: शनै: परमार्थसदपि ग्राहयिष्यामिति मन्यते श्रुति: । -(छा0उप0शा0भा0- 8.1.1)
71. वैदान्तसार खण्ड 10 स परमकृपयाध्यारोपापवाद न्यायेनैनमुपदिशति ।
72. वृहदारण्यक उपनिषद - 3.8.8
73. मुण्डक उप0 1.1.6
74. श्वेता0उप0-6.9
75. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 1.1.11
76. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 1.1.11
77. भारतीय दर्शन की रूपरेखा -पृष्ठ 369
78. भारतीय दर्शन भाग-2, पृष्ठ 541
79. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 1.1.2
80. छा0उप0- 1.6.7
81. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयत्नभिसंविशन्ति- (तै0उप0-3-1)
82. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2-2-1
83. मेडिटेशन्स पृ.-3
84. नहि कश्चिदपरतंत्रों बंधनागारम् आत्मन: कृत्वाऽनुप्रविशति। -(ब्रह्मसूत्र-शां0भा0)-2-1-21
85. ब्रह्मसूत्र-शां0भा0-2-1-22
86. ब्रह्मसूत्र-शां0भा0-2-1-9

2. आत्मा का स्वरूप-निर्धारण एवं मनन

आत्मा नित्य चैतन्यस्वरूप है। चेतना आत्मा का गुण नहीं है अपितु चेतना ही आत्मा है। यह स्वयं-प्रकाश है। स्वयंप्रकाशता से तात्पर्य है कि जो ज्ञान का विषय नहीं है अपितु जो साक्षत् अपरोक्ष रूप से ज्ञात है।[1] यह नित्य अखंडनीय चेतना है। यह विशुद्ध-विज्ञान है, निरूपाधिक है, यह प्रमाण का विषय नहीं है, क्योंकि प्रमाण के द्वारा हम देश, काल एवं वस्तु परिछिन्न वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं और आत्मा इससे परे अपरिच्छिन्न सत्ता है। आत्मा सभी प्रकार की सीमाओं से परे है। साधारण अनुभव में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रगट होता है जबकि आत्मा इस भेद से परे है। यह स्वतंत्र अद्वितीय सत्ता है। आत्मा एक है, परन्तु सभी प्राणियों में व्याप्त है। जैसे सूर्य और आकाश एक है, परन्तु वह सभी घड़ों तथा तालाबों में व्याप्त है। आत्मा में भेद नहीं है। यह अन्त चेतना है तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान है। आत्मा ही निर्विशेष ब्रह्म है।[2] आत्मा का अस्तिव साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति के कारण है।[3] आत्मा की सिद्धि प्रमाणों से सम्भव नहीं है क्योंकि यह समस्त प्रामाणों का आधार है। यह प्रमाणों से पूर्वस्थिति है।[4]

भारतीय दर्शन में आत्मा के स्वरूप को लेकर बहुत-से मतभेद हैं। चार्वाक के मत में शरीर को ही आत्मा कहा गया है। शरीर में ही चेतना विकसित हो जाती है क्योंकि शरीर चार महाभूतों द्वारा उत्पन्न होता है और चेतना शरीर का

1 अबोधत्वे सति अपरीक्षव्यवहारयोन्यत्वम्।- चित्सुखी पृष्ठ -10

2 आत्मानेव निर्विशेष ब्रह्म विद्धि, आत्मा हि ब्रह्म'। - गीता भा02,17।

3 अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यागात्मा पसिद्धेः।-ब्रह्मसूत्र शां0भा0 -1-1-1

4 आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात सिद्धयति- ब्रह्मसूत्र शां0भा0-0-2-3-7

गुण है। कुछ अन्य चार्वाक इन्द्रिय, प्राण, मन आदि को ही आत्मा कह डालते हैं। बौद्धों के अनुसार आत्मा विज्ञान के रूप में है। विज्ञान क्षण-क्षण बदलनेवाले प्रवाह के तुल्य है, अतः अनित्य है। पूर्वक्षण में उत्पन्न विज्ञान अपने उत्तरक्षण में संस्कार के रूप में चला आता है। अतः स्मृति आदि की सिद्धि होती है। शून्यवाद के अनुसार नित्य आत्मा सर्वथा है ही नहीं। हम देखते हैं कि शून्यवाद का आत्मा सम्बन्धी विचार शंकर के आत्मा सम्बन्धी विचार के ठीक उलटा है। जहाँ शंकर के लिए आत्मा असंदिग्ध सत्य है, शून्यवादियों के मत में आत्मा का अस्तिव ही नहीं है। जैनियों के अनुसार जीवात्मा देह से भिन्न ही है, किन्तु देह के परिमाण में ही रहती है। देह के बढ़ने और घटने से जीवात्मा भी घटती बढ़ती रहती है। इनके मत में जीवात्मा नित्य तो है परन्तु उसके विकार होते रहते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि जैनियों के अनुसार आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्मा के गुण, बुद्धि, सुख, दुखादि हैं और ये अनित्य हैं। अतः आत्मा भी अनित्य हुआ क्योंकि धर्मा में आनेवाले धर्म एवं धर्मी को विकारशील बना देते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि न्याय के अनुसार आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं है और आत्मा का स्वरूप जड़वत ही है। यही कारण है कि मुक्ति की दशा में ज्ञान आदि का विनाश हो जाने पर आत्माएँ पाषाणवत् ही रहती है। शंकर इन सभी मतों का खण्डन करते हैं। शंकर के अनुसार आत्मा का स्वरूप नित्य ज्ञान का है।[5] यह स्वयंज्योतिस्वरूप है।[6] विवेक चूड़ामणि में कहा गया है कि- 'आत्मा स्वयंप्रकाश, अन्नमयादि पांचों कोशों से पृथक् तथा जाग्रत,

---

[5] नित्यपिलब्धि स्वरूपत्वात् ।- ब्रह्मसूत्र शां0भा0 2,3,40।

[6] स्वयं ज्योतिः स्वरूपत्वात् ।- ब्रह्म्-सूत्र शां0भा0 1,3,22

स्वप्न, और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं की साक्षी होकर भी निर्विकार, निर्मल और नित्यानंद स्वरूप है।[7] यह निर्विषय चैतन्यस्वरूप है।[8] आत्मा अन्तर और बाहर चैतन्य रूप से अन्य रूप नहीं है, किन्तु चैतन्य ही इसका निरन्तरस्वरूप है। जैसे लवण पिण्ड के अन्दर और बाहर लवण रस ही निरन्तर होता है।[9] आत्मा विशुद्ध विज्ञान है, पूर्ण सत् है और परमानन्द है। शंकर के अनुसार आत्मा सत्य, सर्वव्यापक, सर्वगत तथा समस्त अस्त्तिव का अधिष्ठान है, अतएव एकाकी सार्वभौम एवं अनन्त है।[10]

तत्विक रूप में आत्मा और जीव में कोई भेद नहीं है। 'तत्त्वमसि'- महावाक्य इसी बात की प्रतिष्ठित करता है। परन्तु दोनों के सत्ता के स्तर में भेद है। आत्मा पारमार्थिक सर्व है और जीव व्यावहारिक सत् है। आत्मा निरूपाधिक है जीव सोपाधिक। आत्मा निरवयव, विभु, अव्यय, निर्वैक्तक है जबकि जीव सावयव, सीमित, अनेक तथा मानस, बुद्धि अहंकार और चित्त के कारण वैयक्तिक है।

जीव मनोवैज्ञानिक त्तव है। परन्तु जीव की स्वतंत्र सत्ता नहीं है, यह आत्मा का विवर्त है। जैसे निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म दोनों एक ही हैं वैसे ही आत्मा और जीव में अन्तर नहीं है। जीव अविद्या के कारण है, अविद्या के विनाश होने पर जीव विशुद्ध परमात्मस्वरूप हो जाता है। जीव में क्रियाशीलता है। अतः वह कर्ता, भोक्ता और प्रमाता है जबकि विशुद्धात्मा अकर्ता है। परन्तु क्रियाशीलता जीवात्मा का स्वरूप नहीं है, वह उपाधि है। जैसे; नाटक खेलते समय मोहन का राम बनना मात्र उपाधि है। अगर क्रियाशीलता अग्नि के उष्णता जैसा मान लिया

7. विवेक चूड़ामणि - 2, 1, 3।
8. निर्विषयज्ञानमयम् - ब्रह्मसूत्र शां0भा0-3-9
9. नास्यात्मनोन्तबहिर्वा चैतन्यादन्यदपमस्ति. चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपम्। यथा सैन्धवधनस्यान्तबर्हिश्च लवण रस एव निरन्तरोभवति।। - ब्रह्मसूत्र शां0भा0-3, 2. 16
10. सत्यत्वम, स्वमहिमाप्रतिष्ठितत्वम, सर्वगतत्वम्। -ब्रह्मसूत्र शां0भा0- 1-3-9

जाय तब तो मुक्ति संभव नहीं होगी क्योंकि जीवात्मा इन उपाधियों से मुक्ति पाकर विशुद्ध ब्रह्मरूप हो जाती है। शंकर कहते हैं कि आत्मा का कर्तृत्व केवल ऐसे गुणों की उपाधियों के ही आश्रित हैं जो इसके साथ लगी हुयी हैं; किन्तु इसके अपने स्वरूप के ऊपर आश्रित नहीं है।[11] 'पंचदशी में कहा गया हैं कि 'बुद्धि उस कूटस्थ में कल्पित है। उस बुद्धि में चेतन का जो प्रतिबिम्ब हैं वह जब प्राणों को धारण कर लेता है तब उसको जीव कहते हैं। यह जीव ही संसार में फँसा रहता है। कूटस्थ आत्मा संसार से युक्त कभी नहीं होता है।[12] उपनिषद् में जीव को कर्ता और भोक्ता कहा गया है। जीव विषयी विषय, चित अचित् और सत्यता और मिथ्यात्व आदि से युक्त है। यह आत्मा अज्ञान के साहचर्य से युक्त है। यद्यपि आत्मा व्यावहारिक रूप से मन, बुद्धि, अहंकार आदि से घिरा होने के कारण अनन्त नहीं है, परन्तु सर्वोपरि यथार्थ सत्ता के रूप में यह अनन्त है। शंकर के अनुसार जीव और आत्मा का भेद व्यावहारिक ही है, परमार्थिक स्तर पर सारे द्वैत समाप्त हो जाते हैं। जीव और 'आत्मा का भेद अविद्या या माया के ही कारण है। पारमार्थिक स्तर पर अविद्या के समाप्त हो जाने पर भेद मिट जाता है और जीव का असली रूप आत्मा ही रह जाता है। अन्तः आत्मा या ब्रह्म की ही सत्ता अद्वैत रूप में रहती है, शेष सबका बाघ हो जाता है।

आत्मा और जीव के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए अद्वैत-वेदान्त में दो प्रकार का दृष्टान्त दिया गया है। इसकी सिद्धि दो प्रकार से होती है- प्रतिविम्बवाद, एंव अवच्छेदवाद। प्रतिविम्बवाद के अनुसार जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा अनेक जलाशयों में प्रतिविम्बित होता रहता है उसी प्रकार एक ही आत्मा या ब्रह्म समस्त प्राणियों में प्रतिबिम्बित होता रहता है। वही प्रतिबिम्ब जीव हैं जो

---

11. तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृतवं न स्वाभविकम् - ब्रह्मसूत्र शां0भा0- 2, 3, 40
12. कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिविम्बक। प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ।।6-2-23

सीमित है, सापेक्ष है, सविकार और परतंत्र है। परतंत्र इस दृष्टि से है क्योंकि चन्द्र का प्रतिविम्ब सरोवर के जल की मलिनता या स्वच्छता के अनुसार स्वच्छ या मलिन दिखाई देता है और यदि जलाशय का जल शान्त है तो प्रतिविम्व भी शान्त और स्थिर होगा और यदि जलाशय का जल चंचल है तो प्रतिविम्व भी चंचल रहेगा। इसे ही प्रतिविम्बवाद कहते हैं। अविद्या रूपी दर्पण में आत्मा या ब्रह्मरूपी चन्द्र के प्रतिविम्ब को ही जीव कहते हैं। अज्ञान के कारण ही जीव स्वतः को यथार्थ रूप में मानने लगता है। परन्तु, प्रश्न है कि यदि जीव प्रतिबिम्ब है तो अविद्यारूपी दर्पण टूट जाने पर वह स्वयं भी नष्ट हो जायेगा फिर मोक्ष किसका होगा? कैसे होगा? इसके उत्तर के लिए अद्वैत-वेदान्तियों ने दूसरा दृष्टान्त दिया। जैसे एक ही आकाश भिन्न-भिन्न घटों या मठों से आबद्ध होकर विभिन्न रूपों में परिणत हो जाता है, तथा घट, मठ आदि के टूट जाने पर महाकाश बन जाता है वैसे ही आत्मा अविद्या रूपी घट, मठ में प्रगक होकर घटाकाश की तरह जीव रूप में प्रतीत होता है और अज्ञान के समाप्त होने पर जीव निरूपाधिक आत्मरूप में हो जाता है। इस प्रकार सोपाधि रूप को छोड़कर जीव निरूपाधिक ब्रह्म का रूप धारण कर लेता है। अतएव मुक्त हो जाता है।

शंकर रामानुज से सहमत नहीं है कि 'जीवात्मा निरपेक्ष परब्रह्म का अंश हैं।' शंकर के अनुसार चूँकि परब्रह्म देशकाल वस्तु से अपरिच्छिन्न है, अतः अखण्ड है। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, क्योंकि अद्वैतवाद का विनाश होगा। जीव ब्रह्म का विकार नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म निर्विकार है। अतः जीव यथार्थ या तात्विक रूप में आत्मा या ब्रह्म ही है। अज्ञान के कारण वह स्वयं स्वतंत्र त्तव के रूप में प्रतीत होता है, वह कर्ता भोक्ता मान बैठता है। जीव और ब्रह्म में अन्तर नहीं है- 'जीवो ब्रह्मैव नापरः।'

3. अद्वैत-वेदान्त में जगत् का मिथ्यात्व-निरूपण

अद्वैत-वेदान्त में निर्गुण अद्वैत ब्रह्म ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है। जगत् यथार्थ नहीं है, क्योंकि यथार्थता की कसौटी है कि जो जिस रूप में हो उसका कभी भी व्यभिचार नहीं होना चाहिये और उसे त्रिकालाबाधित होना चाहिये। अब चूँकि जगत् के पदार्थ व्यभिचरित है, इनकी उत्पत्ति होती है तथा विनाश होता है: अतः यह सत्य नहीं हो सकता है। ब्रह्म ही एकत्व विशुद्ध सत्ता है और जगत् अनेकत्व है, अतः अयथार्थ है क्योंकि एकत्व और अनेकत्व, सत् और असत्, अबाध्य और बाधित, नित्य और अनित्य दोनों एक साथ यथार्थ नहीं हो सकते हैं। शंकराचार्य ब्रह्म-सूत्र के अपने भाष्य में कहते हैं कि- "भेद और अभेद, एकत्व और अनेकत्व दोनों सत्य नहीं हो सकते हैं। यदि दोनों सत्य होंगे तो भेद व्यवहार करने वाले व्यक्ति के लिए वह 'असत्य में ग्रस्त है' कैसे कहा जायेगा और इस भेद और अभेदवाद दर्शन में ज्ञान से मोक्ष भी उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि यह कैसे कहा जायेगा कि एकत्व ज्ञान से नानात्व ज्ञान का निराकरण होता है।"[1] ब्रह्म जो वाणी, मन, बुद्धि के दायरे से परे है वही यथार्थ है क्योंकि जो ज्ञान का विषय है वह विनाशवान भी है।[2] ब्रह्म या आत्मा लौकिक इन्द्रियों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है. अतः सत्य है। आचार्य गौड़पाद अपनी कारिका में कहते है "स्वप्नदृष्ट पदार्थ जिस प्रकार अभावपूर्ण होने से मिथ्या है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था के पदार्थ भी मिथ्या हैं।"[3] शंकराचार्य इसकी व्याख्या करते हुये कहते है कि चूँकि जाग्रतावस्था के पदार्थ भी स्वप्नावस्था के पदार्थ की तरह दृश्यमान हैं और स्वप्नावस्था के पदार्थ दृश्यमान होने से मिथ्या है; अतः सिद्ध हुआ कि जाग्रतावस्था के भी पदार्थ अयथार्थ अथवा मिथ्या हैं। शंकर इसको अनुमान के रूप में इसप्रकार कहते हैं--जाग्रतावस्था में देखे गये पदार्थ मिथ्या है- यह प्रतिज्ञा है। दृश्य होने के कारण

---

1. उभयसत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते। तथा विधिप्रतिषध शास्त्रमपि भेदपक्षत्वानभाव व्याहन्येत, मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याघात स्यात्। कथं चानृतन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्य आत्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति । - ब्रह्मसूत्र शां0भा0 - 2 1-14
2. यदृश्यं तन्नश्यम् ।
3. गौं0 का0 2 - 4 ।

यह उसका हेतु है। स्वप्न में देखें हुये पदार्थो के समान यह दृष्टान्त हैं। जिम प्रकार वहाँ स्वप्न में देखें हुये पदार्थे का मिथ्यात्व हैं उसी प्रकार जाग्रत में भी उनका दृश्यत्व समान रूप से है यह हेतूपनय है। अतः जागृति में भी इनका मिथ्यात्व माना गया है- यह निगमन है।[1] इस प्रकार इस अनुमान के आधार पर स्वप्न और जाग्रत् अनुभवों में दृश्यत्व के कारण दोनों में असत्यत्व को समान रूप से सिद्ध किया है।

आचार्य शंकर के अनुसार यथार्थ में परस्पर असंगतियों तथा विरोध का अभाव रहता है जबकि 'जगत् जो अयथार्थ है,' में विरोध स्पष्ट दिखाई पड़ता है। देश-काल और कारण-कार्य के विधान में आबद्ध जगत् स्वयं की व्याख्या करने में असमर्थ है। परन्तु ब्रह्म देश-काल और कारण-कार्य की धारणाओं में आबद्ध नहीं है; अतः यही परम यथार्थ है। यथार्थ सब कालों में अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य में विद्यमान रहता है। इसका कालत्रय में सत्ता बनी रहती है।[3] जगत् का न आदि में अस्तिव है न अन्त में; अतः मध्य में अस्तिव रहने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।[3] जगत् परिवर्तनशील है। अतः यह नित्य नहीं है। जो अनित्य है उसकी सत्ता नहीं है। आचार्य शंकर कहते हैं- जो नित्य है उसका आदि नहीं हो सकता और जिसका आदि है वह नित्य नहीं है।[5] जगत् न सत् है क्योंकि इसका बाध होता है। जगत् न असत भी है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता हैं और यह सदसत् एक साथ प्रकाश और अंधकार की तरह नहीं हो सकता, अतः यह सदसत् विलक्षण है।

---

[1] द्रष्टव्य-
माण्डुक्य-कारिका 2,4 पर शांकर-भाष्य ।

[3] कालत्रयसत्तावत् ।

[3] गौ0 का02-6

[5] नहि नित्यं केनाचिदारभ्यतें, लाके यदारब्धं तदनित्यम्-तै0उप0शां0भा0 उपाद्घात्

आचार्य शंकर कहते हैं कि साधारण अनुभव में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो परिवर्तनशील न हो। जगत् में अनेकता है क्योंकि यह आनुभविक है।[1] जगत् का ऐसा स्वरूप है कि यह स्वयं में यद्यपि जड़ पदार्थो- अग्नि, वायु, जल आदि से नियमित रूप से चल रहा है।[2] परन्तु, यह वास्तविक नहीं है। यह जगत् अनित्य रूप में है; अतः इसकी सारी प्रक्रिया अवास्तविक है। जगत् के सम्पूर्ण विकारों का व्यभिचार होता है।[3] शंकर कहते है कि सभी कार्यो का स्वभाव विनाश है।[4] जहाँ कहीं उत्पत्ति है वहाँ विनाश भी है। कार्य रूप में भी होना और नित्य भी होना यह एक साथ संभव नहीं है। अनन्ता की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जगत् एक कार्य है। अतः यह मिथ्या है। शंकर के अनुसार यह संसार दुःख और सुख का आश्रय है।[5] जीव में दुःख और सुख चिन्ता एवं ग्लानि की प्रवृत्ति संसार के पदार्थो से ही अनुभूत करायी जाती है। संसार सुख-दुख का तारतम्य रूप है।[6] यहाँ सुख विशुद्ध आनन्द नहीं है। अपितु जागतिक पदार्थो से उत्पन्न क्षणिक है। चूँकि 'सुख' इन्द्रिय और वस्तु के संयोग से उत्पन्न होता है; अतः उत्पन्न होने से इसका विनाश भी हो जाता है। यह सीमित और अनित्य सुख है। यद्यपि क्षणिक संसार में क्षणिक सुखों की अपेक्षा दुख ही ज्यादा है। इसीलिए महात्मा बुद्ध का यह वचन है 'सर्वम् दुखम्'। इसीलिए सांख्यकारिकाकार ने भी अपनी कारिका के प्रथम श्लोक में ही दुखों के आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए मार्ग-दर्शन देने का प्रयास किया है, और एक स्वतंत्र पद्धति का निर्माण किया है। चूँकि दुख, सुख, व्यभिचार इस जगत् का स्वरूप ही है, फलतः महात्मा गांधी,

---

[1] जगद्वैचित्र्योपलब्धंः- भगवद्गीता शा0भा0 13,2

[2] नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तते- ब्रह्मसूत्र शां0भा0-1-3-39

[3] विकारश्च व्यभिचरति-गीता भा0-2-16

[4] विनाशो धर्मस्य --- कार्यस्य-ईशा0उप0शां0भा0-12,2।।

[5] सुख दुख तद्धंतु लक्षणः संसार : - गीता शां0भा0-12-2 ।

[6] सुख दुख्र तारतम्यं संसार रूपम्- ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-1-13 ।

टालस्टाय और मदर टेरेसा आदि के आध्यात्मिक उपदेश के वावजूद भी ये चीजें समाप्त नहीं हुयीं।

जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए आचार्य शंकर आगे तर्क करते है-जगत् मिथ्या है, क्योंकि इसका बाध होता है। बाध नियम के आधार पर शंकर सिद्ध करते है कि जगत् के सभी पदार्थ देश, काल, कारण से परिच्छिन्न हैं; अतः ये अबाधित नहीं हैं। अबाधित न होने से मिथ्या हैं। शंकर यद्यपि सांसारिक पदार्थो की व्यावहारिक सत्यता को मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं, परन्तु ये पदार्थ पारमार्थिक रूप से असत् है, मिथ्या हैं क्योंकि इनका बाध होता है और सत्य तो वह है जो बाधरहित होता है।[1] शंकर कहते हैं कि यद्यपि इस जगत् के पदार्थो का बराबर अनुभव होता है तथा ये हमारे दैनिक या व्यावहारिक उद्‌देश्यों की पूर्ति करने में भी सक्षम हैं, परन्तु ये स्वप्न की तरह मिथ्या है, क्योंकि दूसरे क्षण में ही इनका बाध हो जाता है।[2] जैसे बाध नियम के आधार पर सभी मानसिक प्रत्यय एवं विषय मिथ्या सिद्ध होते हैं। बाध नियम भी तीन प्रकार का है। शंकर इन तीनों प्रकारों का प्रयोग अद्वैत-वेदान्त में करते हैं।. ये हैं- अनुभव पर आधारित बाध, तर्क पर आधारित बाध और श्रुति पर आधारित बाध। जब शंकर जाग्रत अवस्था में स्वप्न अनुभवों के बाध होने की तथा सुसुप्ति अवस्था में जाग्रत अवस्था के अनुभवों के बाध होने की बात करते हैं तो यह बाध पूर्णतः अनुभव पर ही आधारित होता है। परन्तु जब शंकर जगत् के मिथ्यात्व को इस आधार पर सिद्ध करते हैं कि जगत् की वस्तुएं परिवर्तनशील है, सापेक्ष हैं, तो वे इस प्रकार जगत् का बाध तर्क के आधार पर करतें हैं। श्रुति पर आधारित बाध नियम को हम ब्रह्म-सूत्र 2-1-14 के भाष्य में देख सकते हैं। शंकर कहते हैं कि संसार सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह एक कार्य है और वेदान्त वाक्यों द्वारा सभी कार्यो, व्यवहारों को पारमार्थिक रूप से असत्य घोषित किया गया है।[3] इस

---

[1] सत्यत्वं बाधराहित्यम्- पंचदशी- 3,29 ।

[2] अपरोक्षनुभूति 56

[3] एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभाव वदन्ति वेदान्तः सर्वे।

प्रकार आचार्य शंकर जगत् के मिथ्यात्व का अनुभव तर्क और श्रुति के आधार पर सिद्ध करते हैं। सत्य तो निरूपाधिक अद्वैत ब्रह्म ही है. नानात्व आभास है, अतएव मिथ्या है।

शंकराचार्य ने सत्ता के तीन स्तर बताये हैं- प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक। शंकर पहले सत् और असत् में पूर्णतः भेद स्थापित करते हैं। शंकर के अनुसार जो पूर्णतः असत् है वह न तो कारण हो सकता है और न कार्य ही। न तो इससे किसी वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है तथा न इसकी किसी वस्तु से उत्पत्ति संभव है। असत् से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती और जो असत् है उसका भाव संभव नहीं है।[1] उदाहरण के लिए आयत-वृत्त, शशश्रृंग, बन्ध्यापुत्र, मृगमरीचिका आदि पूर्णतः असत् है। इनका भाव कदापि कथमपि संभव नहीं है। शंकर कहते हैं कि बन्ध्या-पुत्र न तो वस्तुतः ही उत्पन्न हो सकता है और न माया के द्वारा ही।[2] शशश्रृंग की तरह असत् की उत्पत्ति कभी नहीं देखी गयी।[3] परन्तु एक दूसरे प्रकार का भी भ्रम या असत्ता है, जो असत् होते हुये भी निराश्रय नहीं हैं। शंकर कहते हैं कि अविद्याकृत मायामय बीज से उत्पन्न हुये रज्जुसर्पादि का भी रज्जू आदि रूप से सत्ता देखी गयी है। किसी भी पुरुष ने निराश्रय रज्जू-सर्प अथवा मृगतृष्णा आदि कभी नहीं देखे[4] भ्रमात्मक वस्तुएं यद्यपि सत् नहीं हैं फिर भी जबतक वे बाधित नहीं हैं उनकी प्रतीति होती है वे सत्य प्रतीति होती. हैं, क्योंकि उनकी प्रतीति वहाँ होती है। जैसे रज्जू-सर्प में सर्प मिथ्या है; परन्तु जबतक इसका बाध नहीं हुआ रहता यह वास्तविक प्रतीत होता है।

---

[1] नासता विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। गीता 2,16

[2] बन्यापुत्रो न त्तवेन मायया वाऽपिनजायते- माण्ड0का0शां0भा0-1-6

[3] असतः शशविषाणादेः सभुत्पत्यदर्शनात- तैत्त0उप0शां0भा0-2-6।

[4] दृष्टंच रज्जूसर्पादरीनाम विद्याकृत मायाबीजोत्पन्नानां रज्जवाद्यात्मना सत्वम्। ना हि निरस्पदा रज्जूसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित- माण्ड0का0शां0भा0-1-6

शंकराचार्य इन्हीं दोनों सत्ताओं को प्रतिभासिक और व्यावहारिक सत्ता के नाम से पुकारते है और दोनां में भेद स्थापित करते हैं। प्रथम की प्रातीतिक सत्ता ही है जबकि दूसरे की व्यावहारिक सत्ता है। मृगतृष्णा की अपेक्षा वह जल जो प्यास को बुझा सकता है सत्य ही है। परन्तु शंकर प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता के अतिरिक्त पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्ता है। यह अन्य दो सत्ताओं से पृथक है। पारमार्थिक सत्ता ही अपरिच्छिन्न, असीमित, स्वयंप्रकाश, एवं पूर्णसत् है। इसके दृष्टिकोण से व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्तायें नहीं है। ये असत्य हैं। परमार्थ ब्रह्म ही सत्य है।

परन्तु शंकर जगत् की व्यावहारिक सत्यता का अपलाप नहीं करते हैं। इसकी व्यावहारिकता को खुले दिमाग से स्वीकार किया गया है। जबतक परमार्थ ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक जाग्रतावस्था के पदार्थ जीवन के लिए उपयोगी हैं; अतः ये सत्य है। वास्तव में जगत्, को अनिर्वचनीय ही कहना समीचीन होगा, क्योंकि यह पूर्णतः न तो सत् है, न असत् है, नसदसत् है; अतः इसे इससे विलक्षण या अनिर्वचनीय होना चाहिए। जगत् सत् नहीं है क्योंकि इसका स्वभाव परिवर्तनशील है, सीमित है, बाधित है, सत् तो परमार्थ ही है। यह असत् भी नहीं है, क्योंकि इसका व्यवहार में, अनुभव में प्रतीति नहीं होती है। असत् तो वह है जो बन्ध्यापुत्र एवं ख-पुष्प की भांति हो जिसकी कभी भी प्रतीति नहीं होती। अब जगत् सदसत् भी नहीं है, क्योंकि दोनों प्रकाश और अंधकार के समान एक साथ हो नहीं सकते। ऐसा होना स्वयंव्याघात होगा, अतः आचार्य शंकर सत्, असत्, सदसत् की कोटियों से विलक्षण होने के कारण इसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

कारण-कार्य के भाव के आधार पर भी जगत् की अनिर्वचनीयता ही सिद्ध की जा सकती है। जैसा कि पूर्ववर्णित है न्याय का आरम्भवाद तथा सांख्य का

परिणामवाद दोनों कारण-कार्य सम्बन्ध की समुचित व्याख्या करने में अनुपयुक्त है, ये भ्रान्ति पर अवलम्बित हैं। परिणामवादी जहाँ कार्य को कारण से अभिन्न मानते हैं, वहीं भिन्न भी स्वीकार करते हैं। आचार्य शंकर दोनों में बिल्कुल अभेद सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। कारण ही एक मात्र अविनाशी और निर्विकार सत्ता है, कार्य तो उसी कारण का विवर्त मात्र है। कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं, केवल प्रतीति होती है। ब्रह्म ही एकमात्र जगत् का कारण है जो यथार्थ सत्य है, जगत् तो उसमें कल्पित है। यह नानात्व प्रपंच मात्र कल्पनामूलक है। ब्रह्म चैतन्य स्वप्रकाश अखण्ड सत्ता ही है, जगत् तो उसी का आभास है। अतः कारण ब्रह्म ही सत्य है, कार्य जगत् तो प्रातिभासिक है; अतः मिथ्या है, अनिर्वचनीय है। यहाँ ब्रह्म का परिवर्तन नहीं है अपितु विवर्त होता है। जैसे सर्प-रज्जु का विवर्त है। रज्जु ही सत् है, सर्प तो मिथ्या है अनिर्वचनीय है। इस प्रकार शंकर जगत् को मिथ्या एवं अनिर्वचनीय सिद्ध करते हैं।

भारतीय दर्शन में बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार आन्तर विज्ञान ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है, बाह्य वस्तुयें असत् है, मिथ्या है। आचार्य वसुवंधु जगत् की प्रतीति के बारे में कहते हैं कि जैसे तिमिरादि रोगग्रस्त को असत् केशगुच्छादि के दर्शन यों ही नहीं होते हैं, उसी प्रकार जगत् के असत् होते हुये भी वस्तुयें प्रतीत होती है।[1] यहाँ केशगुच्छादि का दर्शन होना ही भ्रम है। यह प्रातिभासिक सत्ता है। वसुवंधु केशगुच्छादि के उदाहरण के द्वारा विज्ञप्तिमात्रता के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता का निषेध करते हैं। अद्वैतवेदान्त की तरह वसुवंधु के अनुसार भी बाह्य वस्तुयें तीनों कालों में नहीं है, जो कुछ भी है विज्ञप्तिमात्रता ही है। वसुवंधु आत्मा और धर्मो को आलय-विज्ञान के परिणाम कहते हैं।[2] परन्तु यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि वसुवंधु का परिणामवाद सांख्य के परिणामवाद की तरह है,

[1] विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात्। यदवत् तैमिरिकस्यासत् केशोण्डकादिदर्शनम् - विंशिका- कारिका

[2] आत्मधर्मोपचारी हि विविधो यः पवर्तते, विज्ञान परिणामेऽसौ- त्रिसिका का0 ।

क्योंकि स्थिरमति ने परिणाम की व्याख्या करते हुये इसे अन्यथा-भाव[1] कहा है। वसुवंधु ने कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति को स्वीकार किया है। जगत् विज्ञान पर आरोपित है, जैसे अद्वैत वेदान्त में जगत् ब्रह्म का आभास है। वाह्य वस्तुयें परिकल्पित है, परमार्थतः वे वस्तुयें है ही नही। जिस प्रकार समुद्र और उनकी तरंगे हैं उसीप्रकार विशुद्ध विज्ञप्ति और बाह्य वस्तुयें है। एक बात ध्यान देने की है कि जब वसुवंधु दृश्य प्रपंच को स्वप्नवत् या तिमिररोगी के केशगुच्छादि के समान बताते है, तो यह नहीं समझना चाहिये कि वे असत् हैं। वस्तुतः स्थिति यह है कि सविकल्प बुद्धि को कोटियों द्वारा कल्पित जगत् स्वतंत्र अस्तिव नहीं रखता है। शंकराचार्य की भांति वसुबंधु भी सत्ता को त्रिविध मानते हैं। परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न ये तीन प्रकार की सत्तायें हैं। परिकल्पित स्वाभावाली वस्तुयें आभास या प्रतीति मात्र हैं, इनका अपना स्वाभाव नहीं है। जैसे रज्जु में सर्प की कल्पना परिकल्पित है।[2] परिकल्पित की अपेक्षा परतंत्र सत्य है, यह ज्ञान-सापेक्ष है। यह कारण -कार्य पर आधारित है; परन्तु यह निरपेक्ष सत्ता नहीं है, यह प्रतीत्यसमुत्पन्न है। जागतिक पदार्थो की ऐसी ही सत्ता है। परिनिष्पन्न ही याथार्थ सत्ता है। यह परतंत्र सत्ता का अधिष्ठान है। अविद्या के कारण परिनिष्पन्न ही परतंत्र रूप में भासने लगता है। यद्यपि परिनिष्पन्न ग्राह्य ग्राहकादि द्वैत से परे हैं। यह बुद्धि की पहुंच के परे हैं। परिनिष्पन्न समस्त प्रपंचों का आधार होते हुये भी प्रपंच से भिन्न है। यह अतीन्द्रिय है। यही निरपेक्ष सत् हैं। यही परमार्थतः निःस्वभाव है। इस प्रकार हमने देखा कि आचार्य वसुवंधु ने एकमात्र निरपेक्षसत्ता विज्ञप्तिमात्र को बताया है, जगत् मिथ्या है, आरोपित है। यहाँ भी प्रपंच का एकदम अपलाप नहीं किया गया। डा0 चन्द्रधर शर्मा[3] ने कहा है कि विज्ञानवाद में प्रपंच या बाह्य पदार्थ के विषयत्व का खण्डन नहीं किया गया

---

1 विज्ञप्तिमात्रता सिद्धिः स्थिरमति भाष्य। पृ028

2 येन-केन विकल्पेन यद्-यद् वस्तु विकल्प्यते, परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते - त्रिंशिका का0-20

3 बौद्ध दर्शन और वेदान्त - पृ0 94

है। इसी कारण डा० शर्मा[1] ने विज्ञानवाद को वैयक्तिक दृष्टि-सृष्टिवाद या मनोविज्ञानवाद अथवा विशुद्ध विषयीवाद कहने को तैयार नहीं हैं। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यता विज्ञानातिरिक्त के रूप में असत् है, यह विज्ञान सापेक्ष बाह्यता है। अतः जगत् विज्ञान सापेक्ष है, मिथ्या है।

आचार्य वसुवंधु के विज्ञानवाद की ही परम्परा में आचार्य दिङ्गनाग और धर्मकीर्ति हुये जिनमें विज्ञानवाद का चरम विकास हुआ। इसी परम्परा में आचार्य शान्तरक्षित एवं कर्मशील भी आये जिनके द्वारा विज्ञानवाद की युक्ति-युक्त व्याख्या की गयी। यद्यपि इनका दर्शन परम्परागत बौद्ध दर्शन से कुछ भिन्न है। इसे स्वतंत्र विज्ञानवाद[2] कहा जाता है। इसी विज्ञानवाद का आचार्य शंकर ने निराकरण या प्रत्याख्यान अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में किया है। आचार्य दिङ्गनाग के अनुसार बाह्य वस्तुओं का कोई अस्तिव नहीं है। विज्ञान ही एक मात्र त्तव है इस मूल सिद्धान्त को दिङ्गनाग आदि भी स्वीकार करते हैं। जो कुछ घट पटादि के रूप में दिखायी पड़ता है वे सब विज्ञान के ही आकार है। विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के रूप में अवभासित हो रहा है। धर्मकीर्ति के अनुसार परमार्थ वह है जो अर्थक्रियाकारित्व में समर्थ है। अतः असत् वह है जो किसी कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ है। धर्मकीर्ति के अनुसार बाह्य वस्तुयें असत् हैं फिर भी अनादि वासना के कारण नानात्व एवं बाह्यत्व दिखाई पड़ता है। परमसत् ग्राह्य-ग्राहकत्व से परे है। पाण्डु रोगी जिस प्रकार शंख को पीला देखता है- उसी प्रकार अविद्याग्रस्त होने के कारण लोग विज्ञान को परमसत्ता के रूप में नहीं समझ पाते, न हि बाह्य वस्तुओं को असत् समझते हैं बल्कि विज्ञान को ही बाह्य वस्तुयें मान बैठते हैं। धर्मकीर्ति ने वस्तु और वस्तु के ज्ञान में पार्थक्य नहीं माना है। अतः ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है। जगत् वस्तुतः असत् या मिथ्या है। धर्मकीर्ति का

---

[1] बौद्ध दर्शन और वेदान्त-पृ० 94

[2] बौद्ध दर्शन और वेदान्त- पृ 99

'सहोपलम्भनियमादभेदो नील तद्धियो' नियम प्रसिद्ध है। अतः ज्ञान और ज्ञेय में कोई अन्तर नहीं है; दोनों एक ही हैं। अतः ज्ञान के अतिरिक्त जगत् और उसके पदार्थ जो ज्ञेय विषय हैं, उनकी कोई सत्त्ताा नहीं है। दिङ्गनाग भी 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु वहिर्वदवभासते' सूत्र से आन्तर-विज्ञान की सत्ता को ही प्रतिष्ठित करते हैं। आन्तरविज्ञान ही वहिर्विश्व में ज्ञेय रूप मे भासता है।

महान् बौद्ध आचार्य नागार्जुन जिन्होंने शून्यवाद या माध्यमिक दर्शन को प्रतिष्ठित किया है, बाह्य जगत् की वस्तुओं को अवास्तविक या शून्य कहा है। नागार्जुन आन्तर-विज्ञान को भी असत् कहते हैं। प्रपंच चाहे आन्तर हो अथवा बाह्य वे प्रतीति मात्र नहीं हैं। जहाँ विज्ञानवाद ने मात्र जगत् को ही मिथ्या कहा है वहीं नागार्जुन ने विज्ञान और बाह्य जगत् के वस्तु को भी अयथार्थ कहा है। नागार्जुन कहते है कि ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तीनों के रूप में वस्तुयें असिद्ध हैं। जिसप्रकार माया, गन्धर्वनगर, स्वप्न मिथ्या है उसीप्रकार आन्तर और बाह्य प्रपंच भी मिथ्या है।[1] संसार नामरूप होने से माया है क्योंकिं नामरूप ही माया है और माया ही नामरूप है।[2] संसार प्रतीत्यसमुत्पन्न है और प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से स्वभावशून्य है और स्वभावशून्य होने से मिथ्या है। जगत् सत्, असत्, सदसत् और सदसत् से भिन्न होने से मिथ्या है, अनिर्वचनीय है। यह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। नागार्जुन कहते हैं कि भाव पदार्थ न स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः और न दोनों से एवं न बिना हेतु के ही होते हैं। इस प्रकार भाव पदार्थ कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।[3] इस प्रकार आचार्य नागार्जुन वस्तुओं को सापेक्ष होने से मिथ्या सिद्ध करते हैं।

---

[1] यथा माया यथा स्वप्ना गन्धर्वनगरं यथा। मा0का0 7,34

2. नामरुपमंव माया मायैव नामरुपम्-शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता - पृ0 898 ।

3. न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यऽहेतुतः । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते मावाः क्वचन कचन।। -माध्य0का01-3

जब आचार्य नागार्जुन वस्तुओं को शून्य कहते हैं तो उनका तात्पर्य वस्तुओं की स्वभावशून्यता से हैं वहाँ परमार्थ सत्ता भी शून्य ही है। जगत् की वस्तुयें स्वभाव शून्य हैं क्योंकि सापेक्ष है और परमत्तव निष्प्रपंच होने से सा शून्य है, क्योंकि वह बुद्धि के विकल्पों सतः असत्, सदसत् भिन्न इन चारों से परे है। अतः वह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। यह कारण कार्य से भिन्न है। जगत् की वस्तुएँ कारणाधीन हैं; अतः वे सापेक्ष हैं। जो सापेक्ष है वह सत्य नहीं है। अतएव जगत् मिथ्या है। इसीलिए इसे नरश्रृंग अथवा स्वप्नसदृश कहने का मतलब यह नहीं है कि इसका अभाव है। परन्तु इसका अपना कोई स्वभाव नहीं है। जगत् की सावृत्तिक सत्ता है जैसे अद्वैत वेदान्त में जगत् की व्यावहारिक सत्ता है। परन्तु परमार्थ की दृष्टि से इसका अभाव है। जगत् सर्वाभाव नहीं है, अपितु यह संवृत्ति सत्य है। यह आलीक नहीं है अपितु पारमार्थिक दृष्टि से सत्ता शून्य है। **'वस्तुयें शून्य है'** का एक ही अर्थ है कि ये सापेक्ष हैं और परतंत्र स्वभाववाली है। परमार्थ सत् को व्यावहारिक दृष्टि से शून्य कहा गया है और जगत् को सापेक्षितया शून्य कहा गया है।

जगत् के मिथ्यात्व सिद्धि में मनन का अनुप्रयोग :

शंकराचार्य के अनुसार जगत् को मिथ्या कहा गया है। जगत् रज्जू-सर्प के समान अथवा स्वप्नवत् है। जैसे रज्जू-सर्प में सर्प मिथ्या है, रज्जू ही सत्य है, वैसे ही जगत् मिथ्या है, ब्रह्म ही निरपेक्ष त्रिकालाबाधित सत्ता है। जगत् अविद्या के ऊपर आश्रित है, अतः सापेक्ष है। जगत् ब्रह्म का अध्यास है; जैसे सर्प-रज्जु का। इस प्रकार जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है।[1]

पंचपदिकाकार ने मिथ्या शब्द के दो अर्थ बताये हैं। अनङ्व तथा अनिर्वचनीयता जगत् में मिथ्या शब्द का प्रयोग अनङ्व के अर्थ में किया गया

1-मिथ्या शब्दो च.यर्थः अद्वयवचनो निर्वचनीयता वचनश्च- पंचपादिका पृ0 67, 68

है।[1] वैसे अनिर्वचनीयता अर्थ ही प्रसिद्ध है। जगत् अनिर्वचनीय है। यह सद्, असत्, सदसत् तथा सदसत् भिन्न होने से अनिर्वचनीय है। पंचपदिका में कहा गया है कि अद्वैत में मिथ्या शब्द का अर्थ अनिर्वचनीयता ही है।[2] अत: जगत् न सद्रूप है, न असद्रूप है, ना सदसद्रूप है तथा न सदसदभिन्न रूप है। अत: अनिर्वचनीय है। जगत् इसी अनिर्वचनीय अर्थ में ही मिथ्या है। द्वैतवादी न्यायामृतकार व्यासतीर्थ इसका खंड्न इस आक्षेप के द्वारा करते हैं कि सदसदनधिकरणत्व रूप अनिर्वाच्यत्व अप्रसिद्ध है। न्यायामृतकार ने सदसदनधिकरणत्वरूप साध्य के तीन विकल्प करके तीनों में अर्थान्तरादि दोष दिखाते हैं। ये तीन विकल्प इस प्रकार हैं।[3]

(1) असत्व से विशिष्ट सत्व का अभाव

(2) सत्व के अत्यन्ताभाव और असत्व के अत्यन्ताभाव से युक्त या

(3) सत्व के अत्यन्ताभाव से विशिष्ट असत्व का अत्यन्ताभाव।

प्रथम विकल्प दोषरहित नहीं है, क्योंकि माध्व मत में सत्वमात्र का आधार जगत् है। उसमें असत्व-विशिष्ट सत्व का अनङीकार' होने से असत्वविशिष्ट सत्व का अभाव साधन करने पर सिद्ध साधन है। अत: असत्व से विशिष्ट सत्यभाव रूप अर्थ नहीं हो सकता है। दूसरे विकल्प में भी दोष को प्रदर्शित करके न्यायामृतकार ने इसका भी निराकरण कर दिया। वे कहते हैं कि सत्व अथवा असत्व इन दोनों की परस्पर अभाव रूप होने से दो में से एक का अभाव होने पर दूसरे के सत्व की नियम से प्राप्त होने से व्याघात है, तथा सत्वासत्व का रहित्य होने पर भी द्वैत में ब्रह्मवत् सद्रूपता होने से अर्थान्तर भी है, तथा जैसे शुक्ति में अध्यस्त दृष्टान्तरूप रजत में आबाध्यत्वरूप जो सत्व है उसके अभाव के विद्यमान होने से बाध्यत्व रूप असत् के व्यतिरेक की असिद्धि से साध्याभाव है,

[1] मिथ्येत्यनिर्वचनीयतोच्चयते । पंचपादिका पृ0 88

[2] सत्वे सत्यसत्वरूपविशिष्टस्याभावोऽभिप्रेत:। किंवा सत्वाऽत्यन्ताभावासत्वात्यन्ताभावरपधर्मद्वयम्। यद्वासत्वात्यन्ताभ्गवत्वेसति असत्वात्यन्ताभाववत्वरूपं विशाष्टम्-न्यायामृत-पृष्ठ-22

इस प्रकार न्यायामृतकार से अर्थान्तरादि दोषों को प्रदर्शित करते हुए इस द्वितीय अर्थ का भी निर्वचन करते हैं। इसी तरह तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपरोक्त दो विकल्पों में जो दोष है वहीं इसमें भी है।[1]

अद्वैतसिद्धि में मधुसुदन सरस्वती ने न्यायामृत के अनिर्वचनीयता के इन अर्थो में जो द्वितीय अर्थ है अर्थात् 'सत्वात्यन्ताभावासत्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वंय' इस विकल्प को दोषरहित सिद्ध किया है। इस तरह जगत् की अनिर्वचनीयता अथवा उसके मिथ्यात्व की पुष्टि करते हैं। अद्वैतसिद्धिकार तर्क करते हैं। जैसे एक ही धर्मी वायु में रूप और रस धर्म का अभाव है, उसी तरह अनिर्वचनीयता में सत् और असत् दोनों का अभाव है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि सत्व और असत्व तो परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, इसलिये एक के अभाव में दूसरे का भाव और एक के भाव से दूसरे का अभाव होगा, जो सत् न होगा, वह असत् होगा और जो सत् होगा वह असत् नहीं होगा। अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। अद्वैतवेदान्त की यह मान्यता नहीं है कि कोई पदार्थ सत् नहीं है तो असत् हो जाये या असत् नहीं है तो सत् हो जाये ऐसा भी पदार्थ संभव है जो कि सदसत् अनुभव रूप हो, क्योंकि अद्वैतवेदान्त की मान्यता है कि जो त्रिकालाबाध्यत्वरूप है वही सत् है। एवं भूत सत् का अत्यन्ताभाव असत् है- ऐसी उनकी मान्यता नहीं है। असत् का स्वरूप तो यह है जो किसी भी धर्मो में सत्व रूप से प्रतीत नहीं होता।[2] जो भ्रमरूप से, प्रमारूप से किसी भी प्रकार किसी भी उपाधि में प्रतीति का विषय नहीं, वही प्रतीयमानत्वानधिकरण शब्द से विवक्षित है। अकाशकुसम बंध्यापुत्रादि कभी भी किसी भी प्रकार प्रतीति के विषय नहीं हो सकते हैं। घटादि पदार्थ प्रतीयमान होते हैं, परन्तु किसी भी वस्तु की प्रतीति मात्र से ही वस्तु सत् नही

---

[1] अद्वैत सिद्धि पृ0 50

2.त्रिकालाबाद्यत्व रुप सत्वव्यतिरेको नासत्वम् किन्तु क्वचिदप्युपाधौ सत्वेन प्रतीयमानत्वानधिपकरणत्वम्
- अद्वैत- सिद्धि पृ0 - 50--51 ।

बन जाती, क्योंकि प्रतीति भ्रमवशात् भी होती है। वस्तुत: त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत् एक मात्र ब्रह्म ही है।

विरोधी आरोप है कि जिस प्रकार निर्धर्मक ब्रह्म में सत्व और असत्व धर्म न रहने पर भी ब्रह्म सद्रूप हो सकता है, उसी प्रकार प्रपंचरूप धर्मो में भी सत्व और असत्व धर्म न रहने पर भी प्रपंच सद्रूप हो सकता है।[1] अद्वैतसिद्धिकार का तर्क है कि प्रपंच ब्रह्म के समान सद्रूप होगा, इसमें प्रमाण क्या है? विरोधी कहते है कि घटः सन घट है, इत्यादि प्रत्यक्ष ही प्रपंच की सद्रूपता में प्रमाण है। अद्वैत वेदान्ती का कहना है कि प्रपंचान्तर्गत प्रत्येक वस्तु की कल्पना करने की अपेक्षा स्वप्रपंचानुमत एक ब्रह्म की सद्रूपता की कल्पना लाघव होगा तथा सद्रूप ब्रह्म के घटादि वस्तुओं में अनुगत होने से घटादि वस्तुयें भी सद्रूप से प्रतीत होती हैं। इसमें '[illegible]तदात्म्यमिद सर्व' 'इदमसर्वम् यदयमात्मा' 'ब्रहमैवेदं सर्वम्' 'अत्मैवेदं सर्वम्' आदि श्रुतियां भी चरितार्थ होती हैं। प्रपंच की सदरूपता के लिए त्तत् वस्तुओं की सदरूप मानने पर 'अनन्त सदरूपता कल्पनारूप [illegible] दोष' होगा। एक मात्र ब्रह्म की सदरूपता कल्पना से व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है। इस प्रकार 'लाघव' ही प्रपंच सदरूपकल्पना में बाधक है, अतः अर्थान्तरता कल्पना समीचीन नहीं है। अधिठानभूत सदरूप ब्रह्म में समस्त प्रपंच तादात्म्य सम्बन्ध से आरोपी है, और उसी अधिष्ठान की सत्ता से प्रपंच भी सदरूप-सा प्रतीत होने लगता है अन्यथा आरोपित प्रपंच की सत्ता है ही नहीं ऐसा शंकर का मत है।[2] विरोधी घटः सन् आदि प्रत्यक्ष प्रमाण प्रपंच की सदरूपता की सिद्ध में जो उपन्यस्त करते हैं, वह भी युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रामाणिकता व्यवहार जगत् तक ही सीमित है, जबकि श्रुति का तात्विक प्रामाण्य सिद्ध है।

---

[1] निर्धर्मक ब्रह्मवत्सत्वराहित्ये पि सद्रूपत्वेनामिथ्यात्वोपऽत्यार्थान्तराच्च। न्यायामृत पृ0 24

[2] आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ताधिष्ठानमाभति तथाश्रमण वि0च0-237

इसी प्रकार शुक्ति-रजत या रज्जु-सर्प दृष्टान्त में साध्यवैकल्प दोष भी नहीं नहीं है, क्योंकि किसी भी उपाधि में सत्वेन अप्रतीयमानत्व ही असत्व है। एवं रूप असत्व शुक्ति रजत में नहीं है, शुक्ति रजत की प्रतीति भ्रमकालिक सर्वलोक विदित है। शुक्तिज्ञान से बाधित होने के कारण शुक्ति रजत में त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्व नहीं है। अतः सत्व और असत्व का आभावरूप साध्य शुक्ति रजत में रहने से उक्त दोष नहीं हुआ।[1]

मिथ्यात्व की परिभाषा करते हुए विवरणाचार्य प्रकाशात्मयति ने कहा है कि बाध्यत्व ही मिथ्यात्व है।[2] और यह बाधत्व प्रतिपन्नोपाधि में अभाव प्रतियोगित्व रूप अथवा मिथ्यात्व का निरूपण 'नेहनानाऽस्ति किंचन' इस श्रुत्यनुसारी है और 'ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्व लक्षण विद्यावान नाम रूपादविमुक्त:; इस श्रुति के अनुसार है। इस पर विरोधी इस प्रकार आक्षेप करते हैं कि उत्तर ज्ञान द्वारा निवर्तनीय पूर्व ज्ञान में मिथ्यात्व लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। जैसे 'कि यह घट है' इस ज्ञान के अनन्तर 'यह पट है' ऐसा ज्ञान हुआ अब इस प्रक्रिया में 'यह पट है' के ज्ञान के द्वारा यह घट है का ज्ञान विनष्ट हो जाता है। अतएव उत्तर ज्ञान द्वारा पूर्वज्ञान का नाश हुआ और मिथ्यात्व लक्षण की अतिव्याप्ति पूर्वज्ञान में हुई, क्योंकि उत्तर ज्ञान द्वारा नाश्य पूर्वज्ञान विनाशी तो है, पर वह मिथ्या नहीं। अलक्ष्य में लक्षण के आ जाने से अतिव्याप्ति हुई। अतएव, सिद्धसाधनता दोष होगा।

अद्वैत-वेदान्ती कहते हैं कि 'ज्ञान-निवर्त्य' का अर्थ इस तरह नहीं किया जाता जैसे कि विरोधी करते हैं। ज्ञान निवर्त्यत्व से अद्वैत वेदान्त का तात्पर्य है 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरह-प्रतियोगित्वम्' अर्थात् ज्ञान प्रयुक्त अवस्थित सामान्य

---

[1] एवं चसति न शुक्तिरूप्ये साध्यवैकल्यमणि- अव्दैत-सिद्धि पृ0-5

[2] बाधक ज्ञानसिद्धस्य प्रतिपन्नोपाधावभाव प्रतियोगित्वलक्षणस्य मिथ्यावस्य पुनः स्वशब्देन परामर्शाच्च बाध विषयो मिथ्यात्वमिति पंचपादिका विवरण पृ0 - 213

का अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व ही ज्ञान-निंवर्त्यत्व का अर्थ है और एवंभूत प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। ज्ञान पद से अधिष्ठानत्तवज्ञान ही लिया जाता है। अर्थात् अधिष्ठानतत्त्वज्ञान व्यापक है जो अवस्थिति सामान्य का अत्यन्ताभाव त्तप्रतियोगित्व मिथ्यात्व है।[1]

विरोधियों की एक शंका यह है कि अद्वैत वेदान्त में एक अज्ञानवादी अद्वैत वेदान्ती हैं जिनके अनुसार अज्ञान एक है। वे लोग घट विषयक या ब्रह्म विषयक अज्ञान को भिन्न-भिन्न नहीं मानते, अपितु सभी एक अज्ञान है, ऐसा कहते हैं। उनके अनुसार अज्ञान या अज्ञान कार्य ब्रह्मज्ञान द्वारा निवर्तनीय हैं। शुक्तिरजतादि प्रातिभासिक वस्तुओं की निवृत्ति शुक्तिर्तयादि साक्षात्कार से नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर अज्ञान के एक होने से सर्वत्र अज्ञान की निवृत्ति मानी जायेगी और शुक्तिसाक्षात्कार द्वारा मुक्ति प्रसंग हो जायेगा और शुक्ति-रजत मिथ्यात्व सिद्ध करने में दृष्टान्त भी नहीं बन सकेगा।[2] इस आक्षेप के निराकरण के लिए अद्वैत वेदान्ती अज्ञान को विषय भेद से अनेक मानते है।[3] अतएव शुक्तिरजत स्थलादि में भी शुक्तिज्ञान से शुक्ति अज्ञान मूलतः निवृत्ति नहीं होती। अर्थात् सूक्ष्म रूप से या कारण रूप से शुक्ति विषयक अज्ञान बना ही रहता है। सम्पूर्ण रूप से अज्ञान की अवस्थिति का सामान्यतः विग्रह ब्रह्म ज्ञान से ही होगा, ऐसा मानने से एक अज्ञान पक्ष में भी दोष नहीं है।

त्तत्व-प्रदीपिकाकार चित्सुखाचार्य ने मिथ्यात्व को इस प्रकार परिभाषित करते हैं- सर्वेषामपिभावनांस्वाश्रवत्वेन संमते। ःतियोगित्व मत्यन्तवाभवं प्रति मृषात्मा।[4] इसी लक्षण को अद्वैतसिद्धि में इस प्रकार कहा गया है- 'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभाव

---

[1] लघु चन्द्रिका पृ0 160

[2] लघु चन्द्रिका पृ0 169

[3] तत्द्रुप्योपादानानां अज्ञानानां भेदाभ्युपगमात- अव्दैत सिद्ध पृ0-169

[4] चित्सुखी- पृ0 39

प्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्' अर्थात् मिथ्या वस्तु के आश्रय के रूप में अभिमत जो अधिकरण तदधिकरण में जो अत्यन्ताभाव, उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्या है।[1] जैसे कि पटादि भाव वस्तुओं के आश्रय के रूप में अभिमत अर्थात् प्रतीत जो तन्तु आदि, तन्निष्ठ पटादि का अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ पर जो वस्तु वस्तुतः नहीं है, वहाँ पर वह वस्तु प्रतीत होने पर भी वह मिथ्या है। तन्तु आदि पटादि के कारण हैं और पटादि के यदि किसी समय कहीं पर सत्ता हो तो वह तन्तुओं में ही संभव है। तन्तुओं को त्यागकर पट की सत्ता अन्यत्र सम्भव नहीं है और इन तन्तुओं में ही यदि पट की सत्ता का अभाव हुआ तब तो पट का मिथ्यात्व स्वीकार ही करना पड़ेगा।[3] कार्य की सत्ता कारण में ही होती है और कारण में कार्य की सत्ता का अभाव सिद्ध हो जाने पर कार्य मिथ्या ही होगा। इस तरह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही एक मात्र सत् है, वही अनाश्रित है तथा समग्र प्रंवचात्मक जगत् ब्रह्माश्रित है; अतः मिथ्या है।

इस तरह हमने देखा कि जगत् एक विशेष अर्थ में ही मिथ्या है। साधारणतः विद्वावान मिथ्या शब्द से असत् अर्थ लगाते हैं। परन्तु अद्वैत-वेदान्त में इस मिथ्या शब्द का प्रयोग सापेक्ष एवं परिच्छिन्न वस्तुओं के लिए हुआ है। शंकर के अनुसार सत् त्रिकालाबाध्य है। यह देश, काल और वस्तु से अबाधित है। अतः ऐसा मात्र ब्रह्म ही सत् है। प्रपंचात्मक जगत् चूँकि बाधित है, देश, काल, वस्तु से परिच्छिन्न है अतः मिथ्या है। यह सत् नहीं है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्त में सत्ता तीन प्रकार की मानी गयी है। ब्रह्म ही परमार्थ सत् है। जगत् अव्यावहारिक सत् है। शुक्तिः रजत, रज्जू-सर्प की सत्ता प्रातिभासिक है। जहाँ कि द्वैतवादी शुक्ति-रजत को असत् मानते है, अद्वैतमत में इसे भी प्रातिभासिक रूप से

---

[1] अद्वैतसिद्धि पृ0-182

[2] तथा हि घटादीनां भावानां स्वाश्रयत्वेनाभिमतस्नात्-त्वादयो ये तन्निष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगितैव तेषा मिथ्यात्वम्- चित्सुखी पृ0- 39

[3] चित्सुखी पृ0- 39, 40

सत् कहा गया है। असत् तो खपुष्प बन्ध्यापुत्रादि ही हैं जिसकी किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है। अतः जगत् अलीक नहीं हो सकता। हां व्यावहारिक सत्ता से प्रातिभासिक सत्ता का बाध होता है, पारमार्थिक सत्ता से व्यावहारिक सत्ता का बाध होता है, परन्तु पारमार्थिक सत्ता जो ब्रह्म की है वह अबाधित है। इस प्रकार त्रिविध सत्ता को मानने के कारण अद्वैत वेदान्त को असत्वादी नहीं कहा जा सकता है। जब तक परमार्थ का ज्ञान नहीं होता तबतक जगत् की सत्ता को नाकारा नहीं जा सकता है। शुक्ति-रजत में भी शुक्ति के ज्ञान के पूर्व रजत की सत्ता को अस्वीकारा नहीं जा सकता । पं0 कोकिलेश्वर शास्त्री का यह कथन कि अद्वैत की व्याख्या सापेक्ष या व्यावहारिक वस्तुपरक की है, सही लगता है। जब शास्त्री यह कहते हैं कि अद्वैत वेदान्ती परिवर्तन को भी व्यवहार में सत् मानते हैं तो उनका तात्पर्य जगत् की सापेक्ष सत्ता से ही है न कि निरपेक्ष ब्रह्म के समान सत्ता से है। क्रम स्थल में वस्तु की सदसत् अनिर्वचनीय कहने का यही मतलब है। शुक्ति-रजत, रज्जु-सर्पादि वस्तुयें किस अधिष्ठान की अपेक्षा रखने के कारण सत्य नहीं हैं और सत् रूप से प्रतीति के विषय होने के कारण अत्यन्त असत् भी नहीं है, अपितु दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय है। इस प्रकार कूटस्थ नित्य ब्रह्म को सत् कहा गया है। परिणामी तथा देशकाल और वस्तुओं से सीमित जगत् मिथ्या है। पारमार्थिक ब्रह्म ज्ञान होने से ही जगत् मिथ्या है, अन्यथा जगत् सत्य है। जैसा कि द्वैतवादी या यथार्थवादी दर्शनों में जगत् को सत्य कहा गया है।

ब्रह्म के अनिवार्य ज्ञान के लिये ही आचार्य शंकर ने वेदान्त वाक्यों की व्याख्या की थी और अज्ञान या मिथ्यात्व के निषेध से ही ब्रह्मात्मैकत्व बोध संभव है, इसलिए जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन अद्वैत आचार्यो को करना पड़ा। मिथ्या के निषेध के द्वारा ही आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर साधक परमश्रेय मुक्ति को प्राप्त करता है। मुक्ति की दृष्टि से ही जगत् मिथ्या सिद्ध होता है। इसी स्थिति में सभी तरह के भेद विनष्ट हो जाते है। उस समय मात्र एकाद्वैत ब्रह्म की ही सिद्धि होती है।

4. मायावाद एवं तार्किक अनिवार्यता

मायावाद अद्वैत दर्शन का केन्द्र-बिन्दु अथवा आधारशिला है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह नानात्तव चराचर दृश्यमान जगत्, जीव,बंधन मोक्ष दुख आदि माया के द्वारा ही उत्पन्न हैं। ब्रह्म ही सदसदनिर्वचनीय शक्ति माया से समन्वित होकर ईश्वर हो जाता है। निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निर्विकल्प ब्रह्म अपनी माया शक्ति से ही सगुण, साकार, सविशेष, सविकल्प हो जाता है। सगुण ब्रह्म ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। ब्रह्म स्वयं को जगत् और जीव रूप में प्रकाशित करता है। जगत् ब्रह्म का आभास है, विवर्त है। इस प्रकार मायावाद शंकर के दर्शन में शीर्षस्थ स्थान पर है।

'माया' शब्द यद्यपि शंकर के पूर्व भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है, परन्तु जिस अर्थ में आचार्य शंकर ने इसका प्रयोग किया है वैसा प्रयोग पहले नहीं हुआ है। माया को विभिन्न अर्थो में प्रयोग किया गया है। यास्क निघण्टू इसे प्रज्ञा या बुद्धि के समान बताते है।[1] सायण ने इसे प्रज्ञा का कपट कहा है।[2] ऋग्वेद में माया से अनेक रूप ग्रहण सामर्थ्य होना बताया गया है।[3] अर्थात् माया वह शक्ति है जिससे रूप परिवर्तित किया जा सके। उपनिषदों में माया को देवात्म शक्ति कहा गया है।[4] ब्रह्म-सूत्र में माया शब्द का एकबार प्रयोग हुआ है[5] जिस पर शंकर ने व्याख्या कि 'यह सृष्टि स्वप्नवत् है, माया ही है, परमार्थ का गन्धलेश भी नहीं है।' भगवत्गीता में माया को ईश्वर की शक्ति कहा गया है।[6] माया

---

[1] निरूक्त - 1,6,4

[2] सायण ऋग्वेद पर भाष्य 3,27,7

[3] ऋग्वेद ऋचा 6,47,18 इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते।

[4] श्वेता0उप0- 1,3,4,10

[5] ब्रह्मसूत्र 3,2,3 शां0भा0- मायैव सृष्टिनेपरमार्थगन्धाऽप्यस्ति-

[6] गीता- 7,14-15

को त्रिगुणमयी कहा गया है। गौड़पादकारिका में माया को एक अद्‌भुत शक्ति कहा गया है जो वास्तव में अस्तित्वहीन या अविद्ययमान है।[1] पंचदशी में कहा गया है कि जैसे ताप अग्नि में निहित है वैसे ही माया शक्ति ईश्वर में निहित है। माया कि उपस्थिति इसके कार्य से ही मालूम होता है।[2] माया को अविद्या भी कहा गया है। अविद्या ज्ञान का अभाव रूप है।[3] इस प्रकार ऐतिहासिक काल से ही विभिन्न रूपों में माया का प्रयोग होता रहा है। परन्तु, शंकर ने मायावाद के द्वारा अद्वैतवेदान्त की स्थापना जिस रूप में की वह स्वंय में अपूर्व है।

ब्रह्मसूत्र की अपनी व्याख्या में शंकर प्रायः माया को मिथ्या ज्ञान, अज्ञान तथा अविद्या के समान बताते हैं। ये सब एक ही अर्थ में प्रयुक्त है। शंकर कहते हैं कि माया अविद्या या मात्र बीजशक्ति है जिसे अव्यक्त भी कहा जाता है। माया परमेश्वर ब्रह्म के आश्रित है। माया अव्यक्त रूप है क्योंकि माया सदरूप है अथवा असदरूप है, ब्रह्म से अभिन्न है अथवा भिन्न, आदि निश्चित निरूपेण नहीं किया जा सकता है।[4] 'विवेक-चूड़ामणि' में आचार्य शंकर माया को इस प्रकार परिभाषित करते हैं। जो अव्यक्त नामवाली, त्रिगुणात्मिका, अनादि, अविद्या, परमेश्वर की पराशक्ति है, वही माया है, जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान मनुष्य इसके कार्य से ही इसका अनुमान करते हैं। माया न सत् है, न असत् है, और न सदसत् रूप ही है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न (भिन्न-भिन्न) उभयरूप है, न अंगसहित है, न अंगरहित है और न सानंबानंग उभयात्मिका ही है, किन्तु अत्यन्त अद्‌भुत और अनिर्वचनीयरूप (जो कहीं न जा सके) ऐसी यह माया प्रसिद्ध है। माया त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्व, रज और तम गुण वाली है।[5]

---

1 गौ0 का0 4,58

2 निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् । 2,47

3 अभावोपादानमज्ञानम् । अद्वैत सिद्धि-पृ0-544

4 अविद्यायात्मिका हि बीजशक्तिरव्यशब्द निर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः--------तदेत्त अव्यक्त क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्ट्म। अव्यक्ता हि सा माया, त्तवान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्। ब्रह्मसूत्र शां0भा0-1,4,3

5 विवेक चूड़ामणि 110,111,112,

माया ब्रह्म की शक्ति है। माया की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। यदि माया ब्रह्म से भिन्न स्वतंत्र होगी तो फिर ब्रह्म की अद्वैत सत्ता संभव नहीं होगा, क्योंकि स्वतंत्र अस्तिव होने से द्वैत होगा। अतः माया ब्रह्म से अभिन्न है, क्योंकि ब्रह्म के समान दूसरी किसी सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती है। माया ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी ब्रह्म की तरह यथार्थ नहीं है और न यह ब्रह्म से भिन्न आकाश-कुसुम, बन्ध्यापुत्र की तरह असत् या अभावात्मक ही है।[1]

यह सदसत् से विलक्षण अनिर्वचनीय शक्ति है। माया ब्रह्म का एक लक्षण है न उसके समान है और न उससे भिन्न है। इसी माया के कारण ही ब्रह्म ईश्वर हो जाता है और जगत् का कारण होता है। जगत् ब्रह्म का विवर्त हैं। ब्रह्म कारण और जगत् कार्य का सम्बन्ध माया से स्थापित होता है। जगत् मिथ्या है। ब्रह्म सत् है। जगत् ब्रह्म का आभास है। संक्षेपशारीरिक के मत में ब्रह्म माया के माध्यम द्वारा विश्व का उपादान कारण है, क्योंकि माया का क्रिया के लिए होना आवश्यक है। माया जगत् में हमेशा अनिवार्य रूप से उपस्थित रहती है और वस्तुओं के अस्तिव को नियमित करती है। परन्तु माया द्रव्य या वस्तु नहीं है। यह केवल एक व्यापार है जो ब्रह्म रूपी उपादान कारण से उत्पन्न होने के कारण भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति करता है।[2]

माया के दो लक्षण हैं आवरण और विक्षेप। पहले लक्षण से यह यथार्थ सत्य जो ब्रह्म है उसको छिपाती है, जबकि दूसरे से उसे मिथ्यारूप में प्रकाशित करती है। वेदान्तसार में माया के इन दो शक्तियों की विस्तृत व्याख्या की गयी है। माया आवरण शक्ति से अपरिच्छिन्न, असीमित ब्रह्म पर आवरण डाल देती है

---

[1] ब्रह्मसूत्र शां०भा० -1-4-3

[2] तज्जयन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः।

जैसे कि बादल सूर्य को ढ़क लेता है। यह ब्रह्म माया के कारण छिपा हुआ ही नहीं रहता अपितु दूसरे रूप में आभासित भी होने लगता है, वह जगत् आदि के रूप में प्रतीत होता है। जैसे रज्जु-सर्प उदाहरण में हमें रज्जु का ज्ञान नहीं होता है, रज्जु आभावरूप में दिखती है तथा साथ ही वह दूसरा सर्प रूप भी ग्रहण कर लेती है यही माया या अविद्या है। माया के कारण ब्रह्म का स्वरूपलक्षण तो दिखाई नहीं पड़ता अपितु वह तटस्थलक्षण वाला हो जाता है। इन दो शाक्तियों से ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। जैसे कि मकड़ी जाले रूपी कार्य के प्रति अपनी (चैतन्य) प्रधानता के निमित्त और अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण होती है।[1] चूँकि माया इन दोनों विशेष शक्तियों से एक तरफ ज्ञान के स्वरूप को छिपाती है और दूसरी तरफ भ्रान्तज्ञान पैदा करती है। अतः उसे अविद्या या मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यह बोध का अभाव ही नहीं है अपितु मिथ्या या भ्रान्ति पैदा करती है। इसी अर्थ में माया को अध्यास कहा जाता है। ब्रह्म-सूत्र पर अपने भाष्य में शंकर लिखते है कि जीव और जगत्, विषयी और विषय, युस्मत् और अस्मत् प्रकाश और अंधकार के समान परस्पर अत्यन्त विरूद्ध धर्मवाले हैं। इनका परस्पर एक दूसरे पर आरोप ही अध्यास हैं। अध्यास में हम स्मृति रूप में विद्यमान एक वस्तु के गुणों का दूसरी वस्तु पर अवभास करते हैं। जैसे रज्जु पर सर्प का अवभास होता है। अतः ब्रह्म जो त्रिकालाबाधित सत्ता है उसी पर हम इस चराचर दृश्यमान जगत् का अवभास करते हैं। यही माया अविद्या या अध्यास है।

शंकराचार्य इस दृश्यमान चराचर जगत् को मायोत्पन्न होने से मिथ्या बताते हैं। अतः इसे मृगमरीचिका, रज्जुसर्प, शुक्तिरजत, आकाश तलमलिनता, गन्धर्वनगर, माया, कदलीगर्भ, स्वप्न, जलवुद्वद्, फेन, अलातचक्र, मायानिर्मित हस्ती, द्विचन्द्र दर्शन, इन्द्रजाल आदि शब्दों से सम्बांधित किया जाता है।[2] आचार्य शंकर कहते हैं

---

[1] वेदान्तसार खण्ड 16,17

[2] द्रष्टव्य। बौद्ध दर्शन वेदान्त पृ0 200

कि यह जगत् उसी तरह से मिथ्या है जैसे तैमिरिक पुरूष को दृष्टि दोष होने के कारण मच्छर आदि काले-काले पदार्थ उसके आखें के सामने उड़ते हुये नजर आते हैं और जैसे एक चन्द्रमा दो भिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है, जैसे स्वप्न देखनेवाला मनुष्य स्वप्न में ही तमाम पदार्थो की संसृष्टि कर लेता है उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ हमें अज्ञान के कारण दिखायी पड़ते हैं।[1] वास्तविकता तो यह है कि इस चराचर दृश्यमान की सभी वस्तुयें मिथ्या हैं। न कोई कर्ता है न कोई भोक्ता। ब्रह्म ही निर्गुण निराकार रूप से सत् है। शंकर और आगे कहते हैं कि जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक से माया की सृष्टि होती है उसी प्रकार ब्रह्म की मायाशक्ति से संसार की उत्पत्ति होती है।[2] परन्तु, जैसे स्वयं प्रसारित जादू से जादूगर लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार माया से ब्रह्म लिप्त नहीं होता, अर्थात् जैसे जादूगर अपने जादू से विभिन्न प्रकार के क्रियाओं के द्वारा लोगों को आश्चर्यचकित करता हुआ भी स्वयं आश्चर्यचकित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म भी माया से जगत् में सुख-दुख, बंधन-मोक्ष आदि का निर्माण करते हुए भी स्वयं इनसे नहीं प्रभावित होता है।[3]

आचार्य शंकर के अनुसार बिना माया के स्वीकार किये जगत् की व्याख्या संभव नहीं हो पाती। जब यह कहा जाता है कि जगत् मायारूप है तभी अद्वैतवाद सही रूप में स्थापित हो पाता है। बिना माया के भ्रम या अज्ञान की समस्या सुलझ नहीं सकती है। जगत् को माया का कार्य का कहना भी निरर्थक ही है क्योंकि शंकर के अनुसार कारण-कार्य का प्रत्यय ही स्पष्ट है। 'माया जगत् का कारण है और जगत् माया का कार्य है' यह वाक्य दोनों में भेद स्थापित करता है। फिर प्रश्न उठेगा कि क्या माया और जगत् का सम्बन्ध तादात्म्य का

---

[1] एवमेताः कलाः प्राणिनामविद्ययादि दोषबीजापेक्षया सृष्टाः तैमिरिक दृष्टिसृष्टिा इव द्विचन्दमशकमक्षिकाद्याः स्वप्न दृकसृष्टा इव च सर्व पदार्थाः- प्रश्न उप0 शां0भा0-6,4 ।

[2] पुरूषात् संसार मायावृक्षप्रवृत्तिः प्रसृता---ऐन्द्रिजालिकादिव माया- गीता शां0भा0 । 5,4

[3] यथा स्वयं प्रसारिता मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात् एवं परमात्मापि संसार मायया न संस्पृश्यते। ब्रह्मसूत्र शां0भा0-2-1-9 ।

है या भेद का अथवा दोनों का या दोनों का नहीं है। परन्तु, किसी भी रूप में समस्या सुलझती नहीं है? यदि माया को कारण स्वीकार कर लिया जाय तब प्रश्न उठेगा कि माया का क्या कारण है? अगर यह कहा जाय कि माया अनादि है और अकारण है, तो अद्वैतवाद खतरे में पड़ जाता है क्योंकि अकारण और अनादि होने से माया अज होगी और अज होने से वह नित्य होगी पुनः नित्य होने से द्वैत हो जायेगा क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त यह दूसरी स्वतंत्र सत्ता होगी। वास्तव में ये प्रश्न हैं जो उठाये जा सकते हैं। शंकर इनका समाधान करते हैं। अनुसार माया अनादि रूप से ब्रह्म की शक्ति है। ब्रह्म की यह संरचनात्मक शक्ति है। यह कार्यरूप में प्रगट होती है। वस्तुतः इसके कार्य से ही इसकी अनुभूति या प्रत्यक्ष होता है। यह न तो सत् है न असत् है और न उभयात्मक। यदि यह सत् होगा तो ब्रह्म के सत् होने से द्वैत होगा। यह असत् भी नहीं है क्योंकि माया जगत् कार्य को उत्पन्न करती है। अतः यह सदसत् विलक्षण है। ब्रह्म तो निष्क्रिय, निर्गुण और कूटस्थ रूप में होते हुए भी अपने इसी मायाशक्ति से स्वयं में अनात्म धर्मों का अध्यास करता है। ईश्वर रूप में ही वह दृश्यमान जगत् की रचना करता है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ होते हुये भी माया की उपाधि के कारण सीमित होता है। यथार्थ में कोई भी गुण उसे प्रभावित नहीं करता। ईश्वर माया द्वारा घिरा हुआ नहीं है । जैसे जादूगर अपनी क्रियाओं द्वारा स्वतः घिरा नहीं रहता है।[1] नाम रूप के भेद होते हुये भी मौलिक एकता में किसी तरह का भेद नहीं उत्पन्न होता है जैसी कि 'गाय चाहे सोई हो चाहे जगी हो' वह गाय ही है। अद्वैतवाद में सभी तरह के भेद का निराकरण हो जाता है। जीव और ब्रह्म का भेद, जीव और जगत् का भेद, जगत् और ईश्वर का भेद वस्तुतः ये

---

[1] यथा स्वयं प्रसारित्या माययामायावी त्रिष्वपि लोकेषु न संस्पृश्यते अवस्तुत्वात् एवं परमात्मार्थम् संसार मायया न संस्पृश्यते यथा-मायामात्रं हि एत् । -(ब्रह्मसूत्र शां0भा02-1-9)

सभी प्रकार के भेद मिथ्या है।[1] जैसे लोक में मायावी अपने स्वरूप को विनष्ट किये हुये भी हस्ति, अश्व आदि विचित्र सृष्टियों का निर्माण करता है, वैसे ही एक ब्रह्म में भी स्वरूप नाश हुये बिना ही अनेक प्रकार की सृष्टि देखी जा सकती है।[2] यह नाम-रूप का भेद ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है- यही भ्रम है, यही मिथ्या ज्ञान है और इसी का निराकरण करना चाहिये।[3] अद्वैतवाद की यही समस्या है। मायावाद को इसी समस्या के समाधान के लिए शंकर ने स्थापित किया है। मायावाद एक तर्किक अनिवार्यता है जिससे सभी समस्याओं का समाधान होता है। माया के द्वारा ही जगत् की पारमार्थिक सत्यता का भान होता है तथा साथ ही इसकी व्यावहारिक असत्यता या मिथ्यात्व की भी सिद्धि होती है। माया के वशीभूत वह असंग ईश्वर संग हो जाता है।[4] अपरिच्छिन्न ब्रह्म परिच्छिन्न हो जाता है; परन्तु इसके होते हुए भी ब्रह्म का माया पर नियन्त्रण रहता है। यह ब्रह्म की स्वतंत्रत का बाधक नहीं है। माया स्वतंत्र नहीं है क्योंकि ब्रह्म को अधिष्ठान की जरूरत है। यह परतंत्र नहीं है क्योंकि यह जगत् वैचित्य के कार्य के लिए उत्तरदायी है। माया के कारण कूटस्थ ब्रह्म जगत् रूप में भासित होता है, परन्तु भासित होने का तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म जगत् हो जाता है अथवा जगत् ब्रह्म का परिणाम है। माया जगत् का निर्माण करती है यद्यपि यह अपने अधिष्ठान को अशान्त नहीं करती, जैसे कि रज्जु-सर्प प्रतीत होता है, परन्तु वह रज्जु पर किसी तरह का प्रभाव नहीं छोड़ता। जैसे ज्ञान हो जाने पर सर्प का बाध हो जाता है और रज्जु का सही ज्ञान हो जाता है वैसे ही जगत् का बाध हो जाता है और

---

[1] मिथ्या ज्ञान कृत्वेन जीव परमेश्वरयो भेदो न वस्तुकृता----अविद्या कल्पितं लोक प्रसिद्ध जीवभेदम् ।
- (ब्रह्मसूत्र शां०भा० -1-3-19)।

[2] लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्दैनैव विचित्रा हस्त्यष्वादिषु सृष्टयो दृश्यन्तं। तथैकस्मिन्नापि ब्रह्मणि स्वरूपानुपनर्दैनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यति। - (ब्रह्म सूत्र शां०भा०-2-1-28)

[3] बुद्धि कल्तिभ्यः सावयेभ्यः विकार सन्तयानोपपत्तिः - (ब्रह्मसूत्र शां०भा०-6-2-2)

[1] कूटस्थासंगमात्मनाम् जगत्वेन करोति सा - (पंचदशी - 6-133)

ब्रह्म जो एकमात्र परमसत्य है, वही सत् रूप से प्रतिष्ठित रहता है। परन्तु, 'जगत् का बाध होता है' इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह असत् है, क्योंकि यह पूर्ण भाव रूप में आभासित होता है। जगत् सत् भी नहीं है क्योंकि इसका बाध हो जाता है अतः सदसत् विलक्षण होने से अनिर्वचनीय है और मिथ्या है। माया तुच्छ है क्योंकि प्रतीत होने से यह असत् नहीं है। 'नेहनानास्ति किंचन' इस श्रुतिवाक्य से यह सिद्ध है कि आत्मा से भिन्न सभी त्तवों का बाध हो जाता है। अतः माया तुच्छ है।[1] पंचदशी में कहा गया है कि माया श्रुति प्रमाण के कारण तुच्छ, युक्ति के अनुसार अनिर्वचनीय और लौकिक अनुभव के अनुसार वास्तविक कहा गया है।[2] जैसे कोई चित्रपट लपेटने और फैलाने से कभी चित्रों को सत् और कभी असत् दिखाता है उसी तरह माया कभी इस जगत् को सत् और कभी असत् प्रगट करती है।[3] चिदाभास माया के अधीन है। माहेश्वर माया का अधीश्वर कहा गया है। वह माहेश्वर ही अन्तर्यामी है, वही सर्वज्ञ तथा जगत् का मूल कारण है।[4] यद्यपि माया ही जीव, जगत् आदि का कारण है, वस्तुतः जीव जगत् माया आदि हमारे देखने के विभिन्न रूप हैं। ब्रह्म ही वास्तव में एकमात्र अद्वैत त्तव है। माया के कारण सभी लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और दृश्यमान् प्रतीति को ही सत् समझने जगते् हैं।[5]

कारण-कार्य सम्बन्ध का प्रयोग ब्रह्म और जगत् पर लागू नहीं किया जा सकता है क्योंकि एकतरफ तो ब्रह्म निर्गुण, निरूपाधिक है, अनन्त है जबकि जगत् सीमित एवं सोपाधिक है। अतः अनन्त सीमित का कारण कैसे हो सकता है? क्या अनन्त सीमा में बंध सकता है? दूसरी तरफ यदि ब्रह्म को कारण और जगत्

---

[1] पंचदशी - 6-129

[2] तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चैत्यसौ त्रिधा। ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौत यौक्तिक लौकिकैः। -(पंचदशी- 6/130)

[3] न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या- पंचदशी- 6/141

[4] मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः। अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि । पंचदशी 6/157

[5] वृथा माया भ्रामयत्खिलान जनान- पंचदशी-6/238

को कार्यरूप में रखा जायेगा तो दोनों में भेद स्थापित होगा और इस प्रकार द्वैत होगा जिससे अद्वैतवाद खतरे में पहुंचेगा। वास्तव में शंकर के लिए जगत् न तो उत्पन्न हुआ है न इसका विकास ही हुआ है। शंकर गौड़पादाचार्य के अजातिवाद या अविकासवाद का समर्थन करते हैं। जगत् मात्र ऐसा आभासित होता है क्योंकि हमारी बुद्धि और इन्द्रियों की सीमायें हैं। वास्तव में यह जगत् ब्रह्म से अनन्य है।

शंकर परिणामवाद को नहीं मानते हैं। परिणामवाद के अनुसार कारण कार्य रूप में परिवर्तित होता है। अगर जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना जायेगा तो प्रश्न उठेगा कि क्या सम्पूर्ण ब्रह्म में अथवा उसके किसी एक भाग में परिवर्तन होकर जगत् का निर्माण होता है? यदि सम्पूर्ण ब्रह्म में होता है तो सम्पूर्ण ब्रह्म जगद्रूप में फैला हुआ है। अतः जगदातीत अतीन्द्रिय ब्रह्म की खोज की कोई आवश्यकता नहीं होती और यदि जगत् ब्रह्म के एक देश में परिवर्तित होता है तब ब्रह्म खंड-खंड हो जाता है। उसकी अखंडता कायम नहीं रहती है और अखंडता नहीं रहने से नित्यता भी समाप्त हो जाती है, लेकिन श्रुति की घोषणा है कि ब्रह्म अखंड है, निरवयव है, वही नित्य सत्य है। अतः जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं हो सकता। जगत् मात्र ब्रह्म का विवर्त है। ब्रह्म जगत् रूप में प्रतीत होता है। जैसे कि रस्सी साँप के रूप में प्रतीत होती है।[1] जब दूध दही का रूप धारण करता है तो उसे हम परिणाम कहते हैं, परन्तु जब रज्जु-सर्प के रूप में प्रतीत होता है तो उसे विवर्त कहा जाता है। परिणाम की अवस्था में कारण और कार्य दोनों यथार्थ रूप में रहते हैं जबकि विवर्तवाद की स्थिति में कारण सत् रहता है, परन्तु अभासित कार्य मिथ्या होता है। जैसे रज्जु-सर्प में रज्जु त्रिकालाबाधित सत्ता है और सर्प न तो सत् है क्योंकि बाध होता है, न असत् है क्योंकि प्रतीति होता है। यह 'सदसत् विलक्षण' या 'अनिवर्चनीय' है; अतः मिथ्या

---

[1] मायामात्रं ह्येतद् यत् परमात्मनोऽवस्था त्रयात्मनावभासनं रज्जेव सर्पादिभावेन। - ब्रह्सूत्र शां०भा० 2,1,9

है। इसी प्रकार ब्रह्म ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है। जगत् उसी ब्रह्म पर आधारित है और उसकी प्रतीतिमात्र है। इसप्रकार 'जगत् भी सदसत् विलक्षण मिथ्या सिद्ध हुआ' यही शंकर का विवर्तवाद कहा जाता है।

अविद्या और माया एक है या भिन्न है? यह एक प्रश्न है जिस पर दो विभिन्न मत हैं। दोनों को एक ओर समानार्थक माननेवालों में प्रमुख थिवी हैं जिन्होंने कहा है कि शंकर के दर्शन में माया और अविद्या परस्पर परिवर्तनशील हैं अर्थात् पर्याय हैं।[1] दूसरे अर्थात् इसके विपरीत कि 'अविद्या माया का पर्याय नहीं है'- माननेवालों में डा0 जैकब हैं। इनके मत में शंकर के दर्शन में माया कहीं भी अविद्या के पर्याय के रूप में नहीं आया है।[2] डा0 राधाकृष्णन् भी माया और अविद्या को एक ही बताते हैं। दोनों को दो दृष्टिकोणों से देखने के कारण ही विभिन्न नाम दिया गया है। वे कहते हैं कि अविद्या और माया एक ही मूलभूत अनुभवरूपी तथ्य के विषयिनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ पक्ष को प्रस्तुत करती है। इसे अविद्या इसलिये कहते हैं क्योंकि ज्ञान के द्वारा इसका उच्छेद हो सकता है, किन्तु विषयनिष्ठ श्रृंखला माया कहलाती है, क्योंकि यह सर्वोपरि व्यक्त्तिव के साथ-साथ नित्य स्थायी है। आगे वे कहते हैं कि जब हम विषय पक्ष के दृष्टिकोण से समस्या का निरीक्षण करते हैं तो हम माया शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु विषयी पक्ष की दृष्टि से निरीक्षण करने पर उसी वस्तु के लिये हम अविद्या शब्द का व्यवहार करते हैं। ठीक जिस प्रकार ब्रह्म और आत्मा एक हैं उसीप्रकार माया और अविद्या भी एक ही है।[3] वाद के अद्वैत वेदान्त मतावलम्बियों में भी इस विषय पर मतभेद है। श्री सर्वज्ञमुनि (संक्षेपशारीरिक के लेखक), 'सिद्धान्त

---

[1] वेदान्त सूत्र के अनुवाद का उपोद्घात्।

[2] द्रष्टव्य वेदान्सार-5

[3] भारतीय दर्शन भाग दो पृ0 585-586

मुक्तावली' के लेखक श्री प्रकाशनन्द तथा 'विवरण-प्रमेय-संग्रहकार' आदि ने माया, अविद्या और अज्ञान में कोई अन्तर नहीं बताया है। 'विवरण-प्रमेय-संग्रह' में कहा गया है कि 'माया शब्द का व्यवहार हम तब करते हैं जब हमारी दृष्टि में इसकी आसाधरण कार्यो को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है तथा यह कर्ता की इच्छा के आधीन रहती है। दूसरी ओर अविद्या शर्ब्द का व्यवहार तब करते हैं जब हमारे मन में इसके आवरण कर लेने की शक्ति तथा स्वतंत्र सत्ता का भाव रहता है।[1] पंचदशी और प्रकृतार्थ विवरण दोनों में अंतर देखा गया है। सिद्धान्त-लेश-संग्रह में माया अनादि कही गई है, यह अनिर्वचनीय है, सभी वस्तुओं का कारण है, यह असीमित है जबकि अविद्या असीमित माया की सीमित रूप है।[2] पंचदशी में कहा गया है कि माया ईश्वर की उपाधि है जबकि अविद्या सान्त जीव की उपाधि है।[3]

आचार्य शंकर माया तथा अविद्या में किसी तरह का कहीं भी भेद स्थापित नहीं करते हैं। लेकिन एक बात ध्यान देने की है कि शंकर अविद्या को ईश्वर की शक्ति के रूप में कहीं भी प्रयोग नहीं करते हैं। माया ही बार-बार ब्रह्म की शक्ति के रूप में कहीं गयी है। शंकर ईश्वर को मायिक कहते हैं, परन्तु ईश्वर को कहीं भी अविद्यावान नहीं कहा गया है, बल्कि इसके ठीक विपरीत उसे सर्वज्ञ और सर्ववित् कहा गया है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि शंकर कहीं-न-कहीं माया और अविद्या दोनों में थोड़ा भेद तो स्वीकार करते हैं। यद्यपि ब्रह्म-सूत्र के अपने भाष्य में शंकर बारम्बार माया, मिथ्याज्ञान, अज्ञान और अविद्या आदि शब्दों का समानार्थक अर्थे में प्रयोग करते हैं। वे माया और अविद्या में

---

[1] विवरण प्रमेय संग्रह 1,1

[2] सिद्धान्तलेश संग्रह 1,29

[3] पंचदशी 1,15 17

ऐक्य स्थापित करते हैं। वास्तव में एक ही परमेश्वर कूटस्थ नित्य, विज्ञान स्वरूप अविद्यारूपी माया से मायावी के समान अनेक हुआ जैसा प्रतीत होता है उससे अन्य विज्ञान स्वरूप कोई वस्तु नहीं है।[1] अतः यह सिद्ध हुआ कि माया, अविद्या जीव जगदादि सभी तरह के भेद व्यावहारिक मात्र है, परमार्थतः तो कूटस्थ ब्रह्म ही एकमात्र परम यथार्थ त्तव है। वही नित्य है और अन्य सारे भेद हमारी बुद्धि की सीमित्ताओं की उपज मात्र हैं।

अब प्रश्न है कि 'यह माया या अविद्या जो जगत् के अज्ञान, दुख भेदादि की जननी है' इसका आश्रय क्या है? अविद्या जीव का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि यदि जीव न हो तो अविद्या का अस्तित्व ही नहीं रह जाता है और यदि अविद्या जीव का कारण है तो उसे ब्रह्म की तरह जीव से स्वतंत्र सत्ता होनी चाहिये, परन्तु जीव से अलग होगा । अविद्या ब्रह्म के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप नित्यप्रकाश है और अविद्या इसके प्रतिकूल है। शंकर के अनुसार यह अनिर्वचनीय है और यह कहकर शंकर इसे टाल देते हैं, परन्तु शंकर के बाद के अद्वैत वेदान्तियों में अविद्या के आश्रय और विषय पर काफी मतभेद है। आचार्य मंडन मिश्र के अनुसार, 'अविद्या को ही माया या मिथ्याभास कहते हैं। यह सदसत् विलक्षण होने से अनिर्वचनीय है।' मण्डन मिश्र जीव को अविद्या का आश्रय और ब्रह्म को अविद्या का विषय मानते हैं। इस प्रकार मंडन मिश्र दृष्टिसृष्टिवाद को मानते हैं।[2] जब मंडन मिश्र अविद्या को जीव का आश्रय बताते हैं तथा यह भी जाना जाता है कि जीव अविद्या का कार्य है तो भी दोष नहीं है। वास्तव में अविद्या का आश्रय न तो ब्रह्म हो सकता है और

---

[1] एक एव हि परमेश्वरः कूटस्थनित्यों विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति। (ब्रह्म सूत्र शां0भा0 1,3,9)

[2] द्रष्टव्य डा0 चन्द्रधर शर्मा- बौद्ध दर्शन और वेदान्त, पृ0-224

नहीं जीव। अविद्या का आश्रय बुद्धि विकल्पों से या प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अविद्या सदसत् विलक्षण है। वास्तव मं इसका निर्वचन ही संभव नहीं है। जब मडन मिश्र ब्रह्म को अविद्या का विषय बताते है तो वे कहते है कि अविद्या के द्वारा जीव अपने अथवा ब्रह्म के असली स्वरूप को भूल जाता है और मिथ्याभास में फंस जाता है। भ्रान्ति का मतलब भी यही है कि सत् अधिष्ठान पर सदसत् विलक्षण वस्तु का आरोप किया जाय। रज्जु-सर्प अधिष्ठान पर ही सर्प का आरोप होता है। वैसे ही ब्रह्म जो एकमात्र यथार्थ सत्य है उसी पर जागदादि नानारूपों का मिथ्याभास होता है।

आचार्य सुरेश्वर, पद्मपाद, प्रकाशात्म मुनि और सर्वज्ञात्म मुनि आदि ने ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों माना है। इनके मत में अविद्या जड़ात्मिका शक्ति है। यह बह्म के स्वप्रकाशत्व पर एकप्रकार का आवरण-सा डाल देती है और तमाम चित्र-विचित्र जगत् की रचना करती है। इसी से आभासत्रय अर्थात् ईश्वर, जीव और जगत् की उत्पत्ति होती है। अविद्या या माया के आश्रय और विषय को लेकर विरोधियों ने बहुत सारे आक्षेप लगाये हैं, जिनको देख लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। वास्तव में अविद्या का ब्रह्म या जीव के साथ किसी भी तरह का सम्बन्ध जोड़ा नहीं जा सकता है। फिर भी यह अनीर्वचनीय रूप से सम्बन्धित है। डायसन का मत है कि वास्तव मं केवल एक मात्र ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि हम इसप्रकार की कल्पना करें कि हम इस जगत् में उसके विकार का प्रत्यक्ष करते है तो यह, व्यक्तियों के अपने अनेकत्व को देखकर जबकि यथार्थ में केवल एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है' अपने को धोखा दे देते हैं? इस प्रश्न के ऊपर हमारे ग्रन्थकार कोई प्रकाश नहीं डालते हैं।[1]

[1] सिस्टम आप दि वेदान्त। पृ0-302

अविद्या के आश्रय और विषय को लेकर जितने विरोधी आक्षेप लगाये गये हैं- उनमें रामानुज द्वारा लगाया गया आक्षेप बहुत-ही महत्वपूर्ण है। रामनुज द्वारा लगाये गये आक्षेपों को अनुपपत्ति कहा जाता है। ये सात प्रकार के हैं, अतः इन्हें 'सप्तानुपपत्ति' कहा गया है।[2]

प्रथम अनुपपत्ति 'अविद्या के आश्रय' को लेकर है, अत: इसे 'आश्रयानुपयत्ति' कहा जाता है। रामानुज कहते हैं कि जब जीव स्वयं अविद्या का कार्य है तो अविद्या का आश्रय जीव नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म को मानें तब भी ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य स्वतःप्रकाश है। प्रकाश में अंधकार कैसे रह सकता है? तो अविद्या का आश्रय क्या है?

अद्वैत वेदान्ती इसके उत्तर में कहते हैं कि यह आक्षेप तभी उठ सकता है जब आप समझते हैं कि ब्रह्म और जीव दो पदार्थ हैं और अविद्या एक तीसरी स्वतंत्र वस्तु है तभी आश्रय की बात उठ रही है। पुनः यदि बह्म को ही अविद्या का आश्रय मानलिया जाय तो ब्रह्म अविद्या का आश्रय होकर भी उसके दोषें से उसी प्रकार प्रभावित नहीं होगा जैसे मायावी स्वयं अपनी माया से प्रभावित नहीं होता है। इसी प्रकार जीव भी अविद्या का आश्रय हो सकता है, क्योंकि उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है, अपितु दोनों समान रूप से अनादि हैं। ये दोनों ब्रह्म के दो परस्परापेक्ष सहवर्ती अंग हैं।

रामानुज द्वारा लगायी गयी दूसरी अनुपपत्ति 'तिरोधाननुपत्ति' कही जाती है। रामानुज कहते हैं कि अविद्या द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का तिरोधान हो जाता है। ब्रह्म स्वयंप्रकाश है और अविद्या का आवरण पड़ने से उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। अद्वैत वेदान्ती इसके उत्तर में तर्क देते हैं कि ब्रह्म पर अविद्या का आवरण होने से उसके स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। जैसे; मेघ से आच्छादित

---

[2] श्री भाष्य। पृ0 58 बनारस 1916

सूर्य का लोप नहीं होता है। तिरोधान वस्तुत: इस कारण है कि जीव को ब्रह्म की स्वंयप्रकाशता का अज्ञान रहता है, परन्तु अज्ञानता ब्रह्म की स्वयंप्रकाशता में बाधक नहीं हो सकता है; जैसे कि एक अंधा मनुष्य सूर्य के प्रकाश को नहीं देखने के कारण उसे अप्रकाशित नहीं सिद्ध कर सकता है।[1]

रामानुज के तीसरे आक्षेप में कहा गया है अविद्या का काई स्वरूप निर्धारित नहीं किया है, अर्थात् यह कि अविद्या न तो सत् है, न असत है, न सदसत् है। अत: उसका कोई स्वरूप न होने के कारण वह असिद्ध है। इसका अस्तिव ही सिद्ध नहीं हो सकता। रामानुज इसे 'स्वरूपानुपपत्ति' कहते हैं। अद्वैतवेदान्ती कहते हैं- यद्यपि यह ठीक ही है कि अविद्या सत् नहीं है, क्योंकि ज्ञान होने पर इसका बाध हो जाता है, यह असत् भी नहीं है, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है और सदसत् एक साथ विरोधी होने से संभव भी नहीं है, अत: अविद्या इससे भिन्न है। परन्तु इतने से इसकी असिद्धि नहीं हो जाती है। जिसप्रकार पूर्ण प्रकाश और पूर्ण अंधकार के बीच एक तीसरी अवस्था होती है जिसमें न तो पूर्ण प्रकाश ही है और न पूर्ण अंधकार ही है, उसी प्रकार अविद्या पूर्ण सत्, असत् और सदसत् से परे एक विलक्षण अनिर्वचनीया शक्ति है जो है। बुद्धि की कोटि के परे हैं, क्योंकि बुद्धि भी तो उसी का कार्य है।

रामानुज अपने चौथे आक्षेप में कहते है कि कोई भी वस्तु या तो सत् होगी या तो असत् होगी। इन दोनों कोटियों से परे अनिर्वचनीय कोई भी कोटि नहीं होती। अनुभव में या तो वसतुओं का भाव देखा जाता है अथवा आभाव। रामानुज इसे 'अनिर्वचनीयानुपपत्ति' कहते हैं। वेदान्ती कहते हैं कि जब हम अविद्या को सत्-असत् से भिन्न अनिर्वचनीय कहते हैं तो सर्वप्रथम सत्, असत् का लक्षण

---

[1] धनच्छन्नदृष्टिर्धनच्छन्नमार्कम् यथा मन्यते निष्प्रपंन्नातिमुद: तथा वद्धवत्भाति यो मूढदृष्टे:। हस्तागलक।

आपको समझ लेना चाहिए। सत् वह है जिसका त्रिकालभूत, वर्तमान और भविष्य में बाध नहीं होता है और असत् वह है जिसका बन्ध्यापुत्र की तरह अभाव रहता है। अब अविद्या असत् नहीं है क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। अतः यह शशश्रृंग की तरह असत् भी नहीं है और इसको सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्म की तरह इसकी अबाधित सत्ता भी नहीं। माया या अविद्या इसी अर्थ में अनिर्वचनीय कहे जाते हैं क्योंकि इन्हें इन दोनों सामान्य कोटियों में उसे नहीं रखा जा सकता है।

पांचवां आक्षेप, जो रामानुज लगाते है उसे 'प्रमाणानुपपत्ति' कहा गया है। अर्थात् अविद्या को भाव रूप नहीं सिद्ध किया जा सकता है। यह भावरूप अज्ञान नहीं है क्योंकि अज्ञान का अर्थ है ज्ञान का अभाव। भावरूप अज्ञान यह कथन ही बदतोव्याघात है तथा इसको हम प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि रज्जु-सर्प में रज्जु जो यथार्थ ज्ञान है उसका अभाव ही नहीं रहता, अपितु विषयान्तर का आभास अर्थात् सर्प का भाव भी रहता है। इसी अर्थ में माया को भाव-रूप अज्ञान कहा गया है।

षष्ठ आक्षेप इसी से सम्बन्धित है जिसे आचार्य रामानुज द्वारा अद्वैत वेदान्त पर लगाया जाता है। इसे 'निवर्तकानुपपत्ति' कहते हैं। रामानुजाचार्य कहते है कि यदि मानलिया जाय कि माया या अविद्या भावरूप है तब तो प्रश्न उठता है कि यदि माया भावरूप है तथा इसका कोई निवर्तक नहीं है तो मोक्ष प्रसंग खतरे में पड़ जायेगा क्योंकि अविद्या का विनाश संभव नहीं होगा। अद्वैतवेदान्ती इसका उत्तर देते हैं कि ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर माया का निवर्तन संभव है। जैसे रज्जु का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सर्प का भावरूप अज्ञान या भ्रम नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर माया का भावरूप अज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

रामानुज का अंतिम सातवीं आपत्ति 'निवृत्यनुपपत्ति' कहीं जाती है। रामानुज कहते हैं कि ब्रह्म ज्ञान से अविद्या का नाश नहीं होता। भावसत्ता का विनाश ज्ञान के द्वारा कभी भी नहीं हो सकता है। अद्वैतवादियों का उत्तर है कि दैनिक जीवन में अनुभव की गयी म्थ्यिा वस्तु(जैसे सर्प) प्रथमतः भावरूप में प्रगट होता है और पुनः यथार्थ वस्तु (रज्जु) का ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार भावरूप अविद्या ब्रह्म-ज्ञान से नष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार रामानुजाचार्य ने अपने इन सभी तर्कों के आधार पर मायावाद को असिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु शंकर तथा उनके अनुयायियों ने अपने अकाट्य तर्कों के आधार पर मायावाद पर लगाये गये सभी आक्षेपों का परिहार करके उसे युक्ति-युक्त एवं संगतरूप से प्रतिष्ठित किया। यद्यपि मायावाद की नींव आचार्य गौड़पाद के दर्शन में ही पड़ चुकी थी, परन्तु वास्तविक रूप में इसकी स्थापना आचार्य शंकर के ही दर्शन में हुआ। मायावाद अद्वैत वेदान्त की आधारशिला है जिससे सभी समस्याओं को सुगमतापूर्वक सुलझाया जा सकता है। ब्रह्म से ईश्वर का भेद, आत्मा और जगत् का भेद, सृष्टि आदि समस्याओं का तार्किक समाधान मायावाद के ही माध्यम से हो सकता है।

5. अद्वैत वेदान्त में सत्य और भ्रम की तार्किक विवेचना

तैत्तरीय उपनिषद् के अपने भाष्य में आचार्य ने शंकर सत्य और भ्रम की स्पष्ट परिभाषा दी है। शंकर के अनुसार सत्य वह है जो जिस रूप से है उस रूप से उसका व्यभिचार न हो तथा भ्रम वह है जो निश्चित रूप व्यभिचरित होता है।[1] अर्थात् सर्वदा त्रिकालभूत वर्तमान और भविष्य में एकरूप रहनेवाला जिसका स्वभ़ाव है ऐसे कूटस्थ नित्य स्वभाववाले ब्रह्म को ही सत्य कहा गया है। इस ब्रह्म का जगत् रूप में जो आभास प्रतीत हाता है वही भ्रम या मिथ्या है। उस कूटस्थ, नित्य ब्रह्म पर यह नानात्व परिवर्तनशील गति समस्त उत्पत्ति और विकास समस्त कल्पनायें आभासित हाती है, यही भ्रम का स्वरूप है। ब्रह्म जो सत्य है उसमें जगत् का आभास ही भ्रम है। जैसे रज्जु का सर्प रूप में प्रतीत होना भ्रम है। राधाकृष्णन् इसे एक उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न करते हैं। उन्होंने कहा है कि तारे वस्तुतः टिमटिमाते नहीं हैं, यद्यपि हमें टिमटिमाते हुए प्रतीत होते हैं। जिस प्रकाश को वे तारे छोड़ते है वह बिल्कुल स्थिर है, यद्यपि पृथ्वी के वायुमंडल मं जो विक्षोभ होते हैं और जिनके मध्य से होकर वह प्रकाश आता है, वे हमारी दृष्टि को इस प्रकार से प्रभावित करते हैं- जिससे तारे निरन्तर टिमटिमाते हुये से प्रतीत होते हैं। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म के अंदर अस्थिरता का सादृश्य भी मन का एक भ्रम है और यह हमारी विकृति दृष्टि के कारण है।[2] इसप्रकार भ्रम वस्तुतः हमारे मन की ही उपज है। जब शंकर त्रिकालाबाधित सत्ता को ही सत्य कहते हैं और यदि सत्य की यही कसौटी है तो जगत् भ्रम या

---

[1] सत्यमिति यद्रूपेयाद्न्निश्चितं न व्यभिचरिति त्तसत्यं यद्रूपेण निश्चितं यत्तद्रूपं व्यभिचरदनृतमिति।
- (तै0उप0शां0भा0- 2,1)

[2] वही पृ0 578 द्रष्टव्य- ब्रह्म सूत्र शां0भा0 2,3,46

मिथ्या हो जाता है, क्योंकि जगत् विरोधों से भरा हुआ है क्योंकि इसका परिवर्तन होता रहता है। यह कालत्रय सत्तावान नहीं है, इसे सत्तायुक्त समझना ही 'भ्रम' है।

ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य के प्रस्तावना में भ्रम को परिभाषित करते हुये आचार्य शंकर कहते हैं-अंधकार और प्रकाश के समान विरूद्ध स्वभाववाले युस्मत् और अस्मत् प्रतीति के विषयाभूत विषय और विषयी की इतरेतर भाव(तादात्म्य) की अनुपपत्ति सिद्ध होने पर उनके धर्मो की भी 'सुतरां इतरेतराभाव' की अनुपत्ति है, इसलिए अस्मत् प्रतीति के विषयाभूत चैतन्यस्वरूप विषयो में युस्मत् प्रतीति के विषयभूत विषय और उसके धर्मो का अध्यास और इसके विपरीत विषय में विषयी और उसके धर्मो का अध्यास नहीं हो सकता।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार परस्पर जैसे विरूद्ध हैं और इन दोनों परस्पर विरोधी धर्मो का एक-दूसरे पर प्रतीति नहीं हो सकती, परन्तु ऐसा अध्यास या प्रतीति अज्ञान के ही कारण होती है, उसीप्रकार जागतिक धर्मो को ब्रह्म पर आरोपित करना और ब्रह्म को जगत् पर आरोपित करना यही अज्ञान या भ्रम है। इसी अज्ञान के कारण ही शरीर और इन्द्रिय के धर्मो को आत्मा के धर्म मानकर 'मैं कृश हूँ' 'मैं अज्ञानी हूँ' यह निर्वचन होता है। यही मिथ्या अज्ञान हैं। शंकर कहते है कि 'स्मृति रूप परत्रपूर्वदृष्टावभासः' अर्थात् स्मृति रूप पूर्व दृष्ट का अन्य में अवभास ही अध्यास है। अध्यास ही भ्रम कहलाता है। अध्यास का तात्पर्य है कि 'अधिकृत्य आस्ते' अर्थात् जिस वस्तु की प्रतीति हो रही है, वह वहाँ पर नहीं है, किन्तु वह अन्य एक वस्तु को अवलम्बन करके प्रतीत हो रही है। प मपादाचाय कहते है कि जैसे कि जवाकुसुम के सान्निध्य से, स्फटिक स्वच्छ होने पर भी, उसके संसर्ग से उसके धर्म की प्रतीति स्फटिक में होने लगती है, स्फटिक में लोहितिमा मिथ्या है क्योंकि स्फटिक में लोहितिमा वस्तुतः नही है। इसी प्रकार आत्मा में अंहंकारादि का उपराग भी अध्यास है।[2]

---

[1] ब्रह्म सूत्र शां0भा0 प्रस्तावना

[2] पंचपादिका पृ0 100(मद्रास 1958)

ख्यातिवाद :

भारतीय दर्शन के विभिन्न दार्शनिक-सम्प्रदायों में परस्पर भ्रम सम्बन्धी व्याख्या में मतभेद है। अद्वैतवेदान्त ने अनिर्वचनीय ख्यातिवाद को प्रतिष्ठित किया है वही दूसरे समप्रदायों ने अपने-अपने सत्ता सम्बन्धी धारणा के अनुसार भ्रम की अलग-अलग व्याख्या की है। इस संदर्भ में सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में निम्नलिखित विचार महत्वपूर्ण है-

1- सत्ख्यातिवाद - रामानुज

2- असत्ख्याति- शून्यवावदी बौद्धों का मत

3- आत्मख्याति- योगाचार विज्ञानवाद का मत

4- अख्याति- मीमांसक प्रभाकर का मत

5- विपरीत ख्यातिवाद - कुमारिल का मत

6- अन्यथाख्याति- न्याय का मत

7- अनिर्वचनीय ख्याति- अद्वैत वेदान्त का मत

आत्मख्यातिवाद का खण्डन -

आत्मख्यातिवादी विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान या विज्ञप्ति के अतिरिक्त बाह्य पदार्थे की सत्ता नहीं है। बर्कले की भांति विज्ञानवादी भी जो कुछ देखते हैं वे चित्तमात्र ही हैं, बाह्य रूप में असत् है अतः ये 'आत्मख्यातिवादी कहे जाते है। विज्ञानवादी आचार्य असंग के अनुसार, विषय और विषयी दोनों ही विज्ञान या चित्त हैं। अतः ज्ञान में जो वस्तु जिस रूप में प्रतीत होती है, वह वस्तु उसी ज्ञान रूप में ही है। अब भ्रम वहाँ होता है जहाँ किसी प्रबल बाधक प्रत्यय द्वारा पूर्वोत्पन्न ज्ञान का बाध हो जाता है। विज्ञानवादी ज्ञानाकार रज्जु के बाहर अवभास को ही विभ्रम कहते है। अतः रज्जु-सर्प विज्ञान रूप ही है। परन्तु प्रश्न उठता है कि कि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य जगत् में कुछ सत्य नहीं है तो हमारे विज्ञानों का

आकार कहाँ से प्राप्त होता है? अर्थात् विज्ञान को रज्जवाकार कैसे प्राप्त होता है? विज्ञानवादी उत्तर देते है कि अनादि संस्कार के सामर्थ्य से ही विज्ञान रजवाकार होता है और ये संस्कार भी विज्ञान-बाह्य या निरपेक्ष नहीं हैं। अतः संस्कारोत्पन्न रज्जु ज्ञान-विज्ञान ही है, भ्रान्ति से बहिर्वत प्रतीत होता है। परवर्ती बाधक ज्ञान द्वारा 'यह सर्प है' यह ज्ञान भ्रम सिद्ध होता है। विज्ञानवादी के इस मत में वाध किसका होता है जिससे भ्रम की सिद्धि होती है? ज्ञान यदि सत् विषयक होगा तथा सफलप्रवृत्ति के लिये भी बाहर विषय को होना चाहिये। यदि विषय नहीं है तों प्रवृत्ति सफल नहीं होगी। जैसे कि रज्जु-सर्प में सर्प समझकर प्रवृत्ति के बाद सर्प न मिलने पर भ्रान्त व्यक्ति समझ लेता है अरे यह सर्प नहीं है। अब विषय के अभाव से ज्ञान भी मिथ्या हुआ। तब प्रश्न उठेगा कि आत्ख्यातिवाद में वाध किसका होता है? बाध क्या सर्प का होता है अथवा यह का? विज्ञानवादी के अनुसार, 'यह' का बाध होता है सर्प का नहीं। 'यह' ही बाह्य-विषयता को सूचित करता है और सर्प तो मूलतः ज्ञान में ही है। अतः 'यह' का बाध हो जाता है न कि 'सर्प' का।

बौद्ध विज्ञानवादी चूंकि आत्मनिष्ठ विज्ञानवादी है। अतः वे भ्रमस्थल में सर्प को विज्ञान का आकार मात्र मानते हैं और बाह्य 'यह' का निराकरण करते हैं इसी तरह सम्पूर्ण जगत् भी आन्तर विज्ञान में ही स्थित है उनकी बाह्यप्रतीति तो भ्रम के कारण होती है। जैसे स्वप्न के सारे पदार्थ मन के बाहर मिथ्या हैं। बाध के द्वारा तो इनकी बाह्यता का निराकरण होता है। अद्वैत वेदान्ती तथा न्याय-दर्शन विज्ञानवाद के इस भ्रम सिद्धान्त का खंडन करते हैं। भामतीकार तर्क करते हैं कि किस प्रभाव से सर्प को ज्ञान का धर्म सिद्ध किया जाता है? यह प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा 'यह सर्प है' के ज्ञान में सामने स्थित सर्प का प्रत्यक्ष हो रहा है न कि आन्तर-विज्ञान का। प्रत्यक्ष में यह सर्प के आधार

के रूप में प्रतीत होता है। इसी कारण से मनुष्य सर्प को देखकर डर जाता है और पीछे भागने लगता है। प्रत्यक्ष द्वारा यदि सर्प को ज्ञान का आकार माना जाता तब तो यह सर्प अनुभव न होकर 'मैं सर्प' ऐसा अनुभव होता क्योंकि विज्ञानवाद के अनुसार मै भी विज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है[1] इसलिए सर्प जब ज्ञान में भासता है तो इदन्ता करके बाह्यता का प्रतिभास नहीं हो सकता।

विज्ञानवादी 'भ्रमस्थल के सर्प' और 'सत्य सर्प' दोनों को ही विज्ञान कार अर्थात् बुद्धि रूप घोषित करते हैं। चित्सुखाचार्य ने आपत्ति उठायी है कि यदि समस्त वस्तुयें विज्ञानाकार हैं और उन्हीं विज्ञनाकार वस्तुओं से व्यवहार भी चलते हैं तब तो गुंजा फल-गुच्छा में अग्नि बुद्धि होने पर उससे भी ताप मिल जाना चाहिये, क्योंकि वहाँ पर बाहर अग्नि तो है नहीं।[2]

विमुक्तात्मा मुनि ने आत्मख्याति की आलोचना करते हुये इसे भी एक प्रकार की सत्ख्याति ही कहा है। उनके अनुसार सभी वस्तुओं की कहीं-न-कहीं प्रतीति होती ही है। अतः वह वहाँ पर जहाँ उसकी प्रतीति होती है- सत् है अतः सत् की ही ख्याति होगी। अतः आत्मख्यातिवाद के अनुसार भ्रम की तर्कपूर्ण व्याख्या असंभव है।

असत्ख्यातिवाद :

माध्यमिक शून्यवादी दृश्यप्रपंच एवं विज्ञान दोनों को असत् कहते हैं। माध्यमिक मत में विषय और विषय-विज्ञान दोनों असत् हैं। जब विषय और विषय-विज्ञान अर्थात् ज्ञेय और ज्ञान दोनों असत् है तो ज्ञाता को भी असत् मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार नागार्जुन के अनुसार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी असत् है मिथ्या है। जहाँ योगाचार विज्ञानवाद मात्र बाह्य जगत् के पदार्थो को ही असत्

---

[1] अहमति हि तदास्यात् प्रति पत्तुःउ प्रत्यायदव्यातिरेकात्- भामती पृ0-26,27

[2] किमारोपितं बुद्धौ चेत् गुजापंजादौ दहनसमारोपै (देहादाहप्रसंग पृ0 74)

कहा है, वहीं माध्यमिकों ने विषय तथा विज्ञान दोनों को असत् कहा है। माध्यमिकों के अनुसार भ्रमस्थल का भ्रामाधिष्ठान 'रज्जु' तथा उसपर आरोपित विषय 'सर्प' दोनों असत् हैं। रज्जु-सर्प भ्रम में अत्यन्त असत् सर्प की प्रतीति हो रही है। आचार्य शंकर जब 'अन्यत्र अन्य धर्माध्यास' कहते हैं तो इसका यहाँ अर्थ होगा कि असत् रज्जु में असत् सर्प धर्म का अध्यास होता है। न्यायमकरंदकार ने कहा है कि शून्यवादी के अनुसार अत्यन्त असत् अर्थ को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान ही विभ्रम है।[1] अतः सिद्ध हुआ कि माध्यमिक शून्यवाद को स्वीकार करते हैं। आस्तिक सम्प्रदायों ने इसे 'असत्वादी' कहकर सम्बोधित किया गया है। आचार्य शंकर इसे सर्ववैनाशिक कहते हैं।

विमुक्तात्मा मुनि ने इष्टसिद्धि में 'असतख्याति' का खंडन किया है। इनके अनुसार असत् का अर्थ होता है-सत्ता-शून्य। अतः सत्ता-शून्य की प्रतीति नहीं हो सकती है। यदि असत् की प्रतिति मानलिया जाय तो क्या वह सदात्मना प्रतीत होती है अथवा असदात्मना? असत् आत्मना ज्ञान नही हो सकता, क्योंकि अलिकार्थ असत् का ज्ञान संभव ही नहीं है और सदात्मना ज्ञान होने पर असतख्याति नहीं रह जाती वरन् सतख्याति हो जाती है।[2] न्याय-मकरन्दकार में कहा है कि सत् और असत् का सम्बन्ध नहीं हो सकता है।[3] अभावपूर्ण वस्तुओं का अप्रकाश ही होता है। जैसे खपुष्प, बन्ध्यापुत्रादि। अद्वैत वेदान्ती तर्क करते हैं कि यदि आरोपणीय और आरोपाधिष्ठान दोनों को असत् मानलिया जायेगा तो असत् आरोपाधिष्ठान को जानने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि माध्यमिक के अनुसार शुक्ति रजत एवं शुक्ति दोनों असत् हैं। यदि रज्जु और सर्प दोनों मिथ्या या असत् है तो बाध कैसे होगा और भ्रम का बाध न होने से भ्रम का निवारण कैसे होगा?

---

[1] अन्ये तु अत्यन्तमसतमर्थमनभासयन्ती संविदेव विभ्रम इत्याचक्षते- (न्यायमकरन्द पृ0 102)

[2] इष्ट सिद्धि पृ0 116 ।

[3] कः पुनरेष सदसतः सम्बन्धः। न्यायमकरन्द पृ0- 106

ज्ञान की कसौटी क्या है? अत: सिद्ध हुआ कि असतख्यातिवाद के मान लिये जाने पर भ्रम की व्याख्या समीचीन नहीं है।

3 ख्या।।तवाद का खण्डन :

प्रभाकर मीमांसक सभी प्रकार के ज्ञान को यथार्थ मानते हैं। इनके मत में अयथार्थ ज्ञान है ही नहीं। ज्ञानोपरान्त जब 'अरे यह सर्प नहीं है' कहा जाता है तो यहाँ न तो 'यह का' तथा न तो 'सर्प का' निषेध किया जाता है बल्कि दोनों के मिथ्या सम्बन्ध का प्रतिषेध किया जाता है।[1]

प्रभाकर मत में ज्ञान कभी भी व्यभिचारी नहीं होता है क्योंकि ज्ञान द्वारा जो वस्तु जिस रूप में प्रकाशित होती है वह यदि वैसी नहीं है तब तो सभी प्रकार के ज्ञान में प्रमाणसंशय होगा और इसलिए वह अग्रहणीय होगा। परिणामस्वरूप प्रत्येक ज्ञान के स्वरूप का निर्णय करना असंभव हो जायेगा। यही कारण है कि प्रभाकर ने सभी प्रकार के ज्ञान को यथार्थ कहा है।[2] शंकर कहते हैं कि प्रभाकर मत में जिस वस्तु का भ्रम या अध्यास है, उन दोनों वस्तुओं में जो परस्पर भेद है, उसका ग्रहण न करना ही भ्रम है।[3] अर्थात् भ्रम में रज्जु और सर्प के भेद को भूलकर 'यह सर्प है' में 'यह ज्ञान' और 'सर्प ज्ञान' दोनों को मिला दिया जाता है। यह ज्ञान तो प्रत्यक्ष अनुभवजन्य है। 'यह' का विषय 'रज्जु' से सामने विद्यमान है। चक्षु-दोष के कारण सामने रहते हुए भी रज्जु का विशेष रूप ग्रहण नहीं हो पाता अपितु 'यह' रूप से ही जाना जाता है और हम भ्रमिक हो जाते हैं। अत: 'यह सर्प है' में यह रज्जु रूप ज्ञान भी सत्य है और सर्प की स्मृति होने से सत्य ज्ञान है। दोनों एक जातीय ज्ञान नहीं है अपितु दो प्रकार के

---

[1] न चैष रजतस्य निषेधः न चैदन्तायाः किन्तु विवेकाग्रह प्रसंजितस्य रजतमिदमिति रजत व्याहारस्य। भामती, पृ0 26

[2] तथाच यथार्थाः सर्वे विववादास्पदीभूताः प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात्संप्रतिपन्नसमीचीनप्रत्ययवद।(न्यायमकरंद, पृ0, 65) तथा सर्वज्ञानम् समीचीनमास्थेयम् (भामती पृ0 27)

[3] यत्रयदध्यासस्तद्विवेकाग्रह निबन्धनो भ्रम इति (ब्र0 सू0 शां0भा0 प्रस्तावना।)

ज्ञान है, परन्तु भ्रम में हम दोनों के जातिगत, अकारगत एवं विषयगत पार्थक्य को नहीं जान पाते हैं। दोनों को भ्रम की स्थिति में एक ही समझकर 'यह सर्प है' ऐसा व्यवहार होता है।

अख्यातिवाद के विरूद्ध भामतीकार ने तर्क दिया है कि भ्रान्ति दृष्ट वस्तु की ओर प्रवृत्त होता है। उसे यह निश्चय है कि 'सामने सर्प है', अतः अख्यातिवादी का यह कहना कि उक्त भ्रम में ग्रहण स्मरण दो ज्ञान है और दोनों का अग्रहण ही भ्रम है, समीचीन नहीं है।[1] माधवाचार्य ने कहा है कि भ्रान्त व्यक्ति 'इदं' के ज्ञान के बाद उसे सर्प मानकर मारने के लिये प्रवृत्त होता है। यदि इदं के रूप में उसे सर्प का ज्ञान होकर रज्जु का 'ग्रहण' होता तो वह उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह सर्प का ही ज्ञान कररहा है और वह उस सर्प को मारने के लिए प्रवृत्त हो रहा है, सर्प ही उसका अभीष्ट है। रज्जु उस व्यक्ति के लिए न साध्य है न साधन।[2] अतः यह बात सिद्ध है कि 'रज्जु' का ग्रहण प्राप्त व्यक्ति को सर्प के लिये प्रवृत्त नहीं करा सकता, न ही सर्प का स्मरण सामने स्थित वस्तु में प्रवृत्त करा सकता है, क्योंकि स्मरण सर्वदा अनुभवाधीन है। सर्प का स्मरण पूर्वदृष्ट सर्प में ही करा सकता है न कि सामने रज्जु में और जब सर्प का स्मरण होगा उसके साथ जंगल का भी जहाँ सर्प देखा था उसका भी स्मरण होगा और जंगल का ज्ञान पूर्वानुभूत सर्प में ही प्रवृत्त करायेगी। अतः अख्यातिवाद में प्रवृत्ति की व्याख्या भी संभव नहीं है।

सर्व दर्शन संग्रह में माधवाचार्य ने मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत 'यथार्थाः सर्वे प्रत्यया:' अनुमान में वाधित नामक हेत्वाभास दोष सिद्ध किया है, कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त अनुमान प्रत्यक्ष से बाधित हो जाता है-जैसे उदाहरण के लिए

---

[1] भामती, पृ0 27,28
2 सर्व दर्शन संग्रह - पृ0 824

बहिन अनुष्ण सिद्ध करने का अनुमान प्रत्यक्ष सिद्ध बहिन की उष्णता के अनुभव से बाधित होता है, उसी प्रकार श्रमस्थल का सर्प रज्जु के ज्ञान से 'यह सर्प नहीं है रज्जु है' करके बाधित हो जाता है, अतः भ्रमस्थलीय सर्प का बाध होने से मिथ्या है। उसका प्रत्यय भी मिथ्या है।[1]

वास्तव में अख्यातिवाद में तमाम दोष है। प्रभाकर भ्रम को सही रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। सभी प्रकार का ज्ञान चाहे रज्जु का हो अथवा सर्प का हो यथार्थ है। अख्यातिवाद में भ्रम और यथार्थ में कोई अंतर नहीं रहता है। रज्जु और सर्प दोनों समान रूप से ज्ञान हैं। तार्किक पक्ष में दोनों यथार्थ है। केवल व्यवहार में अंतर है, क्योंकि तथाकथित सर्प बाद में व्यवहार में नहीं आता। अद्वैतवेदान्त इसका भी खंडन करना है। वह सर्प का ज्ञान और व्यवहार दोनों को मिथ्या घोषित करता है। क्योंकि बाद में दोनों का बाध हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि अख्यातिवाद भी भ्रम की समुचित व्याख्या नहीं दे पाता है। वास्तव में अख्यातिवाद में भ्रम को अस्वीकार करके ही उसकी व्याख्या की गयी है।

अन्यथ ख्या।।तवा।द :

यह न्याय भ्रम सिद्धांत है। न्याय के अनुसार, भ्रम में हम जिस वस्तु को देखते है यद्यपि वह वहाँ नहीं है, परन्तु उसकी वही समझते है।[2] आचार्य शंकर ने नैयायिकों के भ्रम की व्याख्या करते हुये पूर्व पक्ष में कहा है कि जिसमें जिसका अध्यास है उसमें विरुद्ध धर्म की कल्पना को अध्यास कहते हैं।[3] भामतीकार ने इसका अर्थ करते हुये कहा है कि "यव अर्थात् जहाँ पर रज्जु आधार में, जिसका सर्प का अध्यास होता है, उसी रज्जु के विपरीत धर्मकल्पना करना ही अध्यास है।"[4] न्याय के अनुसार भ्रम-ज्ञान में अर्थात् रज्जु में सर्प का ज्ञान जो होता है

1. वही पृ0 837, भामती पृ0 30
2. -न्यायभूषण पृ0 25
3. ब्रह्मसूत्र - शां0भा0 उपोद्घात् ।
4. भामती, पृ0 30

वह केवल रज्जु का ज्ञान तथा सर्प का ज्ञान ही नहीं है अपितु इन दोनों से भिन्न एक तीसरा ज्ञान भी है। यह तृतीय ज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान है। इस ज्ञान का विशेष्य है "यह सर्प है" में से 'यह अंश' और विशेषण 'सर्प' है। इसी को न्यायमत में भ्रम ज्ञान कहा जाता है एवं इसप्रकार के भ्रम-ज्ञान में प्रथम चाकचिवययुक्त वस्तु के साथ चक्षु का संयोग होता है। दोनों के रहने के कारण उक्त चाकचिक्ययुक्त वस्तु के विशेष धर्म रज्जुत्व का ग्रहण नहीं हो पाता है। इसके बाद सर्प और पुरावर्ती द्रव्य में सादृश्यज्ञान सर्प स्मृति को उत्पन्न करता है। इसके पश्चात् स्मृति का विषय उस सर्प के साथ पुरोवर्ती द्रव्य का एक तादात्म्य दोष होने के कारण गृहीत होता है। न्याय के अनुसार यही भ्रम है।

अब प्रश्न है कि भ्रमस्थल में 'सर्प को देख रहा हूँ' इस प्रकार अनुभव होता है[1] ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक है जैसे "घट को देखता हूँ" मै घट के साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष होता है, तभी घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार रज्जु-सर्प में सर्प का प्रत्यक्ष होने से इसमें भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक होगा, परंतु उक्त स्थान में सर्प के साथ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तो है नहीं क्योंकि सर्प सामने है नहीं फिर सर्प का प्रत्यक्ष कैसे होता है? इसके समाधान के लिए नैयायिक ज्ञान लक्षणा नामक अलौकिक सन्निकर्ष की बात कही है।

अद्वैत-वेदान्तियों ने न्याय के अन्यथा ख्यातिवाद का जोरदार खंडन किया है। इनका कहना है कि भ्रमस्थल में उक्त सर्प ज्ञान परोक्ष नहीं है। उक्त सलि में सर्प का चक्षु द्वारा साक्षात्कार होता है और इसी कारण उसे देशान्तरीय सर्प का ज्ञान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि नेत्र द्वारा व्यवहित वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है।[2] वेदान्ती कहते हैं कि रज्जु में देशांतरीय सर्प के प्रत्यक्ष होने के लिये

1. वेदान्ततत्त्व विवेक पृ0 90 नृसिंहाश्रम, नारायण शास्त्री सम्पा0 मैसूर 1955
2. वेदान्त परिभाषा - पृ0 54

देशान्तरीय के साथ इन्द्रिय संयोग आवश्यक होगा। परन्तु ऐसा देशान्तरीय सर्प के साथ संभव नहीं है। अतः अविनर्वचनीय सर्प की उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी। नैयायिकों के 'सुरभिचन्दनम्' के दृष्टान्त से अलौकिक प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं, परन्तु वेदान्ती इसको भी अस्वीकार कर देते हैं। वास्तव में न्याय का देशान्तरीय सर्प का प्रत्यक्ष ज्ञान न लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही संभव है न अलौकिक के द्वारा। अतः अन्यथाख्यातिवाद सिद्ध नहीं हो सकता है।

चूंकि न्यायदर्शन में आत्मा, अनात्मा दोनों को सत्य माना गया है, इसी कारण नैयायिकों ने भ्रमस्थल में अन्यथाख्याति स्वीकार की है। न्याय के अनुसार, भ्रमस्थल के अधिष्ठान एवं आरोप्य दोनों सत् है। भ्रममात्र संसर्गविषयक है। अन्यत्र स्थित वस्तु को अन्यत्र जानना ही भ्रम है। भ्रमस्थल में ज्ञानलक्षणा की कल्पना से भी भ्रान्त व्यक्ति के सर्पदर्शन की व्याख्या संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञानलक्षणा एक अलौकिक अप्रसिद्ध सन्निकर्ष है। इससे इन्द्रिय के साथ स्मृत वस्तु के दर्शन की बात अनुभव विरुद्ध है। अनुभव विरोधी होने से अस्वीकृत है।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद :

इस तरह आचार्य शंकर भ्रम-सिद्धांत के सारे विरोधी मतों का उल्लेख करके उन सभी मतों को असिद्ध ठहराते हैं। सभी मतों में वे 'अन्य की अन्यधर्मावभासता व्यभिचरित नहीं है' यह सिद्ध किया है अर्थात् कुछ दार्शनिकों ने अन्य की अन्य में अवभासता को स्वसिद्धांतों में स्वीकार किया ही है जैसा कि बौद्ध विज्ञानवादी और शून्यवादी भ्रम की अन्य की अन्य में अवभासता के रूप में ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि शून्यवाद में असत् रज्जु में असत् सर्प की ख्याति एवं विज्ञानवाद में अवस्तु रज्जु में आत्म वस्तु या विज्ञान की ख्याति ही अन्य की अन्य में अवभासता है। अवभास का बाध हुआ करता है। अतः ख्याति और बाध द्वारा अनिर्वचनीय वस्तु की स्थिति को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार न्याय

में देशान्तरीय वस्तु की ख्याति असंभव होने के कारण प्रातीतिक वस्तु स्वीकार करनी पड़ेगी, अन्यथा भ्रम ही संभव नहीं होगा। इस प्रकार आचार्य शंकर ने सबमें असंगतियों को दिखाते हुये सबको असिद्ध किया है और अनिर्वचनीय ख्यातिवाद को ही प्रतिष्ठित किया है।

आचार्य शंकर के अनुसार, भ्रम सही रुप में व्याख्यायित नहीं है। रज्जु-सर्प में, प्रथमतः सर्प का प्रत्यक्ष होता है। वह खपुष्प या बन्ध्यापुत्र की भांति असत् नहीं है और जब रज्जु ज्ञान हो गया तो उसका बाध भी हो जाता है। अतः वह सत् भी नहीं रहा। अतः यह न सत् रहा न असत् बल्कि यह अनिर्वचनीय है। यह भावरूप में मिथ्या ज्ञान है। यह सत्य है कि भ्रम ज्ञान अन्यथा ज्ञान है। एक वस्तु का दूसरे पर आरोप है, परन्तु यह अन्यथा ज्ञान जबतक कि प्रत्यक्ष है, अन्यथा नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतीति हो रही है तथा यही प्रतीति एकदम तुच्छ भी नहीं है, क्योंकि तुच्छ का अनुभव कभी भी नहीं होता है। भ्रम ज्ञान तबतक यथार्थ है जबतक कि भ्रम दूर नहीं हो जाता है। सभी प्रकार के भ्रम ज्ञान में सत्यता वहाँ रहती है यद्यपि उसका अनुभव या प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। भ्रम सत्य के अभाव पर विचार करना नहीं है, परन्तु कुछ भाव रूप अज्ञान पर विचार करना है। भ्रम ज्ञान में हमें केवल ज्ञान का अभाव ही नहीं रहता है, बल्कि भ्रम ज्ञान ही सही रूप में नजर आता है। जब तक हम भ्रम में रहते हैं तबतक हमें भ्रम का आभास नहीं होता जैसे स्वप्न में देखा गया दृश्य स्वप्न की स्थिति में आभास नजर नहीं आता। स्वप्न का पानी स्वप्न में प्यास को बुझाने में समर्थ होता है। 'अरे यह शुभ है' यह तो तब कहा जाता है। जब भ्रम का निराकरण हो जाता है। जब शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार आचार्य शंकर ने भ्रम की जैसी व्याख्या की है वह न तो आदर्शवाद ही है न वस्तुवाद ही अपितु दोनों से परे है। अनिर्वचनीयख्याति

आदर्शवाद नहीं है, क्योंकि भ्रम के समय सर्प अनुभूत रहता है और उसकी स्वतंत्र प्रत्यभिज्ञा भी होती रहती है। यह वस्तुवाद भी नहीं है क्योंकि सर्प सत् नहीं है। भ्रम एक भावात्मक अज्ञान है। भावात्मक है क्योंकि यह अभाव नहीं है, अज्ञान है क्योंकि इसके वहाँ होते हुये भी यह वहाँ रहता नहीं है। यह अनिर्वचनीय हैं इसलिये नहीं कि हम इसे नहीं जान सकते हैं। जगत वास्तविक है जबतक हम जगत में रहते हैं। परन्तु ज्योंहि हमें पारमार्थिक सत्यता का ज्ञान होता है जगत मिथ्या साबित हो जाता है। सत्य तो यथार्थ निर्गुण निराकार ब्रह्म ही है जो अद्वैत और अद्वितीय है, जगत् रूप में इसकी प्रतीति ही भ्रम है। यही माया अथवा अविद्या का आवरण और विक्षेप शक्तियाँ हैं जो ब्रह्म के निरुपाधिक स्वरूप का आवरण करके और सोपाधिक रुप में आभासित करती है। जीव अज्ञानवश स्वतः के अस्तित्त्व को भूल जाता है और स्वयं को **'मैं बुद्धिमान हूँ'** आदि रूपों में व्यक्त करता है इसी को भ्रम कहा गया है। वस्तुतः अद्वैत-वेदान्त में एक ही यथार्थ सत्ता है वह अद्वैत ब्रह्म है। सारा भेद द्वैत आदि मिथ्या है, भ्रम है। परन्तु यह द्वैत भी असत् नहीं है, इसका भी अधिष्ठान अद्वैत ही है। अतः द्वैत भी व्यावहारिक रूप से सत् है परन्तु पारमार्थिक रूप से तो केवल अद्वैत की ही एक मात्र यथार्थ सत्ता है।

9

उपसंहार एवं निष्कर्ष

'मनन' या 'तर्क' विचारशीलता की गति है। विचारशीलता ही मानवीय अस्तित्व की जीवन्तता है। 'सामान्यत: अद्वैत वेदान्त में तर्कणा का कोई स्थान नहीं है' – ऐसा सामान्य मत है, लेकिन पूर्णतया इसमें सत्यता नहीं है। अद्वैत वेदान्त में 'मनन' कोई प्रमाण नहीं है, लेकिन इसके द्वारा किसी अन्य स्त्रोत से प्राप्त निष्कर्ष की संभाव्यता का निर्धारण किया जा सकता है। तर्क सत्य की स्थापना तो नहीं करता, लेकिन इसकी पुष्टि अवश्य करता है। श्रुति कथनों की पुष्टि के लिए अद्वैत वेदान्त में उपनिषदों की भांति 'मनन' को उपयोगी माना गया है। तत्त्वज्ञान श्रुति या अपरोक्षानुभूति द्वारा ही प्राप्त हो सकता हे; लेकिन 'मनन' द्वारा उसे स्वीकार्य बनाया जा सकता है।अद्वैत वेदान्त में 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान' के द्वारा परम सत्ता (ब्रह्म) की सत्यता एवं नित्यता तथा जगत् के मिथ्यात्व दोनों को स्पष्टतया निरुपित करने का सफल प्रयास किया गया है।

'तत्त्व' को आत्मसात् करने की प्रथम आवश्यकता है– 'आत्मा और अनात्मा का विवेक' करना। वेदान्त की शब्दावली में इसे 'शोधन' कहा गया है जिसका शाब्दिक अर्थ है–, 'किसी वस्तु के प्रत्यय का स्पष्टीकरण।' शंकराचार्य ने अपने दर्शन का प्रारम्भ 'तत्पदार्थ' एवं 'त्वं पदार्थ' के शोधन से किया है। उन्होंने 'त्वं'

को 'अस्मद्' (मैं) और 'तत्' को 'युष्मद्' (तू) कहा है यदि हमें ब्रह्म या आत्मा के विषय में ज्ञान प्राप्त करना है तो उसका अब्रह्म या अनात्म वस्तुओं से भेद करना होगा। शंकराचार्य ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान का प्रयोग करते हुए आत्मा की स्थापना निम्न प्रकार से किया है- शरीर आत्मा नहीं है क्योंकि घट के समान यह दृश्य है।[1]

इस युक्ति के लिए जो सिद्धान्त कार्य करता है, वह यह है कि ज्ञाता और ज्ञेय सदैव भिन्न सत्ताएं होती हैं अथवा प्रत्येक सकर्मक क्रिया में कर्ता एवं कर्म में विरोध होता है।[2] इसे कर्तृ-कर्म-विरोध कहा गया है। यहां जिस ज्ञाता या कर्ता के विषय में चर्चा चल रही है, वह कोई जीवात्मा नहीं है, वरन् विशुद्ध आत्मा या साक्षी है।

आत्म-अनात्म विवेक निर्धारणोपरान्त अद्वैत वेदान्त का लक्ष्य है- अनात्म वस्तु के मिथ्यात्व को मनन-पद्धति द्वारा प्रदर्शित करना। इसके लिए भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान का प्रयोग किया गया है। वह अनुमान इस प्रकार है- 'सम्पूर्ण बाह्य जगत् एक आभास है, क्योंकि शुक्ति-रजत के समान वह अनात्म वस्तु है।[3]

शुक्ति-रजत की भांति ही व्यावहारिक जगत् की वस्तुएं हैं। इनमें सादृश्यता यह है कि शुक्ति-रजत और व्यावहारिक जगत् की वस्तुएं दोनों विषय-रुप हैं। अतएव यदि शुक्ति-रजत मिथ्या है तो बाह्य जगत् भी मिथ्या होना चाहिए, यहीं सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

---

1 'देहोनत्मा दृश्यत्वात् घटवत्।

2 ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य III. 3/54

3 वेदान्त-परिभाषा, अध्याय-2 ब्रह्मभिन्नं सर्व मिथ्या ब्रह्म-भिन्नत्वात्; शुक्ति-रजतवत्।

यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि परम तत्व (ब्रह्म) को एकमात्र श्रुति से ही जाना जा सकता है (शास्त्रयोनित्वात्) तो 'तर्क' या मनन की आवश्यकता कहां रह जाती है? इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैत वेदान्त के समर्थकों का कहना है कि जो लोग श्रुति कथनों को बिना मनन के स्वीकार कर लेते हैं तथा वे जिन्होंने तत्व-साक्षात्कार कर लिया है, उनके लिए वस्तुतः 'मनन' निरर्थक है; लेकिन जिन्होंने न तो तत्व-साक्षात्कार नहीं किया है और न हीं बिना मनन के श्रुति -वाक्यों को स्वीकार नहीं कर पाते हैं, उनके लिए 'मनन' की महती भूमिका है क्योंकि जिज्ञासु मनन के बिना क्रियाशील नहीं हो सकता है। स्वयं श्री शंकराचार्य ने स्वीकार किया एवं ग्रहणीय बना दिया जाता है। इससे अनुभव के साथ उनका जो विरोध होता है, वह भी समाप्त हो जाता है। 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' में सुरेश्वरचार्य ने स्वीकार किया है कि श्रुति-वाक्यों का वास्तविक तात्पर्य वहीं समझ सकता है जिसने उन्हें समझने के लिए तर्कबुद्धि का सदुपयोग किया हो) तत्त्व साक्षात्कार तभी प्राप्तव्य है जब साधक को उसकी अपरोक्षानुभूति हो। वेदान्त की शब्दावली ने इसे 'निदिध्यासन' कहा गया है। स्पष्ट है कि तर्कबुद्धि या 'मनन' निदिध्यासन में पर्याप्त सहायक है। अतएव अद्वैत वेदान्त में 'मनन' की महत्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है।

श्रुति-प्रमाण पर बहुत से लोग नाकें भी सिकोड़ने लगते हैं। पर वस्तुतः वे श्रुति का अर्थ नहीं जानते। हमारे ज्ञान या अनुभव का तीन चौथाई से भी अधिक भाग श्रुति या शब्द प्रमाण पर निर्भर है। प्रतीति तीन प्रकार की होती है- गुरु से, शास्त्र से और अपने से। अपने से होने वाली प्रतीति अनुभव है। गुरु और

शास्त्र से जो ज्ञान होता है उसे ही श्रुति कहा जाता है। गुरु शब्द का अर्थ यहां परिवार के व्यक्ति, समाज के व्यक्ति तथा अध्यापक जन है। मानवता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सबसे पहला और बड़ा साधन यही शब्द-प्रमाण हे। शब्द-प्रमाण प्रत्यक्ष, युक्ति और प्रातिभ सभी ज्ञानों का ज्ञापक है। पर इसे अपने अनुभव से अनूदित करना चाहिए। जैसे कोई व्यक्ति किसी सोते हुए मनुष्य को शब्द से जगता है, वैसे शब्द-प्रमाण भी संशयग्रस्त दार्शनिक की आंख खोलता है। अद्वैत साहित्य में गान्धारदेशीय पुरुष की कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। किसी गान्धार नगर के रहने वाले मनुष्य की आंखों पर पट्टी बांधकर किसी सज्जन ने उसे ले जाकर एक घोर निर्जन वन में छोड़ दिया और तब उसकी पट्टियों को खोल दिया। बेचारा गान्धार-नागरिक कुछ देर तक घबड़ाता रहा। बाद में विदेश में अपने को पाकर स्वदेश जाने की उसने इच्छा की। इधर-उधर घूमकर मार्ग ढूंढने लगा। पर उसको कोई भी मार्ग उस वन में न मिला। भाग्य से किसी बनेचर से उसकी भेंट हुई और तब उसके द्वारा उसे गान्धार का मार्ग मालूम हुआ। फिर क्या था? वह औरों से पूछते-पाँछते और अपनी बुद्धि से सोचते-समझते आखिर में अपने नगर पहुंच गया। इसी प्रकार दार्शनिक भी श्रुति से ज्ञान लेकर अपनी बुद्धि से तर्कणा मनन करते-करते अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता हैं। बस यही श्रुति की उपयोगिता है।

शंकराचार्य ने 'कुतर्क' या पाश्चात्य दर्शन में प्रयुक्त प्रागनुभविक तर्क की जमकर आलोचना किया है। पाश्चात्य दर्शन में डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबव्जि, काण्ट आदि ने इस प्रकार के तर्कों का प्रयोग किया है। शंकराचार्य के अनुसार - 'एक

व्यक्ति की युक्ति दूसरे व्यक्ति की उच्चतर युक्ति द्वारा खण्डित की जा सकती है, अतः तर्क अप्रतिष्ठित है।"[1]

यहां यह न समझना चाहिए कि श्रुति तर्क-शत्रु या तर्क-विरुद्ध होती है। शास्त्रीय वचन वस्तुओं के स्वरूप को बदल नहीं सकते हैं। वे केवल उन पर प्रकाश डालते हैं। श्रुति लोक-अनुभव के विरुद्ध बात नहीं करती और यदि यह कहीं ऐसा करती है तो वहां वह अमान्य होगी। कोई भी श्रुति यह नहीं कह सकती कि अग्नि शीतल होती है और सूर्य तपता नहीं है। परस्पर विरुद्ध बातों का भी वर्णन श्रुति के मान का नहीं है। यदि मूढ़ व्यक्ति असंगत बातें नहीं करता तो श्रुतियां कैसे कर सकती है क्योंकि वे मेधावी पुरुषों की वाणियां है? अतः श्रुति तर्क-शत्रु न होकर तर्क-मित्र हैं। वह लौकिक दृष्टान्तों से उस ज्ञान को बतलाती है जो केवल तर्क से सम्भव नहीं है। वस्तुतः श्रुति महान् दार्शनिकों के यौक्तिक और प्रातिभ ज्ञानों के वाङ्मय में सुरक्षित पुंज है। युक्ति की भांति श्रुति या प्रातिभ की भी सीमा है। वह तर्क विरुद्ध बात नहीं कह सकती। लोक-विरुद्ध वस्तु का निरूपण भी उसके बूते का नहीं है। वस्तुओं के स्वभाव को बदलना भी उसकी शक्ति से बाहर है। अतः श्रुति केवल तर्कोऽर्ध्व तथा तर्क-सम्मत वस्तु का ही ज्ञान है। वह कारक न होकर केवल ज्ञापक हैं।

अद्वैत के आचार्यो का कहना है कि सभी श्रुति-वाक्यों का पहले विश्लेषण करना चाहिए। यह देखना चाहिए कि उनका अर्थ अभिधेय है या लाक्षणिक। अभिधा और लक्षणा ये दो शब्द-शक्तियां हैं। इनसे पहले किसी के भी कथित

1 शांकर भाष्य, II. 1/11

वाक्य का प्रधान या गौण अर्थ जानने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। फिर सभी अर्थो पर मनन द्वारा उसके साम्य तथा वैषम्य पर विचार करके तत्पश्चात् गौण और प्रधान अर्थो का सामञ्जस्य बैठाना चाहिए। वाक्य के अर्थ पर विश्लेषण अद्वैत ठीक उसी प्रकार से करता है जिस प्रकार आधुनिक तार्किक प्रत्यक्षवादी करते हैं। सभी श्रुति-वाक्यों का विश्लेषण अद्वैत ने किया है। उदाहरण के लिए मैं सुखपूर्वक सोया, 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस वाक्य को लीजिए। कितने दार्शनिक मानते है कि सुषुप्ति में आत्मा का अभाव रहता है। पर अद्वैत उक्त वाक्य के विश्लेषणों से सिद्ध करता है कि सुषुप्ति में भी आत्मा का भाव अनिवार्य और अपेक्षित है। अन्यथा उक्त वाक्य अनुपपन्न हो जायेगा। जो सुख मिलता है उसका अनुभवकर्ता अवश्य होना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जागने पर ही उक्त वाक्यगत अनुभव होता है। जागने पर तो केवल स्मरण होता है कि जागरणपूर्व सुषुप्ति अवस्था में सुख मिल रहा था। फिर यदि सुषुप्ति में आत्मा नहीं है तो सुषुप्ति के पूर्व अनुभव का सुषुप्ति-पश्चात् अनुभव के साथ सामन्जस्य और अनुस्मरण असम्भव हो जाता है।

इसी प्रकार **'तत्वमसि'**, **'अयमात्मा ब्रह्म'** इत्यादि महावाक्यों का भी अद्वैत वेदान्त सटीक विश्लेषण करता है। हम यहां केवल **'तत्वमसि'**, वह तू है, इस महावाक्य को लेते हैं। यहां तीन पद हैं तू, 'वह' और है। **''तू''** का सामान्य अभिधेय अर्थ मन-शरीर-धारी जीव है। **'वह'** का सामान्य अभिधेय अर्थ विषयगत सत्ता है। **'है'** का अभिप्राय दोनों का अभेद होना है पर ऐसा अभिधेय अर्थ करना विप्रतिषिद्ध है क्योंकि मन-शरीरधारी जीव सकल संसार का एक शुद्ध नश्वर

कण है और विषयगत सत्ता बहुत बड़ी अनश्वर वस्तु है। दोनों एक कैसे हो सकते है? अतएव यहां मुख्यार्थ का बाध होता है। अभिधा से तात्पर्य अनुपन्न होता है। फिर लक्षणा का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि जहां अभिधा परस्पर विप्रतिषिद्ध या असंगत अर्थ दे और जहां कोई प्रयोजन या रूढ़ि हो वहां लक्षणा का क्षेत्र होता है। यहां रूढि कोई नहीं है। प्रयोजन तू और वह का अभेदान्वय हैं अस्तु, यह लक्षणा का कार्य-क्षेत्र हैं। **"तू"** का क्या अर्थ है? **"तू"** का अर्थ है आत्मा, न कि आनन्द, विज्ञान, बुद्धि, मन, प्राण, शरीर आदि। आत्मा बोध-स्वरूप है। **"वह"** का क्या अर्थ है? **"वह"** स्थूल वस्तु नहीं है। जैसे **"तू"** आभ्यन्तर वस्तु ही नहीं है वैसे **"तू"** भी बाह्य वस्तु ही नहीं हैं। **"वह का ग्रहण बिना" "तू"** के असम्भव है। अतः "वह तू' का नित्य सम्बन्ध है। दोनों समानाधिकरण हैं तथा दोनों एक है। "तू" का वह अर्थ अप्रासंगिक है जो किसी नश्वर और क्षणिक वस्तु जैसे शरीर आदि का बोधक हैं उसका वह अर्थ यहां अपेक्षित है जो सदा विद्यमान बोध स्वरूप साक्षी वस्तु है। इसी प्रकार "वह" का भी नश्वरतापरक अर्थ अप्रासंगिक है। उसका वह अर्थ यहां ग्राह्य है जो सकल प्रपंच के सारभूत तत्त्व को बतलाता है। इस प्रकार जहत्-अजहत् लक्षणा द्वारा तत्त्वमसि का अर्थ निकलता है कि प्रत्येक की आत्मा और परोक्ष सत् (ब्रह्म) दोनों में अभेद है। आत्मा ही सत् है और सत् ही आत्मा है। उपनिषद् वाक्यों में से अधिकांश इसी अभेद-तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। पर बहुत से ऐसे वाक्य भी है जो भेद और वैपुल्य की चर्चा करते हैं। ऐसी स्थिति में किन वाक्यों को प्रधान और किन्हें गौण माना जाय? प्रमाण तो दोनों है।

अद्वैत ने वैपुल्यवाद को अपने सिद्धान्त से सामंजस्य करने के लिए एक नए ढंग और वाद की अवधारणा की है। इस ढंग का नाम हम आलंकारिक शैली कह सकते हैं। इस सिद्धान्त को ''इववाद'' के नाम से पुकारा जाता है। आत्मा या परमार्थ सत् अद्वितीय तत्व है। वह कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता, द्रष्टा कुछ नहीं है। पर ऐसा लगता है कि वह कर्ता, भोक्ता आदि है। जैसे संसार में लोग देवदत्त को स्त्रीमय कहते हैं तो उनका अभिप्राय यह होता है कि देवदत्त में स्त्री-प्रेम की प्रधानता है, न कि यह कि देवदत्त स्त्री से बना और भरा पूरा है। इसी प्रकार जब आत्मा को अन्नमय, विज्ञानमय आदि कहा जाता है तो आत्मा के ही किसी उपलक्षण का वर्णन होता है। फिर अन्नादि आत्मा के स्वरूप या लक्षण नहीं है। वे आत्मा के केवल उपलक्षण है। इससे वस्तुतः अद्वैत होते हुए भी आत्मा द्वैत प्रतीत होती है। उपाधियों के कारण तत्व एक होते हुए भी अनेक प्रतीत होता है। अतः उपाधियों से गृहीत तत्व पारमार्थिक नहीं है। उसमें केवल तत्व की स्थिति मान ली जाती है। आत्मा कुछ न करते हुए भी कुछ करती हुई सी ज्ञात होती है। इस प्रकार ''ध्यायर्तव लिलायतीव'' आदि वाक्यों में याज्ञवल्क्य ने 'इववाद' या आलंकारिक शैली और सिद्धान्त का ही वर्णन किया है। आगे चलकर शंकर ने इन वाक्यों के विश्लेषण से ही वैपुल्यवाद को आभास सिद्ध करते हुए अद्वैतवाद की स्थापना की है। इस प्रकार का दर्शन आधुनिक युग में वैहिगंर द्वारा जर्मनी में खोजा गया। इसे 'मानों कि' का दर्शन (Philosophy of as if) कहते हैं। इस दर्शन के अनुसार किसी वस्तु के दो स्वरूप होते है। (1) लक्षण और (2) उपलक्षण। लक्षण उसका सदा विद्यमान स्वरूप होता हैं। उपलक्षण उसका

आकस्मिक और उपाधिगत रूप होता है। यदि किसी भवन पर कौओं की मंडली बैठी है तो हम अपने मित्र से कह सकते हैं कि वह भवन कौओं का बैठका है। पर यह सदा विद्यमान स्वरूप नहीं है यह उपलक्षण है, न कि लक्षण। यह परिभाषा नहीं है। यह केवल आकस्मिक गुण का वर्णन है। इसी प्रकार कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आत्मा के लक्षण न होकर उपलक्षण है। उपलक्षण की स्थिति वास्तविक नहीं है। वह आलंकारिक वर्णनमात्र है। यही इववाद है।

अब हम देखते हैं कि अद्वैत वेदान्त श्रुति वाक्यों का भली-भांति विश्लेषण कैसे करता है। विश्लेषण के बाद वह इन सबका समन्वय भी करता है। 'तत्तु समन्वयात्' नामक सूत्र में इस समन्वय को आचार्य बादरायण ने स्पष्ट किया है। सभी श्रुति वाक्यों का अलग-अलग विश्लेषण करके श्रुतियों के तात्पर्य को जानने के लिए किसी सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है। विश्लेषण तात्पर्य नहीं देता। कुछ ऐसे कारण या हेतु होने चाहिए जिनके आधार पर हम सभी श्रुति-वाक्यों का तात्पर्य जान सकें। अद्वैत श्रुति-तात्पर्य जानने के लिए छः हेतु देता है- (1) उपक्रम और उपसंहार की एकता (2) अभ्यास या पुनरुक्ति (3) अपूर्वता (4) फल (5) अर्थवाद (6) उपपत्ति।। उदाहरण के लिए छान्दोग्य-उपनिषद् का छठां प्रपाठक को लिया जा सकता है। इस प्रपाठक का क्या तात्पर्य है? पहले हम यह देखते हैं कि इसके आरम्भ और अन्त के वाक्य का क्या अर्थ है? यदि दोनों जगह एक ही बात है तो संभवतः वही इस अध्याय का सार है। हम जानते हैं कि उक्त अध्याय के आदि और अन्त में दोनों जगह अद्वितीय सत् का उपाख्यान है। इतना जान लेने पर हम यह देखते हैं कि संपूर्ण प्रपाठक में बार-बार किस सिद्धान्त की पुनरुक्ति हुई है? अद्वैत सत् का ही बार-बार प्रपाठक भर में वर्णन मिलता है।

इस प्रकार अभ्यास द्वारा भी ज्ञात होता है कि अद्वैतवाद श्रुतिसार है। अपूर्वता उपयुक्त प्रकरण में प्रतिपाद्य अद्वैत वस्तु का दूसरे प्रमाणों द्वारा न ज्ञात होना है। अद्वैत श्रुतिभिन्न अन्य प्रमाणों से अवगत नहीं हो सकता। हां, श्रुति का सहारा लेकर युक्ति और अनुभूति उसका ज्ञान अवश्य प्राप्त करा सकती है। श्रुति की यह अपूर्वता उसका सार है। फल से भी सार जाना जाता है। उसी प्रकरण में मिलता है कि अद्वैत सत् के ज्ञान का फल स्वराज्य, स्वास्थ्य या स्वातन्त्य है। यह फल भी अद्वैत सिद्धान्त का बोधक है क्योंकि जब तक द्वैत ज्ञान रहता है तब तक भय बना रहता है और भय के रहते अभय नहीं हो सकता जो स्वास्थ्य, स्वातन्त्रय या स्वराज्य का सारभूत अंग है। अर्थवाद का अर्थ प्रासंगिक अर्थ की प्रशंसा और अप्रासंगिक की निन्दा है। उक्त प्रकरण में अद्वैत सत् की प्रशंसा और नानात्व की निन्दा की गई है। इससे स्पष्ट है कि श्रुति का तात्पर्य अद्वैत है। फिर अद्वैत सत् की सिद्धि के लिए मृत्तिका आदि दृष्टान्तों द्वारा उक्त प्रकरण में उपपत्तियां भी प्रचुर मात्रा में दी गई है। इस कारण भी श्रुति का तात्पर्य प्रस्तुत प्रकरण में अद्वैतवाद है। इस प्रकार इन छः हेतुओं से उपनिषद् के अध्यायों का तात्पर्य जानने के लिए फिर इन्हीं हेतुओं द्वारा उपनिषदों का व्यस्त और समस्त रूप से तात्पर्य जाना जाता है। किसी भी अनुच्छेद, अध्याय या ग्रन्थ का सार और तात्पर्य जानने के लिए ये छः हेतु पर्याप्त है। अद्वैत दर्शन वेदान्त-वाक्यों के तात्पर्य के लिए उन वाक्यों के विश्लेषणों को इन्हीं हेतुओं से समन्वित करता है। उपनिषद् वाक्यों पर विचार करना, उनका युक्तियुक्त विश्लेषण तथा समन्वय करना, इस दर्शन की विशिष्ट प्रणाली है। अन्यत्र भारतीय तथा अभारतीय दर्शन में ऐसी प्रणाली का दर्शन सुर्लभ है।

समीक्षात्मक निष्कर्ष

उपरि वर्णित अद्वैत दर्शन की प्रणाली में अनुभव यौक्तिक है और युक्ति आनुभविक है। यहां तक काण्टकृत अनुभव और युक्ति का समन्वय अद्वैत दर्शन को मान्य है। पर अद्वैत इनके अतिरिक्त प्रातिभ ज्ञान को भी मानता है। काण्ट में इसका अभाव है इसी को अद्वैत वेदान्त श्रुति कहता है यदि वह केवल पठित या श्रुत है तो। और जब वह अनुभूत हो जाती है तो फिर उसे यह अपरोक्षानुभूति कहता है। अनुभव और युक्ति को श्रुति-सम्मत होना चाहिए और श्रुति को आनुभविक तथा यौक्तिक। यदि अनुभव और युक्ति श्रुतिसम्मत नहीं है तो कोई विशेष क्षति नहीं है। पर श्रुति को अवश्य अनुभव तथा युक्ति के अनुकूल होना चाहिए, अन्यथा अनर्थ की आशंका होती है। अद्वैत प्रणाली का मेरुदण्ड युक्ति तथा अनुभव है। अनुभवहीन युक्ति सावद्य है और युक्तिहीन अनुभव अन्धविश्वास है। इन्हीं दोनों की निरवद्यता पर अद्वैत की मनन-विधि आधारित है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन अद्वैत प्रणाली के तीन क्रमिक सोपान कहे जाते है। श्रुति का उक्त विश्लेषण और समन्वय श्रवण है। अनुभव का विश्लेषण और श्रुति का निग्रह मनन है। निदिध्यासन कोई साधनात्मक क्रिया नहीं है। वह निरन्तर मनन का ही दूसरा नाम है। या यों कहिए कि वह परिपक्व मनन है। यही कारण है कि शंकराचार्य मनन तथा निदिध्यासन को श्रवण की भांति अवगति प्रधान मानते हैं- मननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवद् अवगत्यर्थत्वात्। यही ज्ञान मार्ग है।[1]

---

1 शारीरक भाष्य - 1/1/4

कुछ वेदान्ती ज्ञान और कर्म के समुच्चय को मानते हैं और कुछ दोनों में परस्पर विरोध देखते हैं। समुच्चयवादियों में भी कुछ लोग ज्ञान तथा कर्म का सहसमुच्चय मानते हैं। उनके अनुसार कर्म और ज्ञान का एक साथ प्रयोग और व्यवहार हो सकता है। कुछ लोग ज्ञान और कर्म के सहसमुच्चय के विरोधी होते हुए भी दोनों के क्रमसमुच्चय में विश्वास करते हैं उनका कहना है कि कर्म से अन्तः करण शुद्ध होता है और अन्तःकरण शुद्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है। सत्वशुद्धि के बिना ज्ञान दुर्लभ है। इस प्रकार के ग्रीक दर्शन के आचार्य सुकरात और अफलातून की भांति नीति को दर्शन का अंगभूत अनिवार्य साधन समझते हैं। कहना नहीं होगा कि अद्वैत के अधिकांश आचार्य कर्म और ज्ञान के क्रमसमच्चय को मानते हैं। कर्म की स्थिति में ज्ञान नहीं होता और ज्ञान की स्थिति में कर्म असंभव है। इस प्रकार यद्यपि वे सभी विशुद्ध ज्ञानमार्ग को मानते है तथापि उनका ज्ञान मार्ग विशुद्ध कर्ममार्ग का फल है।पर कुछ अद्वैत वेदान्ती ज्ञान और कर्म के क्रमसमुच्चय के भी पक्ष में नहीं है। सहसमुच्चय की बात तो दूर है। उनका कहना है कि बिना सत्व शुद्धि के भी ज्ञानमार्ग सुलभ है। 'विनाऽपिसत्वशुद्धिं ज्ञानेनैव मोक्षः सिद्धत्येव सत्यम्।' मोक्ष का यहां अभिप्राय अक्षरशः 'स्वास्थ्य' ही लेना चाहिए। कर्म से जीव बन्धन में पड़ता है। विद्या से ही वह बन्धन मुक्त होता है। अतः पारदर्शी यति कर्म नही करते हैं।

कर्मणा वध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।

तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः।।[1]

इस सिद्धान्त को हम शुद्ध ज्ञानमार्ग कह सकते हैं। अद्वैत वेदान्त के आलोचक अन्य वेदान्तियों ने ज्ञान तथा कर्म के सह-समुच्चय का समर्थन किया है

पर अद्वैत ने सदा कर्म को ज्ञानमार्ग में व्यर्थ बतलाया है। दूसरे शब्दों में, नीतिशास्त्र को ज्ञानमीमांसा और अध्यात्मशास्त्र के लिए अनुपयुक्त बतलाया है। इसके विपरीत अधिकांश आचार्यों ने नीतिशास्त्र को ज्ञानमार्ग का आवश्यक अंग माना है। जैसे युक्ति ज्ञानमार्ग का मेरुदण्ड है वैसे उनके मत से नीति भी ज्ञानमार्ग का मेरुदण्ड है।[1] वे युक्ति को नैतिक और नीति को यौक्तिक मानते हैं। पर इस विषय पर हम विशेष विचार यहां नहीं करना चाहते। यहां हमारा लक्ष्य ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन है। जिसकी प्राप्ति का माध्यम 'मनन' है। अच्छा हो यदि हम ज्ञानमार्ग को समझने के लिए नीति को दूर रखें। नीति और ज्ञान का प्रश्न एक दूसरी ही जटिल समस्या है। उसका विवेचन इस समय विज्ञ पाठकों पर छोड़कर हमने यथासंभव 'मनन' की भूमिका को दर्शाने का प्रयास किया है।

भावी शोध-कार्य हेतु सुझाव :

वर्तमान शोध प्रबन्ध में 'अद्वैत वेदान्त में मनन की भूमिका' को प्रस्तुत किया गया है। स्वमत के प्रतिपादन में कदाचित् परमत का खण्डन करना अपरिहार्य हो जाता है। समय एवं साधन की सीमाओं के कारण यह अध्ययन सीमित ही है। अतएव, अद्वैत वेदान्त में 'मनन' का विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है। इस संदर्भ में निम्नलिखित शीर्षकान्तर्गत शोध-प्रबन्ध लिखा जा सकता है-

1. अद्वैत वेदान्त में परमतत्व की सिद्धि में मनन की भूमिका।
2. शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन में अभेदवाद की स्थापनार्थ मनन की महत्ता
3. शंकर के दर्शन में श्रुति एवं मनन की तुलनात्मक उपादेयता।
4. अद्वैत विरोधी मतों के खण्डन में मनन की भूमिका।
5. निदिध्यासनोपलब्धि में मनन की भूमिका।
6. महादेवानन्द सरस्वती के 'श्रवण निरुपण' में मनन की भूमिका।

---

1 शंकरकृत सनत्सुजातीय भाष्य 2/6 और गीताभाष्य 2/17 तस्माद् गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेणापि श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणा आत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद् दर्शनितुम् शक्यः।

7. अद्वैत वेदान्त की प्रमाण-मीमांसा एवं मनन की उपादेयता इत्यादिं।

अद्वैत वेदान्त के संस्थापक के रुप में शंकराचार्य अग्रणी अवश्य हैं। निःसंदेह शंकराचार्य अद्वैत वेदान्त के सर्वस्व है, फिर भी अद्वैत वेदान्त की परम्परा में सुरेश्वराचार्य, विद्यारण्य स्वामी, चित्सुख वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्म मुनि आदि कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस शांकर शिष्य-परम्परा में 'मनन' की भूमिका को शोध के माध्यम से दर्शन-जगत् को बहुत कुछ दिया जा सकता है।

वर्तमान जगत् में अद्वैत वेदान्तिक शिक्षा के विकास में 'मनन' की भूमिका पर शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है जिसमें वर्तमान परिस्थितियों में व्याप्त प्रतिमा पलायनता, कुसंस्कारता को दूर करने के लिए 'मनन' की प्रयोग-विधि बतलायी जा सकती है। 'मनन' किस प्रकार और क्यों? इस विषय पर शोध करके वर्तमान युगीन समकालीन दर्शन में एक नया अध्याय जोड़ा जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(क) संस्कृत-ग्रन्थ :

1. अथर्ववेद संहिता, सनातन धर्म यन्त्रालय, मुरादाबाद, सं0 1987 ।
2- अग्नि पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
3- अद्वैतसिद्धि (मधुसूदन सरस्वती कृत) निर्णय सागर, बम्बई, 1917।
4- अद्वैत चन्द्रिका (सुदर्शनाचार्य कृत) महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित, मद्रास, 1920।
5- अपरोक्षानुभूति (शंकराचार्य कृत)गीता प्रेस गोरखपुर, सं0 2017।
6- आत्मबोध (शंकराचार्य कृत) रामा स्वामी शास्त्रुलु एण्ड संस, एस्प्लेनेड मद्रास, 1920।
7- आत्मानात्म विवेक - चौखम्बा संस्कृत ग्रंथ माला, वाराणसी, 1950।
8- उपदेश-साहसी (शंकराचार्य कृत्) भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, वाराणसी- 1,1954।
9- ऋग्वेद संहिता (सायण भाष्य) वैदिक संसोध्न मण्डल, पूना- 9, 1972।
10- ऐतरेयोपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2025
11- ऐतरेय ब्राह्मण, वाणी विलास संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
12- ऐतरयारण्यक, वाणी विलास संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
13- ऐतरयारण्यक, वाणी विलास संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
14- केठोपनिषद् (शंकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 2028।
15- कृष्ण्यजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक, वाणी विलास संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
16- कैवल्योपनिषद्, वाणी विलास संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
17- गरूड पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
18- चिद्गगन चन्द्रिका (कालिदास कृत) आगमानुसंधान समिति, कलकत्ता, 1937।
19- चातुर्वर्ण्य संस्कृति विमर्शः (स्वामी करपात्री कृत) धर्मसंघ दुर्गाकुण्ड. वाराणसी 1976।
20- छान्दोग्योपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 2028।
20- तत्वप्रदीपिका (चित्सुखाचार्य कृत), षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठानम्, वाराणसी, 1974।
21- तैत्तिरीयोपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2029।
22- तैत्तिरीयसंहिता (कृष्ण यजुर्वेदीय सायणभाष्य), श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, 1981 ।
23- तैत्तिरीय ब्राह्मण, वाणी विलास संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी,1942।
24- दशश्लोकी (शंकराचार्य कृत) चौखम्बा, वाराणसी, सं0 1985।
25- दृग्दृश्य-विवेक (भारती तीर्थ कृत) बुद्धि सेवाश्रम, रतनगढ, सं0 2011।
26- दुर्गासप्तशती, गीता-प्रेस, गोरखपुर. सं0 2032।
27- दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, रामास्वामी शास्त्रुलु एण्ड संस, एस्प्लेनेड, मद्रास, 1920।
28- नृसिंहतापनीयोपनिषद् (शांकर भाष्य) वाणी विलास संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
29- निघंटु, वाणी विलास, संस्कृत-ग्रन्थमाला. काशी, 1942।
30- निरूक्त. वाणी विलास, संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
31- न्यायसूत्र- गौतम
32- न्याय भाष्य- वास्यायन

33- न्याय कुसुमाञ्जलि- उदयनाचार्य -
34- पद्मपुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
35- प्रश्नोत्तरी (शंकराचार्यकृत) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 2026।
36- प्रश्नोपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं02026।
37- पंचतन्त्रम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, 1968।
38- पंचदशी (विद्यारण्य कृत) बुद्धिसेवाश्रम, रतनगढ, सं0 2011।
39- ब्रह्म पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास 1956।
40- ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
41- ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य) स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, सं0 2028।
42- ब्रह्मसिद्धि (मण्डन मिश्र कृत) निर्णय सागर, बम्बई, 1917।
43- ब्रह्मविद्याभरण (अद्वैतानन्द कृत)बी0 जी0 पाल एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1950।
44- भामती (वाचस्पति मिश्र कृत) निर्णय सागर, बम्बई, 1917।
45- भविष्य पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
46- महानारदीय पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
47- मार्कण्डेय पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
48- महाभारत, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1965।
49- माण्डूक्योपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 2013।
50- माण्डूक्यकारिका (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस गोरखपुर, सं0 2030।
51- मानमेयोदय, अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थावली, काशी, 1912।
52- मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सं0 2036।
53- यजुर्वेद संहिता (उवटमहीधरभाष्य) मोतीलाल, बनारसीदास, जवाहर नगर, दिल्ली, 1917।
54- रत्नप्रभा टीका(गोविन्दानन्द कृत) निर्णयसागर, बम्बई, 1917।
55- बृहदारण्यकोपनिषद्(शांकर-भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं02029।
56- बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक (सुरेश्वराचार्य कृत) गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
57- वेदान्त परिभाषा (धर्मराजाध्वीन्द्र कृत) कल्याण, बम्बई, सं0 1999।
58- विष्णुसहस्रनाम (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 2028।
59- वाजसयेनी संहिता, वाणी विलास, संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी 1942।
60- वामन पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
61- वराह पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
62- विष्णु पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास 1956।
63- विवेक चूडामणि (शंकराचार्य कृत) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 20 0।
64- वाक्य सुधा (शंकराचार्य कृत) दामोदर शास्त्री सम्पादित, बनारस, 1901।
65- वेदस्वरूप विमर्शः (स्वामी करपात्री कृत) धर्मसंघ दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, 1976।
66- वेदार्थपारिजात (स्वामी करपात्री कृत) श्री राधाकृष्णधानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1979।
67- वेदान्तसार (सदानन्द कृत) साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ शहर, 1964।
68- व्यास शिक्षा, वेदमीमांसानुसंधान केन्द्र, वाराणसी, 1976।

33- न्याय कुसुमाञ्जलि- उदयनाचार्य -
34- पद्मपुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
35- प्रश्नोत्तरी (शंकराचार्यकृत) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 2026।
36- प्रश्नोपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं02026।
37- पंचतन्त्रम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, 1968।
38- पंचदशी (विद्यारण्य कृत) बुद्धिसेवाश्रम, रतनगढ, सं0 2011।
39- ब्रह्म पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास 1956।
40- ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
41- ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य) स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, सं0 2028।
42- ब्रह्मसिद्धि (मण्डन मिश्र कृत) निर्णय सागर, बम्बई, 1917।
43- ब्रह्मविद्याभरण (अद्वैतानन्द कृत)बी0 जी0 पाल एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1950।
44- भामती (वाचस्पति मिश्र कृत) निर्णय सागर, बम्बई, 1917।
45- भविष्य पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
46- महानारदीय पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
47- मार्कण्डेय पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
48- महाभारत, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1965।
49- माण्डूक्योपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 2013।
50- माण्डूक्यकारिका (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस गोरखपुर, सं0 2030।
51- मानमेयोदय, अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थावली, काशी, 1912।
52- मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सं0 2036।
53- यजुर्वेद संहिता (उवटमहीधरभाष्य) मोतीलाल, बनारसीदास, जवाहर नगर, दिल्ली, 1917।
54- रत्नप्रभा टीका(गोविन्दानन्द कृत) निर्णयसागर, बम्बई, 1917।
55- बृहदारण्यकोपनिषद्(शांकर-भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं02029।
56- बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक (सुरेश्वराचार्य कृत) गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
57- वेदान्त परिभाषा (धर्मराजाध्वीन्द्र कृत) कल्याण, बम्बई, सं0 1999।
58- विष्णुसहस्रनाम (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 2028।
59- वाजसयेनी संहिता, वाणी विलास, संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी 1942।
60- वामन पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
61- वराह पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
62- विष्णु पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास 1956।
63- विवेक चूडामणि (शंकराचार्य कृत) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 20 0।
64- वाक्य सुधा (शंकराचार्य कृत) दामोदर शास्त्री सम्पादित, बनारस, 1901।
65- वेदस्वरूप विमर्शः (स्वामी करपात्री कृत) धर्मसंघ दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, 1976।
66- वेदार्थपारिजात (स्वामी करपात्री कृत) श्री राधाकृष्णधानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1979।
67- वेदान्तसार (सदानन्द कृत) साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ शहर, 1964।
68- व्यास शिक्षा, वेदमीमांसानुसंधान केन्द्र, वाराणसी, 1976।

69- शंकर विजय (व्यासाचल कृत) मद्रास गवर्नमन्ट ओरियन्टल मैन्यूस्क्रीप्ट्स सीरिज-24, 1954
70- श्री शंकर दिग्विजय (माधव कृत) श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, सं0 2000।
71- श्रीमद्भगवद्गीता, शांकर-भाष्य, गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 2008।
72- श्वेताश्वेतरोपनिषद्, शांकर भाष्य, गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं02008।
73- शतपथ ब्राह्मण, वाणी विलास, संस्कृत ग्रन्थमाला, काशाी, 1942।
74- श्रीमद्भागवत पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
75- शिव संहिता, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं0 2008।
76- शंकर विजय (आनन्दगिरी कृत) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1917।
77- श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण गन्थ संग्रह:-सम्पादक एच0 आर0 भगवत्, पूना शहर, 1925।
78- सिद्धान्तलेश संग्रह (अप्पदीक्षित कृत) अच्युत ग्रन्थमाला काशी, सं0 2011।
79- सिद्धान्तबिन्दु (मधुसूदन सरस्वती कृत) अच्युत ग्रन्थमाला काशी, 1932।
80- सर्वदर्शन-संग्रह (माधवाचार्य कृत) अच्युत ग्रन्थमाला काशी, सं02011।
81- सौन्दर्य लहरी (शंकराचार्य कृत) श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी, संन्यास आश्रम, नारायण कुटी देवास (मध्य प्रदेश), सं0 2015।
82- स्कन्द पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
83- सामवेद संहिता, स्वाध्याय मंडल, औन्ध नगर (सतारा प्रदेश), सं0 1996।
84- सकलाचार्यमत संग्रह (रत्नगोपाल भट्ट द्वारा सम्पादित) चौखम्बा, बनारस, 1960।
85- स्तोत्र रत्नावली, गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 2022।
86- संक्षेप शारीरकम् (सर्वज्ञात्ममुनि कृत), वेद मन्दिर, अहमदाबाद, सं0 2014

(ग) अंगेजी के ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ आदि :

1. Cunningham, G.M.. Problems of Philosophy, New York, Henry Holt & Co., 1924.
2. Campbell, C.A., selfhood & Godhood (Philosophical) Allen & Unwin 1957.
3. Carl Capller, Sanskrit English Dictionary, London, 1890
4. Das Gupta, S.N. , Indian Philosophy Vol. I, Cambridge University Press 1951.
5. Deusen, Pal The Philosophy of Vedanta, Sushila gupta, Calcutta, 1957.
6. Demos, Rapheel, The Philosophy of Plato, New York Charles Scribner's sons, 1939.
7. Descartes, Rene, Discourse on Method, Translated by John Veitch Ca Salle, ill, The Open Court Publishing Co. 1945.
8. Fichte, J.G. Addresses to the German Nation. Translated by R.F. Janer and G.N. Turntill, The open Court Publishing Co. London 1922.

9. Huxley, Aldous - Ends & Means, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1952.
10. Horne, H.H., The Psychological Principles of Education, New York, The MacMillan Co., 1908.
11. Hegal, G.W.F., Lectures on the Philosphy of Religion, Translated by E.B. Speirs and J.B.Sanderson London, Kegan Pual, Trench, Trubner & Co., Ltd., 1895.
12. Hocking, William E., The Self, its Body and Freedom, New Haven. yake uni. Press, 1928.
13. Malkani Ghanshyam Ratanmal - Vedautic Epistemology, Hindi Translation by S.S.P. Pandey Published by Madhya Pradesh Hindi Granth Academy, Bhopal, 1973.
14. PAndey Sangam Lal - Pre Shankar Advait Philosophy, Darshan Peeth, Allahabad.

(ख) हिन्दी ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएं आदि :

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय - भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी-5, 1971।
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय- श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1963।
3. उमादत्त शर्मा- शंकराचार्य, कलकत्ता, सं0 1983।
4. उमेश मिश्र- भारतीय दर्शन- हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1964।
5. गंगा पसाद उपाध्याय, अद्वैतवाद, कला प्रेस, प्रयाग, 1971।
6. (डा0) देवराज- भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1950।
7. पाण्डेय संगमलाल- शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, दर्शनपीठ, इलाहाबाद, 2002।
8. पाण्डेय संगमलाल- भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1985।
9. पुरुषोत्तम नागेश ओक- 'भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें', कौशल पाकेट बुक्स, दिल्ली-7, 1961।
10. (डा0)भीखनलाल आत्रेय- योग वाशिष्ठ और उनके सिद्धान्त, तारा प्रिन्टिग वर्क्स, बनारस, 1957।
11. डॉ0 मृदुला आर0 प्रकाश- दार्शनिक चिन्तन-प्रवाह, किताब महल 2002, इलाहाबाद।
12. डॉ0 मृदुला आर0 प्रकाश- समकालीन भारतीय भौतिकवाद, किताब महल 2001, इलाहाबाद।
13. पं0 माधवाचार्य शास्त्री- परतत्वदिग्दर्शनम्, 103 ए, कमला नगर, दिल्ली सं0 2020।
14. पं0 माधवाचार्य शास्त्री- वेद दिग्दर्शन, 103 ए, कमला नगर, दिल्ली, सं0 2030।
15. पं0 माधवाचार्य शास्त्री- धर्मदिग्दर्शन, 103 ए, कमला नगर, दिल्ली सं0 2020।
16. (डा0) राममूर्ति शर्मा- शंकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1964।
17. (डा0) राममूर्ति शर्मा, अद्वैत वेदान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज, दिल्ली-6 1972।
18. (डा0) रामानन्द तिवारी- श्रीशंकराचार्य का आचार-दर्शन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं0 2006।

19. (डा0) राधाकृष्णन्- प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, 1970।
20. (डा0) राधाकृष्णन्- भारतीय दर्शन भाग-2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, 1969।
21. विवेकानन्द संचयन- श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1974।
22. विनोबा- उपनिषदों का अध्ययन, सस्ता साहित्य मण्डल, 1961।
23. स्वामी करपात्री- विचार पीयूष, श्री सन्तशरण वेदान्ती, प्रचार मंत्री, अ0भा0 रामराज्य परिषद्, वाराणसी, 1975।
24. स्वामी करपात्री- मार्क्सवाद और रामराज्य, गीता-प्रेस, गोरखपुर, स0 2023।
25. स्वामी करपात्री- भक्ति सुधा, श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1980।
26. स्वामी दयानन्द- सत्यार्थ प्रकाश, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 1971।
27. स्वामी विवेकानन्द- व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1974।
28. स्वामी विवेकानन्द- प्राच्य और पाश्चात्य, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1971।
29. स्वामी विवेकानन्द- शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1971।
30. स्वामी परमान्द- शंकराचार्य का जीवन-चरित्र, खेमराज, बम्बई, 1913।
31. उपनिषद् अंक (कल्याण) गीता-प्रेस, गोरखपुर, जनवरी, 1949।
32. उपनिषद् अंक (विश्व ज्योति) विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर जून-जौलाई, 1976।
33. वेदान्त अंक (कल्याण) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं0 1993।
34. शंकरांक (गीताधर्म) काशी, मई, 1936।
35. श्री धर्मसंघ महाविद्यालय रजत जयन्ती महोत्सव स्मारिका, श्री धर्मसंघ महाविद्यालय दिल्ली रजत जयन्ती महोत्सव प्रबन्धक समिति, निगमबोध यमुना तट, दिल्ली-6, 1973।
36. श्रीवास्तव **प्रो0 जगदीश सहाय**, अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, किताब महल, इलाहाबाद, 1978,।
37. ''सौभाग्य विशेषांक'', श्रीमानव कल्याण आश्रम कनखल (हरिद्वार) 1973।

